विराम चिह्न

[निबन्ध संग्रह]

डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटलरोड, आगरा

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल,
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
अगस्त १९५७
मूल्य ६)

मुद्रक—विनोदकुमार अग्रवाल, भारतीय प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखां, आगरा।

भूमिका

आपके कर-कमलों में "विराम चिह्न" देते हुए मुझे परम प्रसन्नता है। वैसे तो हर नयी पुस्तक के छपने से प्रसन्नना होती है किन्तु इस पुस्तक के छपने से विशेष प्रसन्नता हुई है। इसका एक कारण तो यह है कि जिन लेखों को मैंने संग्रह करने का विचार किये बिना पत्र-पत्रिकाओं में भेजा था, वे सब यहाँ संग्रहीत हैं। दूसरे अधिकांश निबन्ध लघु आकार के हैं जिन्हें सम्पादकों के आग्रह की रक्षा के साथ अपने समय की रक्षा के लिये भी मैं लघु-आकार में ही लिख सका था और अब बाद को देखता हूँ कि लघु-निबन्धों की रचना भी अपने में एक कला है। इस कारण कुछ लंबे निबन्धों को मैंने काट-छाँटकर छोटा भी कर दिया है। इनकी लघुता का विचार करके मैंने पुस्तक का नाम "अर्ध विराम" रक्खा था किन्तु मेरे मित्र घनश्याम अस्थाना और राजनाथ शर्मा ने पुस्तक के महत्व के विचार से "विराम चिह्न" नाम ही पसन्द किया। अपने मित्रों के अनुग्रह की रक्षा के कारण भी मुझे प्रसन्नता है।

कभी-कभी प्रकाशक कहते हैं, पुस्तक का विज्ञापन भी लिख दीजिये। भूमिका में पुस्तक के विषय की चर्चा न हो तो रिव्यू लिखने वालों को भी अड़चन होती है। इसलिये संक्षेप में इस पुस्तक के विषय में निवेदन है कि इसमें एक नहीं नाना विषयों का समावेश है जिससे लेखक की बहुमुखी प्रतिभा—नहीं, प्रतिभा नहीं, बहुमुखी रुचि—का पता चलता है। कुछ निबन्ध गंभीर शैली में हैं—लेखक की दृष्टि में वे गंभीर हैं, आपको जैसे भी लगें। और बहुत से गप्पें हाँकने की शैली में हैं। इनमें हर जगह लेखक के विचार एक से नहीं हैं; कारण यह है कि यहाँ एक लंबी अवधि में लिखे हुए निबन्ध संग्रहीत हैं।

विज्ञापन के अतिरिक्त एक बात पाठक—या लेखक का इतना सौभाग्य हो, तो पाठिका-से आपसदारी में कह दूँ कि मेरे निबन्धों का यह सबसे अच्छा संग्रह है। यह बात दूसरी है कि मेरा कोई भी निबन्ध-संग्रह अच्छा न बन पड़ा हो किन्तु उनमें—अन्धों में काने राजा के समान ही सही—यह "विराम चिह्न" सर्वोपरि है, यह मैं साधिकार कह सकता हूं। आशा है, प्रूफ देखते समय जैसे लेखक का मनोरंजन हुआ था, ये निबन्ध पढ़ते समय आपका भी होगा।

आगरा
३१-७-५७

रामविलास शर्मा

श्री जवाहर चौधरी को

जिनके लिखने के वादे वैसे ही पूरे होते हैं
जैसे कांग्रेसी नेताओं के चुनाव के वादे

विषय-सूची

———

श्रीगणेश

सन् ३४ में मैंने एक उपन्यास लिखा था—'चार दिन'। निरालाजी ने उसे चांद प्रेस भेजने को कहा। प्रकाशकों ने उसे स्वीकृत किया और छपने पर पैसा भेजने का वादा करके मुझसे कापीराइट ले लिया। चार साल बाद 'चार दिन' छपा और मैं पैसों का इन्तज़ार करने लगा। कई बार लिखा और शीघ्र भेजने का आश्वासन मिला। आखिर एक दिन चांद प्रेस दिवालिया घोषित हो गया। मेरे पास इस आशय का पत्र आया—महाशय, आप पुस्तक के लेखक हैं, इसलिए 'चार दिन' का कापीराइट खरीदने का अवसर सबसे पहले हम आपको दे रहे हैं।

मेरे साहित्यिक जीवन का यह श्रीगणेश बहुत ही उपयुक्त साबित हुआ है।

लक्ष्मीवाहन का दिव्य रूप

एक बार रात्रि में जब विष्णु भगवान और लक्ष्मीदेवी शयन कर रहे थे, गरुड़देव उलूकराज से बोले—"हे मित्र उलूक ! संसार में मनुष्य नाम के जन्तु ने तुम्हें मूर्खता का पर्यायवाची माना है, फिर भी भगवान विष्णू की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी ने तुम्हें अपना वाहन चुना, इसका कारण मुझे बताने की कृपा करो।"

उलूक ने प्रसन्न मन से पंख फुलाते हुए उत्तर दिया—"सुनो मित्र गरुड़ ! इस रहस्य को भगवान विष्णु, लक्ष्मीदेवी और मेरे सिवा चौथा कोई नहीं जानता। यह परम गुह्य योग मैं तुम्हें सुनाता हूँ। मेरी विभूतियों का वर्णन सुनकर तुम्हारे ज्ञान के नेत्र खुल जायँगे। मैं ही आत्मस्वरूप करके सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय-कमल में स्थित हूँ। मैं ही मानव-समाज की स्थिति और प्रलय का हेतु हूँ। मैं मनुष्यों के बीच मिनिस्टर हूँ, उद्योगियों में ब्लैक मार्केटियर हूँ, अधिकारियों में रिश्वतखोर हूँ, राजनीतिज्ञों में साम्राज्यवादी हूँ, मुद्राओं में डालर हूं, अस्त्रशस्त्रों में ऐटम बम हूँ, शृङ्गार के प्रसाधनों में लिपस्टिक हूं, साहित्य में प्रयोगवाद हूँ, वृक्षों में धतूरा हूँ, जानवरों में उलूक हूं, उन्चास पवनों में लू हूँ, रसों में वीभत्स रस हूँ, योजनाओं में पंचवर्षीय योजना हूँ, संघों में ब्रिटिश कामनवेल्थ हूँ, सन्धियों में सीटो (दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि) हूँ, और वाहनों में लक्ष्मीवाहन हूँ। हे मित्र गरुड़ ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह तो संक्षेप में उनका रहस्य जानो। जो ऐश्वर्यमान और श्रीमान् लोग संसार का कल्याण करने के लिए निमित्तमात्र होकर जनता को मोक्षधाम पहुँचाते हैं, उन सब को मेरे तेज से उत्पन्न हुआ जानो।"

इस पर गरुड़राज ने चोंच उठा कर कहा—"मेरे ऊपर अनुग्रह

करके जो आपने यह परम ज्ञान प्रकट किया, उससे मेरे मन का भ्रम दूर हुआ। फिर भी आपके ऐश्वर्य के अनुकूल जो आपका आकार है, है, उसको देखने की इच्छा प्रकट करता हूँ। यदि अपने रूप को मेरे देखने योग्य मानते हों तो मुझको अपना अशेष रूप दिखाओ।"

इस पर लक्ष्मीवाहन उलूकराज ने अपने विशाल नेत्र फैलाकर कहा, "हे मित्र गरुड़! अब तुम सैकड़ों और हजारों प्रकार के दिव्य अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त मेरे दिव्य रूप को देखो। किन्तु तुम अपने साधारण नेत्रों से मेरा रूप नहीं देख सकते, सो मैं तुम्हें अपनी अन्धकार-भेदी मर्म दृष्टि देता हूँ। सो अब मेरा रूप देखो।"

तब गरुड़ ने उलूक के शरीर को एक देश में स्थित अनेक प्रकार से जुदा-जुदा देखा। गरुड़ ने देखा कि विशालकाय उलूकराज का एक पंजा वाशिंगटन में है, दूसरा लदंन में, चोंच करांची में है और दृष्टि दिल्ली पर है। उनके गले में सुन्दर माला है जिसमें लाखों डालर और हज़ारों पाउंड स्टर्लिंग चमक रहे हैं। उनके विराट् पंखों में अनगिनत तोपें बँधी हुई हैं जिनमें बायें पंख की तोपों का मुँह मास्को की ओर है और दायें पंख की तोपों का मुँह पेकिंग की ओर। उनके कंठ से बराबर प्रलयकारी गर्जन निकलता है जो बमबाज़ वायुयानों की गड़गड़ाहट है। अन्तरिक्ष में खड़े हुए सैकड़ों किन्नर और गंधर्व उनकी स्तुति कर रहे हैं। इनकी भाषाओं के मेल से तुमुल कोलाहल हो रहा है। चीनी में ऋषि च्यांगकाई शेक, अंग्रेजी में मुनि ईडन, वियतनामी में राजर्षि बाओ दाई, उर्दू में संत मुहम्मद अली, और इसी तरह फ्रांसीसी, पुर्तगाली, थाई, फिलिपिन आदि भाषाओं में अनेक सन्त और महात्मा उनका स्तवन कर रहे हैं।

अब तक रात बीत चुकी थी। आकाश में ऊषा की लालिमा फैलने लगी थी। गरुड़ को दी हुई उलूक दृष्टि का प्रभाव समाप्त हो गया और गरुड़राज ने देखा, उनके सामने वही चिरपरिचित लक्ष्मीवाहन की छोटी सी मूर्ति है। गरुड़राज आँखें मलमल कर सोचने लगे—जो देखा था, सब उलूक माया है अथवा सत्य है!

आकाश में फैलती हुई लालिमा उलूकराज को प्रिय न थी। वह अपने मित्र गरुड़ से बोले—अब मैं लक्ष्मीदेवी की सेवा को जाता हूं। दुष्ट सूर्य नित्य प्रति लाल झंडा लेकर पूर्व में उदय होता है। एक दिन इसे एक सौ नौ में कारागार भेजकर चिरन्तन अन्धकार में आनन्द से विहार करूँगा।

यह कह कर उलूकराज पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गये और गरुड़राज बैठे हुए उनके निशाचरी प्रताप पर विचार करते रहे।

१९५५

तीन लोक से मथुरा न्यारी

जब मथुरा तीन लोक से न्यारी है, तब वह लखनऊ की गुलामी कैसे कर सकती है? भारतीय संस्कृति का नाश करने वालों ने उसे उत्तर प्रदेश में शामिल कर रक्खा है। इस नामाकूल बेडौल राज्य के बँटवारे के पक्ष में यह दलील और है जिसे आप ध्यान में रक्खें।

कर्जन ने सबसे पहले बंगाल के बँटवारे की बात की थी। बंगाली कौम कितनी पिछड़ी हुई है, इसका अन्दाज इसी बात से हो जाता है कि सन् १९०५ में वह जिस बँटवारे का विरोध करती थी, उसी को १९४७ में उसने मंजूर कर लिया। इसलिये खैरियत इसी में है कि बँटवारा आप मंजूर करें, वर्ना कुछ दिन बाद तो उमें मंजूर करना पड़ेगा ही।

सबसे बड़ी बात यह कि बंगाल के बँटवारे की बात अंग्रेजों और लीगियों ने चलाई थी। स्वार्थवश बँटवारा करने में कौन सी बहादुरी है? तारीफ तो तब है कि धर्म एक हो, भाषा एक हो, संस्कृति एक हो, फिर भी बँटवारा किया जाय। इस दृष्टि से उत्तर प्रदेश का विभाजन कितना निःस्वार्थ होगा, आप सोच सकते हैं। इस तरह का निःस्वार्थ काम न तो अंग्रेजों को सूझा था। न मुस्लिम लीगियों को। स्वाधीन भारत की राजनीति ने जो प्रगति की है, उसी से यह संभव हुआ है।

देश में जगह-जगह लोग भाषाओं के आधार पर राज्य बनाने की बात करते हैं। एक भाषा के आधार पर एक राज्य बनाया तो कौन सा बड़ा काम किया? बड़ा काम यह है कि एक भाषा के आधार पर अनेक राज्य बनाये जाएँ। हिन्दी वालों की उदारता देखिये कि दिल्ली, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत आदि को मिला कर एक राज्य बनाने की माँग वे नहीं करते। क्यों नहीं करते? इसलिये कि समस्त हिन्दी वालों का एक राज्य बहुत बड़ा हो जायगा, देश की सुरक्षा खतरे में पड़

जायगी, बेडौल तो वह होगा ही। जरा रूसियों को देखिये। सारे सोवियत संघ में सोलह गण-राज्य हैं लेकिन इनमें अकेला रूसी गण-राज्य मौस्को से लेकर सुदूर व्लादीवस्तोक तक चला गया है। इतनी बड़ी भौगोलिक इकाई स्वयं सोवियत संघ के लिये खतरा है, यूरोप की सुरक्षा के लिये तो और भी है। रूसियों को चाहिये कि इस विषय में उत्तर प्रदेश का विभाजन चाहने वालों से सबक लें और रूसी गणराज्य को कम से कम पांच हिस्सों में और बाँटें। (विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि रूस के प्रधान मंत्री बुल्गानिन और उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री पालीवाल में इस विषय पर शीघ्र ही वार्त्ता होने वाली है।)

हम जो उत्तर प्रदेश का बँटवारा चाहते हैं, न केवल रूसियों से उदार हैं, निःसन्देह हम पड़ोसीं चीन से भी इस मामले में उदार हैं। साठ करोड़ चीनियों ने इतने बड़े देश में दस पाँच राज्य भी नहीं बनाये। शासन की सुविधा के लिये उन्होंने चीन को दो हिस्सों में बांट रक्खा है। मतलब यह हुआ कि लगभग तीस करोड़ जनता शासन के एक केन्द्र के नीचे है। चीन के लोग इन्सानी पैदावार भी बहुत तेजी से बढ़ाते हैं। अब सोचिये, एक ही गणराज्य के अन्दर, या शासन के एक ही केन्द्र के नीचे तीस करोड़ आदमी रख कर, पड़ोसी चीन कैसे तरक्की कर सकता है ? अगर पाँच करोड़ आवादी का भी एक सूबा बनायें, तो भी चीन में बारह गणराज्य होने चाहिये। आशा है, पड़ोसी चीन इस बात पर ध्यान देगा।

हम निःस्वार्थ भाव से उत्तर प्रदेश का विभाजन चाहते हैं। पत्रिकर महोदय को जरा भी दहशत में नहीं रखना चाहते कि हिन्दी वालों की एकता से अहिन्दियों को खतरा हो। चार सूबे मिलाकर मध्य-भारत बनाया गया, हम इसका भी विरोध करते हैं। चार राज्यों के हिन्दीवाले मिलकर एक राज्य बना लेंगे तो इससे भी इनके अन्दर "हम हिन्दी भाषी एक हैं", यह चेतना फैलेगी। इसलिये हम चाहते हैं, मध्य-भारत का बेडौल सूबा न बने और उत्तर-प्रदेश के भी दो हिस्से किये जाएँ।

बेकारी का जमाना है। वैसे ही पढ़े-लिखे बेकार सरकार को परेशान किया करते हैं, अब राजनीतिक नेताओं की बेकारी और बढ़ने वाली है। चार राज्यों की जगह एक राज्य बना—मध्य-भारत। अब सोचिये, कितने मन्त्री, उप-मन्त्री, पार्लमेंटरी सेक्रेटरी आदि बेकार हुए। कहीं सभी हिन्दी वालों को मिला कर एक राज्य बना, तो बेकार राजनीतिक नेताओं की बाढ़ आ जायगी और यह बात अपने आप में देश के लिये एक बड़ा खतरा बन जायगी। इसलिए हिन्दी वालों का एक राज्य बनाया जाय, यह विचार तो मन में लाइये ही नहीं। भाषा के हिसाब से प्रान्त बनें, यह सिद्धान्त कम से कम हिन्दी वालों के लिये तो गलत है। हमारा सुझाव है कि नेताओं में ज्यादा बेकारी बढ़ाने के बदले जो बेकारी उनमें पहले से फैली हुई है, उसे दूर किया जाय। उत्तर-प्रदेश के बँटवारे से कुछ भूतपूर्व मन्त्री आदि धन्धे से लग जाएँगे, इसमें किसे सन्देह हो सकता है?

अस्तु! अक्लमन्द के लिये इशारा काफी है। भलाई इसी में है कि इस राज्य का बँटवारा कर दीजिये। वर्ना याद रखिये, मथुरा तीन लोक से न्यारी है। पाकिस्तान की तरह वह भारत से न्यारी हो गई तो आप क्या कर लेंगे?

१९५५

डलेस की भारत-संबन्धी रिपोर्ट

जिस समय डलेस हवाई जहाज की खिड़की से झाँक कर ताजमहल देख रहे थे, उस समय उनकी जेब से यह रिपोर्ट गिर पड़ी थी। यह रिपोर्ट भारत सम्बन्धी है और सीटो की गुप्त बैठक में पढ़ी गई थी। उसका सारांश हम यहाँ दे रहे हैं।

भारत में कम्युनिज़्म का खतरा कितना बढ़ गया है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। सीटो की ताकतों को इस पर तुरत ध्यान देना चाहिये वर्ना पाकिस्तान का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा। पाकिस्तान के खतरे में पड़ने का मतलब है, अमरीका खतरे में पड़ा जिसका मतलब है सारी दुनियाँ खतरे में पड़ी। पाकिस्तान की हुकूमत अगर यह समझती है कि हिन्दुस्तान उस पर हमला करेगा तो यह शक विलकुल ठीक है। हिन्दुस्तान के लोगों का एक गीत है जन गन मन। इसमें हिन्दुस्तान के सूबों में पंजाब, सिन्ध और बंगाल का नाम भी आता है। सोचने की बात है कि अब हिन्दुस्तान में सिर्फ आधा पंजाब और आधा बंगाल है। फिर भी गीत में पूरे पंजाब और पूरे बंगाल का हवाला है। यह गीत रवीन्द्रनाथ नाम के एक कवि ने लिखा था। वह पाकिस्तान का ज़बर्दस्त दुश्मन था, इसलिए उसने पंजाब, सिन्ध और बंगाल को अपने देश में गिना है। रवीन्द्रनाथ नाम का यह कवि रूस भी गया था। वहाँ से उसने हिन्दुस्तान के कम्युनिस्टों को एक चिट्ठी लिखी थी जो रूस की चिट्ठी के नाम से छपी है। इस चिट्ठी को जो भी पढ़ेगा, उसे फौरन पता चल जायगा कि रवीन्द्रनाथ रूस का एजेन्ट था। ऐसे आदमी को नोबल प्राइज दिया गया जिससे जाहिर है कि उसकी मदद करने वाला एक अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट गुट था। अफसोस की बात है कि अब वह दुनियाँ में नहीं है, वर्ना हम उसे अमरीका-विरोधी कार्यवाही की जाँच करने वाली

कमेटी के सामने पेश करते। हिन्दुस्तान के लोग उसी का बनाया हुआ गीत गाते हैं जो साबित करता है कि कम्युनिस्टों के कल्चरल फ्रंट का असर सारे हिन्दुस्तान में है। जब हिन्दुस्तान का प्रधान मंत्री नेहरू रूस गया था तब उसके स्वागत में रूसी कम्युनिस्टों ने अपना गीत गाया और रवीन्द्रनाथ का जन गन मन भी गाया। इससे भी साफ जाहिर है कि रवीन्द्रनाथ के गीत में कम्युनिज्म का ही प्रचार किया गया है।

हम लोग कम्युनिस्टों को 'रेड़' कहते हैं। हिस्दुस्तान की ज़बान में इसे लाल कहते हैं। सुना है कि पहले हिन्दुस्तान में एक राजा था जिसका नाम लालबुझक्कड़ था। हिन्दुस्तान में हमने जो गुप्त रिसर्च-सेंटर कायम किये हैं, उन्होंने मुझे खबर दी है कि इस राजा के बारे में सैकड़ों कहानियाँ गाँवों में कही जाती हैं। यह राजा रूसी कम्युनिस्ट लीडर लेनिन से बहुत पहले पैदा हुआ था। इससे आप समझ सकते हैं कि हिन्दुस्तान में कम्युनिज्म का प्रचार कितने दिन से हो रहा है। जब रूस में भी कम्यु-निज़्म न आया था, तब से कम्युनिस्ट एजेन्ट हिन्दुस्तान में अपना काम कर रहे हैं। और यह काम किस्से कहानियों के जरिये गाँवों तक में फैल गया है। यह सबसे खतरनाक बात है। बैंकाक में हम सीटो का जो रिसर्च सेंटर कायम करेंगे, उससे और भी ऐसी बातों का पता चलेगा।

हिन्दुस्तान में एक देवता की पूजा की जाती है जिसका नाम हनूमान है। लोग इसकी मूरत को लाल रंग से रंग देते हैं। इससे जाहिर है कि हनूमान भी कम्युनिस्ट था। सुना है कि उसने राम का जासूस बनकर लंका में आग लगा दी थी जो इस बात का सबूत है कि कम्युनिस्ट बहुत पहले से तोड़फोड़ और आग लगाने का काम करते आये हैं। जहाँ-जहां हनूमान की मूरत होती है वहाँ-वहाँ लाल झण्डा भी लगा रहता है। उसके कम्युनिस्ट होने का इससे अच्छा सबूत और क्या होगा?

हिन्दुस्तान की औरतों में कम्युनिज्म का बहुत प्रचार है। जब इनकी शादी हो जाती है तब वे अपने सिर के बीच में बालों को अलग करके लाल रंग लगाती हैं। इतना ही नहीं, जब इनके यहाँ कोई त्योहार होता है, तब पैरों में लाल रंग लगाती हैं जिसे हिन्दुस्तानी ज़बान में महावर

कहा जाता है।

कोई ताज्जुब नहीं कि हिन्दुस्तान के लोगों ने जवाहर लाल को अपना लीडर बनाया है। इसके नाम में 'लाल' लगा है जिसके माने रेड हैं। मैं बहुत पहले से कहता रहा हूं कि जवाहरलाल छिपा हुआ कम्युनिस्ट है। दरअसल वह छिपा नहीं, खुला कम्युनिस्ट है क्योंकि उसका नाम ही पुकार-पुकार कर कह रहा है कि वह कम्युनिस्ट है। उसका बाप भी कम्युनिस्ट था जैसाकि उसके नाम मोती 'लाल' से जाहिर है। हिन्दुस्तान में बहुत लोग नाम के साथ लाल लगाते हैं। यानी कम्युनिस्ट होना वहाँ एक फैशन है। मिसाल के लिये एक नाम देखिए सुन्दरलाल। यह अपने को गाँधी का चेला कहता है लेकिन चीन से दोस्ती करने की सोसायटी का प्रेसीडेन्ट है। वह अभी रूस भी गया था। यह बुड्ढा चीन, रूस और हिन्दुस्तान के कम्युनिस्टों के बीच खबरें पहुँचाने का काम करता है।

हिन्दुस्तान की पुलिस आम तौर से लाल पगड़ी पहनती है। यह सब नेहरू के इशारे पर होता है।

हिन्दुस्तान में एक त्योहार मनाया जाता है जिसे होली कहते हैं। इस त्योहार में सब लोग अपना मुँह लाल कर लेते हैं और एक दूसरे के कपड़ों तक को लाल कर देते हैं। यह कम्युनिज्म के पक्ष में एक तरह का मास डिमौंस्ट्रेशन (mass demonstration) होता है। सीटो की इस मीटिंग के बाद कुछ दिन में यह त्योहार मनाया जायगा। कोई ताज्जुब नहीं कि उस वक्त हिन्दुस्तान पाकिस्तान पर हमला कर दे। इसलिए मेरी राय में हम लोगों को चाहिये कि कश्मीर के मसले पर यहाँ विचार करें। कश्मीर पर हमला करने के लिए अमरीका पूरी तरह हथियार भेजने के लिए तैयार है। पाकिस्तान की सरकार को दिलेरी से काम लेना चाहिए। हम उसकी मदद करेंगे। गोआ और कश्मीर हमारे

दोस्त हैं और रहेंगे। पाकिस्तान ने कश्मीर के थोड़े हिस्से पर कब्जा किया है। उसे चाहिए कि पूरे कश्मीर पर कब्जा जमा ले। इससे नेहरू की अकल जरा ठिकाने आ जायगी। एशिया के इस हिस्से में कम्युनिज़्म को रोकने और 'वर्ल्ड पीस' की हिफाजत करने का यही एक तरीका है।

१९५६

हिन्दी साहित्य में हास्य

आज कल हिन्दी में जिस रस की सबसे ज्यादा किताबें लिखी जा रही हैं, वह हास्यरस है। यह बात दूसरी है कि लिखने वाले उसे करुण या वीर रस समझते हों। लेकिन जब उनकी शैली हास्यास्पद लगे तब उसे हास्यरस के अन्तर्गत रखना ही ठीक समझा जायगा।

हमारे एक साहित्यकार मित्र का, जो हर महीने लगभग २ पुस्तकों की सृष्टि करते हैं, लिखने का ढंग ऐसा है कि पहले २००-३०० पन्नों की गड्डी बना लेते हैं। फिर चौथे-दसवें-पचासवें-सौवें-एक-सौ-पचीसवें आदि सफों पर एक-एक दो-दो पैराग्राफ लिख देते हैं। यह उनकी किताब का ढाँचा हुआ। फिर इस ढाँचे में रंग भरना शुरू करते हैं। होली के रंगे हुए कपड़े आपने देखे हैं—रंगरेज के रंगे हुए नहीं, जनता के रंगे हुए, लाल, पीले, हरे, नीले, कहीं कीचड़ का रँग, कही बदरँग। आज कल जनतंत्र का ज़माना है, इसलिए हमारे लेखक-मित्र भी उसी तरह जगह-जगह ढाँचे में रंग भरते चलते हैं, उसमें सामञ्जस्य हो चाहे न हो। सबसे पहले ध्यान उसके आकार-प्रकार पर होता है। इस पद्धति से अभी उन्होंने भारतीय संस्कृति के इतिहास पर एक मोटी पोथी लिखी है। इसमें अध्यायों का परस्पर सम्बन्ध तो कुछ समझ में आता है क्योंकि उन सभी का सम्बन्ध भारतीय संस्कृति से है लेकिन पैराग्राफ, वाक्य, शब्द सब एक दूसरे से टकराते नज़र आते हैं। एक बुजुर्ग लेखक का कहना याद आता है कि कुछ लेखकों को शब्दों और भावों का अपच हो जाता हैं और तब वे मदारी के गोलों की तरह एक दूसरे के बाद निकलते चलते हैं। तब क्रम-भंग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

ऐसी पुस्तकें हास्यरस की अनमोल पुस्तकें होती हैं। इसीका प्रभाव है कि एक सेठजी ने जिनके घर में बहुत सी अनमेल और अनमोल

बीबियाँ हैं, इस पुस्तक पर एक पुरस्कार भी दे डाला है।

इस उपलक्ष में लेखक को बधाई देने के लिए जब एक सभा हुई, तब एक बिगड़े दिल बोले—'पुरस्कार खूब दिया है। पुस्तक पर पुरस्कार वैसे ही सुशोभित है जैसे गोबर पर रसगुल्ला।'

पुरस्कार की बात करते समय एक दूसरे प्रकाशक कवि-कलाकार की याद आई। उन्होंने किसी ज़माने में कुछ दोहे रचे थे। लोग कहते थे कि वे उनके दोस्तों के रचे हुए हैं। लेकिन उनका दावा था कि अगर उन्हें फारिग होने की जगह बन्द कर दीजिए तो वहाँ भी वे दोहे रच डालेंगे। उनके दोहों में जो सौन्दर्य था, उससे इस बात पर विश्वास भी हो जाता है। जितने संस्करण उनके दोहों के हुए, उतने ही संस्करण उन पर मूल्यवान सम्मतियों के भी। क्या मजाल कि कोई भी हिन्दी का आचार्य या स्वनामधन्य लेखक छूट जाय ? उस पुस्तक ने सम्मतियां इकट्ठा करने का रिकार्ड कायम किया। उस पर भी पुरस्कार मिला। जब विवाह-विज्ञापन के लिए उनका चित्र छपा तो किसी ने उसके नीचे लिखा था, 'दो सौ दोहों पर मिले दो हजार उपहार'। इस पंक्ति की ध्वनि सार्थक है। लेकिन उपहार की तुक ने जरा मज़ा किरकिरा कर दिया। अब आप हिसाब लगाइये कि दो सौ दोहों पर २ हजार मिले तो फी दोहा कितने पड़े ? बात असल में यह है कि साहित्य-साधना करनी चाहिये, उपहार मिले चाहे न मिले। और खुदा जब देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है। देखिये ६० साल के कवि 'प्राचीन' जी और उपहार में मिली नवोढ़ा या षोडषी। बेचारे बहुत दिन से 'वहां है' की टेर लगा रहे थे। नौजवानों को पानी पी-पीकर कोस रहे थे कि उन्होंने न जाने कौन-से अल्लम-गल्लम वादविवाद चला कर हिन्दी का सत्यानाश कर दिया है, जिसका नतीजा यह कि उनके वाद को कोई पूछता नहीं। आप इस बात को न जानते हों तो परिचय के लिये इतना काफी है कि आसमान की तरफ नजर उठाकर ईश्वर से लौ लगाइये, लेकिन कहीं कबीर की तरह 'कौन पुरुष की नारी झमाझम पानी भरे' दीख पड़ जाय तो उससे पराजित

होकर भागिये नहीं। किसी लेखक का कहना है कि लोभ का सामना करनें के लिए सब से अच्छा तरीका यही है, कि लुभावनी चीज, अपना लीजिए। लोग कहते हैं कि भगवान गरीबों की सुनता नहीं, कवि प्राचीन जी की तरह कोई सच्चे हृदय से भगवान का स्मरण करे तो देखे कि उसे क्या-क्या मिलता है ? मगवान तो क्या भगवती भी उनपर कृपा करने लगती हैं। हम तो यही मानते हैं कि जैसे प्राचीन जी के दिन बहुरे वैसे सब बन्धुओं के बहुरें।

जनाब ! भारत स्वतन्त्र हुआ। विधुर या बेविधुर, बहती गंगा में अब भी हाथ न धोये तो माना जायगा कि आप में ही कोई नुक्स है। क्या करें बेचारे कविवर वसन्तजी ? प्राचीनजी की सी प्रतिभा होती तो उनकी भी इस साल की होली सूनी न जाती। किसी ज़माने में वियोग के गीले गान लिखे जाते थे और नारी के अभाव में स्वयं नारी वेश धारण करने का प्रयत्न किया जाता था। बुढ़ापे के पतझर में उनका उनका वह नारी रूप आज भी किसी झख मारती हुई विधवा का चित्र उपस्थित कर देता है। हाँ, वियोग में नए दर्शन शास्त्र का इजाफा और हुआ। अभी तक लोग कोयल और पपीहे पर गीत लिखते थे, लेकिन कविवर बसन्त जी ने काक और उलूक को भी धन्य कर दिया। उनका कहना है कि इनसे बड़ा दार्शनिक संसार में नहीं होता और अभी तक के कवियों का यह घोर अपराध था कि उन्होंने इन मंगल-सूचक पक्षियों की उपेक्षा की थी। जैसे उपेक्षिता उर्मिला को साकेत के महाकवि मिले, वैसे ही उपेक्षित पक्षिराज काक और उलूक को कविवर वसंत मिले। आप कहेंगे, काक की ध्वनि कर्कश होती है। अरे साहब, सौन्दर्य तो हृदय में होता है। दिल है तो काँव-काँव भी सुहावना लगेगा और नहीं है तो कविवर वसंत की वाणी भी आपको काक पक्षी की सी ध्वनि लगेगी। पहले सयय में जिसे काकोक्ति कहते थे, उसका सम्बन्ध काक से था, यह आपको मालूम है या नहीं ? और रह गया उलूक सो 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। वह संयमी की तरह रात्रि में जागता ही नहीं वरन् दिव्य दृष्टि से अन्धकार में देखता भी है। इसमें सन्देह नहीं कि

कविवर वसन्त जैसे हमारे अनेक कवियों, और कवियों ने ही क्या, हमारे देश के अनेक नेताओं ने भी दिव्य दृष्टि पाई है। उन्हें दिन के प्रकाश में न जनता की भुखमरी दिखाई देती है और न कहीं दीनता और गरीबी के चिह्न दिखाई देते हैं। रात्रि के समय उन्हें अपनी पंचवर्षीय योजना का भव्य प्रकाश दिखाई देता है और इसके साथ वे पच्चीसों कवि, पत्रकार, कलमनवीस दरबारी चारणों की तरह जो नित्य गुण-गान करते रहते हैं, वह सब किसी से छिपा नहीं। ईमान-धर्म की बात यह है कि साहित्य जनता के लिए होना चाहिये और बात ऐसी कही जाय जो समझ में आये, ये सब सिद्धान्त पुराने हो गये। जमाना यह है कि बात ऐसी कहो जिस पर पुरस्कार मिले। अन्नदाता तो खुश होंगे ही और हम जैसे तमाशबीन भी हास्यरस का आनन्द लेंगे। इसीलिए हमने निवेदन किया था कि आजकल हिन्दी साहित्य में हास्य रस की धूम है। आगे चल कर जब कोई इस युग का इतिहास लिखेगा तो उसे हास्यास्पद कृतियों की कमी न रहेगी और उसे यह मानना पड़ेगा कि इस युग में हास्य रस के सराहने वाले गुणग्राहक जितने मिले, उतने पहले कभी न थे। आपने अभी तक ऐसी कोई रचना न की हो तो अब कर डालिये। पुरस्कार देने वालों की कमी न रहेगी। और कोई न मिले तो 'नोंक झोंक' के सम्पादक हाज़िर हैं।

१९५५

दिवाली--लक्ष्मीपूजा !

हर एक त्योहार का सम्बन्ध किसी न किसी देवता की पूजा से होता हैं ; दिवाली का सम्बन्ध लक्ष्मी-पूजा से है । और त्योहारों को देखते हुए दिवाली में आधुनिकता अधिक है । लक्ष्मी की उपासना यों तो सनातन से सब देश, सब काल में होती चली आई है, परन्तु उसका जैसा प्रचार इस बीसवीं शताब्दी में हुआ है, वैसा शायद ही पहले कभी हुआ हो । उस सुनहले युग में, जिस पर कवि गीत रचा करते हैं, जब भारतवर्ष सोने की चिड़िया था, सम्भव है लक्ष्मी की ऐसी ही उपासना होती रही हो । तब वह चिड़िया, जिसका सम्बन्ध श्री लक्ष्मी देवी से है, सोने की बनाकर पूजी जाती होगी । जब इस देश में बाहर के अतिथि आकर अपना उल्लू सीधा करने लगे, तब भी लक्ष्मी या उनकी वाहन उस चिड़िया का महत्व घटा नही । वरंच देशी-विदेशी, सभी अपने घर लक्ष्मी को ढो ले आने अर्थात् उसका वाहन बनने की चिन्ता में लग गये । इसलिए यदि हम इसे ठीक-ठीक अर्थ में राष्ट्रीय त्योहार कहें, तो अनुचित न होगा ।

ऊपर चंचल लक्ष्मी है और नीचे उसके वाहनों में चोंचें लड़ रही हैं, सभी उसका बोझ ढोने को उत्सुक हैं, मनुष्यता से दूर भागकर, दास बन कर उस पक्षी से बाजी मारने को पर फट-फटा रहे हैं जो अपनी विद्या-बुद्धि के लिए विश्व-विख्यात है ।

जैंसी जाति होती है, वैसे ही उसके त्योहार होते हैं । शूरवीरों की सन्तान एक स्थान पर एकत्र होकर खेलकूद, व्यायाम-प्रतियोगिता आदि में भाग लेती है । इसी भारतवर्ष में लोग वीरता की परम्परा बनाये रखने के लिए ऐसे उत्साह से त्योहार मनाते हैं कि टाँगें टूट-टूट जाती हैं और खोपड़ियाँ फूट-फूट जाती हैं । त्योहार ही क्यों, मनचंगा तो कठौती में

गंगा के अनुसार जभी खोपड़ी-फुटौवाल हो गई, तभी त्योहार मन गया शूरवीरों के त्योहार का दिन क्या देखना ? जिस दिन श्री रामचंद्र का अभिषेक हो, वही शुभ दिन, वही शुभ घड़ी !

तात्पर्य यह कि कोई कहे कि तुम्हारे त्योहारों से शूरता, साहस, व्यायामप्रियता नहीं प्रकट होती, तुम लोग एकत्र होकर उत्सव मनाना नहीं जानते, तुम्हारे त्योहारों से तुम्हारा देश-प्रेम नहीं झलकता, तुम्हारे त्योहारों का सम्बन्ध व्यर्थ के हुड़दंग, नाभि से लेकर टेंटुए तक पेट और छाती को कचौड़ी और पेड़ों से ठूँस लेने से अधिक हैं, सभ्यता, उन्नति, संगठन, पारस्परिक प्रेम से कम है तो हम ऐसा कहने वाले की खोपड़ी फोड़कर तुरन्त ही हाथ कंगन को आरसी क्या के अनुसार उसे अपनी शूरता, सभ्यता परस्पर प्रेम-भाव आदि का एक साथ ही ऐसा बेभाव परिचय देंगे कि उसे फिर किसी अभाव का अनुभव ही न हो।

इसलिए निर्द्वन्द्व होकर हम उस काली रात में असंख्य दीपक जला कर अपने श्रेष्ठ देवता लक्ष्मी की पूजा करते हैं, उस धन-संपत्ति की अधिष्ठात्री देवी की, जिसे स्वयं विष्णु भगवान ने वरा था। कलई से पुते हुए घरों में सहस्रों दिये जलाकर हम अपने नगर को स्वर्ग बना देना चाहते हैं। सुना है कि इस प्रगतिशील युग में स्वर्ग में भी बिजली के बल्ब लग गये हैं, इसीलिये धनी श्रेष्ठियों के यहाँ बल्बमालाएं अनेकानेक रंग-रूपों में जाज्वल्यमान होती हैं। बड़ी-बड़ी बहियाँ, जिनमें राष्ट्रीयता का इतिहास लिखा है, निकालकर शुभ चिह्नों से अंकित की जाती हैं और रुपये की थैलियाँ निकालकर उनके सामने ईश्वर-भक्त अपना सिर नवाते हैं। और फिर छक्का-पंजा तो झाड़-फानूस वाले सुसज्जिज प्रकोष्ठों से लेकर गन्दी कोठरियों, गलियों और पुलियों में—सब कहीं एक ही स्वर, एक ही ताल से लोग अपना उत्सव-गीत गाते दिखाई देते हैं। भाग्य का द्वार खूब खटखटाते हैं और ज्यों ज्यों पांसा उल्टा पड़ता है, त्यों-त्यों और अधिक उत्साह से उस खड़खड़ाहट को बनाये रखते है।

जब रात्रि का अन्त होता है और पूर्व दिशा में आभा फैलने लगती है, तब हम भी अपने पर झाड़कर उठ खड़े होते हैं और लक्ष्मी-पूजा समाप्त करके अपने-अपने घोसलों में विश्राम करते हैं।

पता नहीं, स्वर्ग का क्षेत्रफल बड़ा है, या नरक का परन्तु अनुमान से यही जाना जाता है कि स्वर्ग से नरक कहीं अधिक बड़ा होगा। कारण स्पष्ट है; स्वर्ग जाने वालों से नरक जाने वालों की संख्या बहुत अधिक है। जब पाण्डवों को भी, जिनके सहायक स्वयं भगवान कृष्ण थे, कुछ दिन तक नरक की हवा खानी पड़ी तो हम लोगों की विसात ही क्या है! नरक में ही डिटेंशन विदाउट ट्रायल होगा। स्वर्ग और नरक का अनुपात बनाये रखने के लिए देश में जहाँ-जहाँ मनुष्यों की बस्ती है, हम कहीं-कहीं प्रकाश करके स्वर्ग बनाते हैं और कहीं-कहीं अन्धकार बनाये रख कर नरक का उपमान प्रस्तुत करते हैं। बिजली के बल्बों की कौन कहे, मिट्टी के दिये भी महँगे हैं, और तेल पूड़ी बनाने को नहीं है, दियों में कौन जलाये ?

परन्तु यह तो कर्मफल है; जिसने उस जन्म में जैसा किया, वैसा इस जन्म में भोग रहा है। मनुष्यता, संस्कृति...का यह अर्थ नहीं है कि स्वर्ग के पास नरक के वासियों की चिन्ता में हम दुबले हों। ऐसा करना विश्व-नियंता के नियमों का उल्लंघन करना होगा। दिवाली में जिसकी विद्या, बुद्धि और वीरता का दिवाला निकल गया हो, वही ऐसा कर सकता है। हम सच्ची भारतीयता के उपासक है, और यह उपासना अपने लड़के- बच्चों को भी सिखा जायँगे। इसीलिए बोलो, जय लक्ष्मी-देवी की; ये छक्का........

१९४१

नामकरण

लोग कहते हैं—नाम से क्या; काम होना चाहिये। नाम से उनका अभिप्राय, ख्याति, यश, प्रशंसा से होता है परन्तु प्रशंसा में बार-बार जो किसी का नाम लेना पड़ता है, उसी आवृत्ति के प्रभाव से नाम का अर्थ भी व्यापक होकर यश का पर्यायवाची हो गया है। नामकरण संस्करण के अवसर पर कुछ आशावादी पिता सन्तान के उज्ज्वल भविष्य की सूचना देने के लिए बड़ी दूर की कौड़ी लाते हैं; कुछ निराशावादी सज्जन भावी आशंका का वारण करने के लिए पहले ही कल्लू, घसीटे आदि का सहारा लेते हैं। परन्तु आगे चलकर इन नामों की जैसी प्रसिद्धि अथवा अप्रसिद्धि होती है, उससे ९९ प्रतिशत नामकरण पहले की आशा के प्रतिकूल ही सिद्ध होते हैं। यदि नाम रखने वाले को मालूम होता कि मदनमोहन, मोतीलाल, मोहनदास, मुहम्मद अली प्रसिद्ध नाम होंगे तो वह एक बार सोचकर अथवा किसी कवि से पूछकर ऐसा नाम रखता कि लोग नाम की ध्वनि और अर्थ गौरव के साथ नाम रखने वाले को भी स्मरण करते। गौरवयुक्त स्वनामधन्य सज्जन बहुधा अपने कुछ इष्ट मित्रों, कुटुम्बियों की जिह्वा को ही नामोच्चार का आनन्द प्रदान करते हैं।

तीव्र बुद्धि की सन्तान अपना नामकरण स्वयं कर लेती है और बहुधा उस नाम से संस्कार वाले नाम को ढँक लेती है। उलियानौफ, जुगाशविली, शुकेलब्रुगेर—इन नामों से कौन से चित्र अधिकांश मानस-पटों पर अङ्कित होते हैं? लेनिन, स्टालिन, हिटलर कहते ही दाढ़ी, घनी मूँछ और हरिण पुच्छ के चित्र सभी के मानस-पट पर अङ्कित हो जाते हैं! कविगण अपनी कल्पना का उपयोग सबसे पहले नामकरण के लिये करते हैं। मयंक, शशांक, नीरज, दिनेश आदि नाम मनोविश्लेषण के लिये काफी आकर्षक हैं। कवित्त, सवैया लिखने वालों ने 'ईश' पर

विशेष कृपा की हैं—अखिलेश, करुणेश, मिथिलेश, गणेश आदि नाम अपने आचार्य सनेही और हितैषी के सम से बिल्कुल उखड़ गये हैं। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' की तरह लोगों को अपने नाम की ध्वनि भी प्रिय होती है। इसलिये जब माता-पिता के संगीत-ज्ञान से सन्तान को तृप्ति नहीं होती तो वह अपनी तंत्री पर उपनाम की स्वर साधना करती है।

यदि उपनाम के लिये इतना तर्क-वितर्क आवश्यक होता है तो पुस्तक के नामकरण में तो न जाने कितने घड़ी-पल निष्फल चिन्तना में यों ही बीत जाते होंगे। कुछ लोग कहते हैं कि जब तक उन्हें सुन्दर नाम नहीं मिलता, तब तक वे लिख ही नहीं पाते। उनकी सार्थकता निरर्थक नहीं होती क्योंकि पाठक को नाम पसन्द नहीं आता तो वे रामचरित मानस को रामायण कहने में नहीं हिचकते। गो० तुलसीदास ने कविता में विजय पायी लेकिन नाम रखने में चूक ही गये।

सन्तान की अपेक्षा पुस्तकों का नाम अधिक सार्थक हो सकता है। लेकिन यहाँ भी कवि-पिता कम मुगालते में नहीं रहते। छायावादी बड़े नाजुक नाम रखते हैं, पल्लव, परिमल, गुंजन, अणिमा आदि, लेकिन प्रगति का साथ देने के लिए ग्राम्या, कुकुरमुत्ता आदि की भी सृष्टि करते हैं। इनमें मौलिकता है लेकिन देवदास, काशीनाथ, सीताराम जैसे नामों में लेखक ने बला टाली है।

मासिक पत्रों का नाम रखते समय संचालक या सम्पादक अर्थ-गौरव का विशेष ध्यान रखते हैं। सुधा, माधुरी, सरस्वती, वीणा आदि से स्पष्ट है कि वे ग्राहकों को सस्ते दामों दुर्लभ साहित्य-रस भेंट करेंगे। वेंकटेश्वर समाचार, तिरहुत समाचार, परिमल-पराग का विज्ञापन किए विना ही पाठकों को चमत्कृत कर देने का प्रयास करते हैं। पत्रिकाओं और देवियों के नाम बहुधा ऐसे कवित्वपूर्ण रखे जाते हैं कि भेद करना कठिन हो जाता है। 'सुधा' में 'सुधा' की रचनाएँ पढ़ना असंभव नहीं है। उषा नाम तो ऐसा प्रचलित हुआ है कि हर मुहल्ले में एक उषा मिल जायगी और पत्रिकाओं में भी एक उषा जम्मू से प्रकाशित हो रही

है तो दूसरी बिहार से।

देवताओं के नामों का उपयोग जितना पुरुषों ने किया है उतना देवियों ने नहीं, सम्भवतः अपने देवत्व की प्रधानता के विचार से। राम, लक्ष्मण, गणेश, शिव आदि-आदि में एक प्रसाद जोड़ दीजिये, देवत्व पूर्ण नाम बन गया। देवों के नाम पूरे न पड़े तो गिरिजा, सुमित्रा, जानकी आदि देवियों में नन्दन, बल्लभ या कुमार.जोड़कर देवत्वपूर्ण नाम बना डाले गये। शान्ति, सरला आदि अहिंसावादी नामों से पुरुषों को चिढ़ है। वे नाम नहीं तो 'अशान्त', 'कुटिल' आदि उपनाम से अपने बाँकपन का परिचय दे देते हैं। इधर देवियों ने क्रान्ति शब्द के स्त्रीत्व से लाभ उठाकर अपने प्रतिद्वन्दियों के पुरुषार्थ पर पानी फेर दिया है। क्रांतिकुमारी के आगे इन्कलाब प्रसाद पर्दे के पीछे ही रहना उचित समझते हैं। लेकिन क्रान्ति की चर्चा बाद की है; नामों की सामाजिक अथवा देवेतर परंपरा पहले आर्य समाजियों ने डाली थी। वेद, सत्य, प्रकाश की अधिक माँग रही। उसके बाद स्वदेश कुमार और स्वदेशीलाल ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया परन्तु सत्य और (शाश्वत) प्रकाश के आगे देशभक्ति मंद पड़ गई।

अपने गाँव और शहरों के नामों की ओर अभी लोग उदासीन हैं। आगरा, कानपुर, अलीगढ़ की नीरसता का उत्तरदायित्व वे अपने ऊपर नहीं लेते। अकबर महान् के नाम पर 'अकबरपुर' जैसे छोटे-छोटे गाँव ही बसे, बड़े-बड़े नगर नहीं। सोवियत रूस में लेनिन और स्टालिन के नाम के साथ 'ग्राद' जोड़कर जारित्सिन और पेट्रोगाद का उपनाम संस्करण हो गया; बनारस, कानपुर, इलाहाबाद आदि के नामों को भी किसी प्रसिद्ध साहित्यिक या नेता के नाम से नया रूप दिया जा सकता है। सरकारी नौकर खाँ बहादुर या रायबहादुर सड़कों या पार्कों में अपना नाम रखवा लेते हैं साधारणजन अपने मकान में ही अपना या अपनी सन्तान का नाम जोड़कर अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करते हैं। जैसे पुस्तक न छपा सकने पर लेखक पत्रिका में ही अपने नाम के दर्शन से सन्तोष करता है और सन्तोष नहीं होता तो उसे बार-

बार देखता हैं, वैसे ही अपने नाम के साथ भवन या निवास जोड़कर ये लोग संतोष करते हैं।

संसार में जिन भले नामों को इतिहास ने स्मरणीय बनाया है, उनकी संख्या एक करोड़ होगी जो विस्मृति के गर्भ में विलीन होने योग्य स्मरणीय नाम दस करोड़ से अधिक ही होंगे। नाम करने के लिये बदनामी वाला नुस्खा अब भी काम आता हैं। हिटलर, चर्चिल, मुसोलिनी, नैपोलियन के नाम गाँधी और स्टालिन से कम प्रसिद्ध नहीं है। कम से कम पच्छिम के लोगों में शैतान ने ईश्वर से प्रसिद्धि में बाजी मार ली है। भलाई को लोग कम याद करते हैं क्योंकि उसमें नाटकीय आकर्षण कम रहता है। फिर भलाई करने वाले बन्धु ऐसे भले होते हैं कि वे नाम के प्रकाश से दूर भागते हैं। बहुत से महर्षि-कवि मंत्र लिखकर चले गये; वहां उन्होंने 'भूषण भनत' सूत्र नहीं जोड़ा।

लेखकों के लिये यह विचारणीय, विषय है कि उनकी ख्याति या उसका अभाव उनकी प्रतिभा का मापदण्ड नहीं। वह तो उस युग की गुण-ग्राहकता पर प्रकाश भर डालता है।

१९४५

छोटी बहू

आपने बरसात में तालाब के किनारे मेंढक को पेट फुलाये टर्राते हुए– अपनी समझ में वेद पढ़ते हुए—देखा होगा। बाबू नवलराय का हुलिया भी बहुत कुछ ऐसा ही है। वह जब हिटलर की प्रशंसा में स्तोत्र पर स्तोत्र पढ़ते हैं, तब आंखें ब्रह्माण्ड की तरफ कुछ और खिच जाती हैं। कुर्ते के भीतर पेट कुछ और फूल जाता है, नासाग्र-भाग आवेश से कुछ स्फुरित-सा, स्पन्दित-सा होने लगता है। इस सबसे छोटी बहू का क्या सम्बन्ध है, आप आगे देखेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस वर्णन में नमक-मिर्च इतना है कि कोई सज्जन असली साग परखने की कोशिश करेंगे तो धोखा ही खायेंगे।

बाबू नवलराय को हिटलर से इसलिए प्रेम था कि उसने लन्दन पर बम गिराये हैं; इसलिये नहीं कि वह मास्को की यात्रा करके बर्लिन सकुशल लौट आया था वरन् इसलिये कि जर्मनी की आर्य ललनाओं में उसने सच्चे सती-धर्म की प्रतिष्ठा की थी। सती धर्म कितना महान् है, इसे बाबू नवलराय को छोड़कर और कम लोग जानते होंगे। सती का धर्म एक पति की आराधना में तल्लीन होना ही नहीं है। सती धर्म घर की चहारदीवारी के भीतर बन्द रहना भी है। बाबू साहब का कहना है कि स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने वाली कुमारियों के लिये सती होने की सम्भावना ही नहीं रह जाती, इसका उन्हें व्यक्तिगत अनुभव था, वह आप आगे सुनेंगे। सती की व्याख्या में चक्की, चूल्हा, बच्चे-कच्चे पैदा करना है; दफ्तर में नौकरी करना, बन्दूक चलाना, हवाई जहाज पर चढ़ना उसका काम नहीं। वह भविष्यवाणी किया करते थे कि रूस में स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी का दर्जा पा गयी हैं और सभी महकमों में काम करती हैं। इससे जाहिर है कि उस देश का पुरुषार्थ क्षीण हो गया

है। तभी तो पुरुष वर्ग ने चक्की चलाने वाली को जहाज चलाने का मौका दिया। अगर उसमें ताकत होती तो गुलाम को गुलाम की तरह रखता, अर्थात् सती धर्म का यह विनाश न होने देता, इसीलिये रूस की पराजय निश्चित है।

वैसे तो 'शरीरं व्याधि मन्दिरम्' शास्त्र का वचन है और सभी पर लागू होता है लेकिन बाबू नवलराय ने तो जैसे इस शरीर रूपी पिंजड़े में बहुत सी व्याधि रूपी चिड़िया पाल रखी थीं। जहाँ शरीर की यह दशा थी, वहाँ मन में एक व्याधि और लग गई। बाबू नवलराय अपनी दूकान जा रहे थे कि ठेले पर से एक कन्या-रत्न को उतरते देखकर— संक्षेप में–"सहसा बाँधिया गेलो नयने नयन"। फिर उसी समय वह उसे नित्य दर्शन लाभ कराने लगे? लेकिन प्रेम निवेदन करके भावी पत्नी का सतीत्व भंग करना उन्होंने उचित न समझा। वह कन्या-रत्न ही कभी-कभी इनकी ओर कुछ विस्मय से एक आँख देख लेती थी। इसी से वह इसे अपना अनुभव-सिद्ध सत्य समझते थे कि स्कूल जाने से लड़कियाँ सतीत्व धर्म···इत्यादि। अपनी ओर से 'जा पर जाकर सत्य सनेहू' में विश्वास करके उसके पिता के पास ही उन्होंने सँदेसा भिजवाया। अन्त में कागज-किताबों के मुनाफे की रकम में पिताजी को फँसा लिया और सत्य सनेह सिद्ध होगया। कन्या रत्न 'छोटी बहू' के रूप में क्यों? इसलिये कि घर में उनका स्वागत करने के लिये सास नहीं तो सास जैसी बड़ी बहू विराजमान थी। 'रानी' के पाठकों को यह सौभाग्य कहाँ मिलेगा कि बड़ी छोटी बहुओं के बीच में बैठे हुये—अश्विनी कुमारों के बीच में साक्षात भैरव जी की तरह ये नवल राय जी को देखें। बड़ी बहू सास जैसी।

अवश्य लगती हैं लेकिन चाभियों का वजनी गुच्छा छोटी बहू की कमर से ही झूलता है। बड़ी बहू सीधी मांग काढ़ें तो छोटी बहू तिरछी माँग में सिन्दूर भरे हैं। तिरछी मांग में सिन्दूर—यह है आधुनिक भारतीय संस्कृति का प्रतीक, लेकिन जब नाश्ता करने के बाद छोटी बहू सास जैसी बड़ी बहू को सबकी जूठी तश्तरियाँ उठाकर चलने को कहेंगी

तब शायद आप वहाँ बैठे न रह सकेंगे।

सती धर्म का यही आनन्द हैं, सती को सेवा पति को सेवाबाबू नवल राय कहते है, हिटलर इस धर्म का अन्तिम रक्षक था। अब उसके बचने की कोई आशा नहीं रह गई। उन्हें छोटी बहू और सती धर्म दोनों ही की ओर से बराबर शंका बनी रहती है।

१९४५

धूल

हिन्दी-कविता की सबसे सुन्दर पंक्तियों में से एक यह है :—

'जिसके कारण धूलि भरे हीरे कहलाये ।'

हीरे के प्रेमी तो शायद उसे साफ-सुथरा, खरादा हुआ, आँखों में चकाचौंध पैदा करता हुआ देखना पसन्द करेंगे । परन्तु हीरे से भी कीमती जिस नयन-तारे का जिक्र इस पंक्ति में किया गया है, वह धूलि भरा ही अच्छा लगता है । जिसका बचपन गाँव के गलियारे की धूल में बीता हो, वह इस धूल के बिना किसी शिशु की कल्पना कर ही नहीं सकता । फूल के ऊपर जो रेणु उसका शृंगार बनती है, वही धूल शिशु के मुँह पर उसकी सहज पार्थिवता को निखार देती है । अभिजातवर्ग ने प्रसाधन-सामग्री में बड़े-बड़े आविष्कार किये, लेकिन बालकृष्ण के मुँह पर छाई हुई वास्तविक गोधूलि की तुलना में वह सभी सामग्री क्या धूल नहीं हो गई ?

हमारी सभ्यता इस धूल के संसर्ग से बचना चाहती है । वह आसमान में अपना घर बनाना चाहती है, इसलिए शिशु भोलानाथ से कहती है, धूल में मत खेलो । भोलानाथ के संसर्ग से उसके नकली सलमे-सितारे धुँधले पड़ जायँगे । जिसने लिखा था—'धन्य-धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात कनिया लगाय धूरि ऐसे लरिकान की', उसने भी मानों धूलभरे हीरों का महत्त्व कम करने में कुछ उठा न रखा था । 'धन्य-धन्य' में ही उसने बड़प्पन को विज्ञापित किया; फिर 'मैले' शब्द से अपनी हीन-भावना भी व्यंजित कर दी ; अन्त में 'एसे लरिकान' कहकर उसने भेद-बुद्धि का परिचय भी दे दिया । वह हीरों का प्रेमी है, धूलि भरे हीरों का नहीं ।

शिशु-भोलानाथ के संसर्ग से तो 'मैले जो करत गात' की नौबत आई ; अखाड़े की मिट्टी में सनी हुई देह से तो कहीं उबकाई ही आने

लगे। जो बचपन में धूल से खेला है, वह जवानी में अखाड़े की मिट्टी में सनने से कैसे वंचित रह सकता है ? रहता है तो उसका दुर्भाग्य है और क्या ! यह साधारण धूल नहीं है, वरन तेल और मट्ठे से सिझाई हुई वह मिट्टी है, जिसे देवता पर चढ़ाया जाता है। संसार में ऐसा सुख दुर्लभ है। पसीने से तर बदन पर मिट्टी ऐसे फिसलती है, जैसे आदमी कुआँ खोदकर निकला हो। उसकी माँस-पेशियाँ फूल उठती हैं; आराम से वह हरा होता है ; अखाड़े में निर्द्वन्द्व चारों खाने चित्त लेटकर अपने को विश्वजयी लगाता है। मिट्टी उसके शरीर को बनाती है क्योंकि शरीर भी तो मिट्टी का ही बना हुआ है !

शरीर और मिट्टी को लेकर संसार की असारता पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि जितने सार-तत्व जीवन के लिए अनिवार्य हैं, वे सब मिट्टी से ही मिलते हैं। जिन फूलों को हम अपनी प्रिय-वस्तुओं का उपमान बनाते हैं, वे सब मिट्टी की ही उपज हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इन्हें कौन सम्भव करता है ? माना कि मिट्टी और धूल में अन्तर है; लेकिन उतना ही, जितना शब्द और रस में, देह और प्राण में, चाँद और चाँदनी में। मिट्टी की आभा का नाम धूल है और मिट्टी के रङ्ग-रूप की पहचान उसकी धूल से ही होती है।

ग्राम-भाषाएँ अपने सूक्ष्म बोध से धूल की जगह गर्द का प्रयोग कभी नहीं करती। धूल वह, जिसे गोधूलि शब्द में हमने अमर कर दिया है। अमराइयों के पीछे छिपे हुए सूर्य की किरणों में जो धूलि सोने को मिट्टी कर देती हैं ; सूर्यास्त के उपरान्त लीक पर गाड़ी के निकल जाने के बाद जो रुई के बादल की तरह या ऐरावत हाथी के नक्षत्र-पथ की भाँति जहाँ की तहाँ स्थिर रह जाती है; चाँदनी रात में मेले जाने वाली गाड़ियों के पीछे जो कवि-कल्पना की भाँति उड़ती चलती है; जो शिशु के मुँह पर, फूल की पँखुड़ियों पर साकार सौन्दर्य बनकर छा जाती है—धूल उसका नाम हैं।

गोधूलि पर कितने कवियों ने अपनी कलम नहीं तोड़ दी, लेकिन यह गोधूलि गाँव की अपनी सम्पत्ति है, जो शहरों के बाटे नहीं पड़ी ।

एक प्रसिद्ध पुस्तक विक्रेता के निमंत्रण-पत्र में गोधूलि की बेला में आने का आग्रह किया गया . था, लेकिन शहर में धूल धक्कड़ के होते हुए भी गोधूलि कहाँ ? यह कविता की विडम्बना थी। और गाँवों में भी जिस धूलि को कवियों ने अमर किया है, वह हाथी-घोड़ों के पग-संचालन से उत्पन्न होने वाली धूल नहीं हैं, वरन् गो-गोपालों के पदों की धूलि है।

'नीच को धूरि समान' वेद-वाक्य नहीं है। सती उसे माथे से, योद्धा उसे आँखों से लगाता है, युलिसिस ने प्रवास से लौटने पर इथाका की धूलि चूमी थी। यूक्रैन के मुक्त होने पर एक लाल सैनिक ने उसी श्रद्धा से वहाँ भी धूल का स्पर्श किया था। श्रद्धा, भक्ति, स्नेह-इनकी चरम व्यंजना के लिए धूल से बढ़कर और कौन साधन है ? यहाँ तक की घृणा, असूया आदि के लिए भी धूल चाटने, धूल झाड़ने आदि की क्रियाएँ प्रचलित हैं।

धूल, धूलि,धूली, धूरि आदि की व्यंजनाएँ अलग-अलग हैं। धूल जीवन का यथार्थवादी गद्य ; धूलि उसकी कविता है। धूली छायावादी दर्शन है, जिसकी वास्तविकता संदिग्ध है और धूरि लोक-संस्कृति का नवीन जागरण है। इन सब का रंग एक ही है ; रूप में भिन्नता जो भी हो। मिट्टी काली, पीली, लाल तरह तरह, की होती है, लेकिन धूल कहते ही शरत् के धुले-उजले बादलों का स्मरण हो आता है। धूल के लिए श्वेत नाम का विशेषण अनावश्यक है ; वह उसका सहज रंग है।

हमारी देश-भक्ति धूल को माथे से न लगाये तो कम-से-कम उस पर पैर तो रखे। किसान के हाथ-पैर-मुँह पर छाई हुई यह धूल हमारी सभ्यता से क्या कहती है ? हम काँच को प्यार करते हैं ; धूलि भरे हीरे में धूल ही दिखाई देती है, भीतर की कान्ति आँखों से ओझल रहती है, लेकिन ये हीरे अमर हैं और एक दिन अपनी अमरता का प्रमाण भी देंगे । अभी तो उन्होंने अटूट होने का ही प्रमाण दिया है—'हीरा वही धन चोट न टूटे ।' वे उलटकर चोट भी करेंगे और तब काँच और हीरे का भेद जानना बाकी न रहेगा । तब हम हीरे से लिपटी हुई धूल को भी माथे से लगाना सीखेंगे।

१६४५

अतिथि

अतिथि से मेरा मतलब उन लोगों से नहीं है, जो बिना तिथि बताये आपके भोजन में शरीक होने के लिए आ जाते हैं। इस तरह का आतिथ्य अब चाय-पानी तक रह गया है; खासकर, इस महँगाई के जमाने में लोग भोजन के लिए पूछते हुए सवाल को मन में दोहरा लेते हैं। अगर आपका जजमान जिसके यहाँ आप अतिथि, यानी मान न मान मैं तेरा मेहमान बने हैं—दम साधकर घबराहट में एक ही साँस में आपसे भोजन के लिए पूछे तो आप उसके शब्दों का उत्तर उनकी ध्वनि में पढ़कर तुरन्त ही नहीं दे देंगे। यदि मीठी-मीठी बातें करके वह आपसे भोजन के लिए ऐसे आग्रह करे जैसे वह आपकी बाट ही जोह रहा था और आप के बिना उसका भोजन विष-तुल्य हो जायगा, तो आप निश्चय जानिये कि उसने कोई भारी दाव सोच रखा हैं। आप लेखक हों और मेहमाम-नवाज प्रकाशक हो तो समझ लीजिए कि दालदा की पूड़ियाँ और कद्दू की तरकारी खिलाकर वह आपसे मुफ्त लेख लिखाना चाहता है। इस काल के अतिथि-सत्कार से ब्राह्मण सावधान !

मैं पहले ही कह चुका हूं कि अतिथि से मेरा मतलब उन लोगों से नहीं है। मेरा मतलब उन लोगों से है जो 'तिथि' की तो बात दूर, 'घड़ी' 'पल,' 'घण्टा', 'पहर', का भी ध्यान न रखे हुए एक दम अयाचित आ धमकते हैं। इन सभी शब्दों में 'अ' लगाने से इनका नामकरण हो सकता है, लेकिन जबतक 'अच्छी हिन्दी' के लेखक इस ओर अपना उत्तर-दायित्व नहीं निबाहते, तबतक मैं उन्हें अतिथि ही कहता हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूं कि शब्द पर न जाकर आप मेरा मतलब समझ लें।

आप सोचिये, चौबीस घंटों में ऐसा कौनसा घण्टा या मिनट है, जब कभी-न-कभी किसी अतिथि ने आकर आपका काम न रोक दिया हो।

वे लोग धन्य हैं, जिन्हें बारह से चार तक कम-से-कम रात के समय इन मेहमानों से नजात मिली हो।

कॉलेज का अध्यापक अगर लेखक भी हो, तो उसके लिए अतिथि की आवाज यमदूत के संदेश से कम भयावर नहीं होती। सबेरे चाय पीकर या स्वस्थ मन के हुए तो दूध-बादाम पीकर आप कॉलेज की किताबें लेकर बैठे। दस मिनट के बाद जब आपकी तन्मयता बढ़ रही थी, तभी आ गये अतिथि जी। कहेंगे—'आप शायद काम कर रहे थे ; मैं थोड़ी ही देर बैठूँगा।' अब आप यह तो कहने से रहे—'नहीं; थोड़ीं देर भी न बैठिये।' अरब के तम्बू में पहले ऊँट की गर्दन आयी, फिर क्रमशः दस बज गये और आपकी उदासीनता, अँगड़ाइयाँ, इधर-उधर देखना, खामोश रहना—वह सभी कुछ व्यर्थ करते रहे। आखिर वे आपकी परेशानी का पूरा मज़ा लेकर उठे। आपका समय नष्ट करने के लिए खेद प्रकट किया और अन्त में चलने ही लगे कि उन्हें वह असली काम याद आ गया जिसके लिए वह आये थे। आप जल्दी से निपटाने के फिराक में कमरे से बाहर निकले; लेकिन वह सीढ़ी पर एक पैर रख कर फिर जम गये। खैर ; दस मिनट के बाद उन्होंने नमस्ते भी किया, लेकिन आपको घूमकर चलने का मौका न देकर उन्होंने अपना 'पुनश्च' फिर आरम्भ कर दिया। यहाँ एक-एक क्षण कल्प हो रहा है, यह किसी को क्या मालूम ?

भोजन के उपरान्त अखबार पढ़ते-पढ़ते कहीं आप झपकी लेने लगे, तो अतिथि की आवाज ब्रह्मांड पर सोंटे की तरह ऐसे गिरती है कि स्वप्न-सत्य सब एक हो जाता है। टारपिडो लगने से जैसे जहाज का मल्लाह चौंक उठता है, वैसे ही कुछ क्षण को तो हृदय-वीणा के तार ऐसे झनझना उठते हैं जैसे उसकी तूंबी पर पत्थर पड़े हों।

सौभाग्य से नींद पूरी करके, हाथ-मुँह धोकर, प्रसन्नचित्त आप बहुत दिनों के पत्रों का जवाब लिखने बैठे, तभी यह सोचकर कि यह आपका फुर्सत का समय होगा, अतिथि जी पुनः आ पधारे। कहीं कॉलेज की छुट्टियाँ हुईं, तब तो अतिथि को छूट ही मिल जाती है। आपने बड़ी

शिष्टता बरतते हुए किसी काम का जिक्र किया, तो बस वह बरस पड़े—अजी, अब भी तुम्हें काम है ? अब तो छुट्टियाँ हैं, तुम्हें फुरसत ही फुरसत है। और फिर जमे तो बेहोश होकर अंगद का पैर बनकर रह गये।

रात में आप बहुत निश्चिन्त होकर लेख लिखने बैठे। कुछ देर तक कागज़ खराब करने के बाद जब सुरूर आया, तभी आपके फालतू समय में हिस्सा बटाने के लिये पुनः अतिथि जी आ धमके। क्या करें बेचारे। दिन में आपके मिलने का ठीक नहीं रहता। रात में खुद अपने काम का नुकसान करके आपको कृतार्थ करने आये हैं। उन्हें क्या मालूम उनके कारण हिन्दी का भण्डार कितने रत्नों से वंचित रह जाता है। कितने ही महाग्रंथों की रचना का विचार इन महापुरुषों का ध्यान आते ही तज देना पड़ता है। कम से कम कवि होने का विचार तो छोड़ ही देना पड़ा क्योंकि इन कविता के दुश्मनों का कोई ठिकाना नहीं, कब कल्पना-लोक में वनमानुष बनकर कूद न पड़ें। सम्पादक चिट्ठी लिखते हैं, फिर तार भेजते है, पत्रों का उत्तर न पानेवाले गालियाँ लिखकर भेजते हैं। समय पर भोजन-स्नान के बदले, आलोचक बनने के अभिशाप स्वरूप, निठल्ले कवियों से कविता और उन्हीं के मुँह उसकी प्रशंसा सुननी पड़ती है। लेकिन इस दर्द को कोई क्या समझे ?

अगर इस लेख को मैं अपने कमरे में टाँग दूँ तो क्या आप समझते हैं, उनकी स्थिरता में—अथवा जड़ता में—कोई अन्तर आ जायगा ? वे इस लेख की प्रशंसा करने के बहाने ही जम जायँगे और फिर तो दस पाँच मिनट में उठनेवाले कोई और ही होंगे !

१९४५

खुली हवा

कल मैं एक लेख लिख रहा था,—नये उपन्यास: नयी दिशा। इलाचन्द्र जोशी के "जहाज़ का पंछी" और अमृतलाल नागर का "बूंद और समुद्र" में पागलों का चित्रण देखकर मुझे लगा, ये दोनों कलाकार यों ही मानसिक असन्तुल के इन दृश्यों की ओर आकृष्ट नहीं हुए। जिस सामाजिक वीभत्स को उन्होंने चित्रित किया हैं, उसमें आदमी शारीरिक और मानसिक रोगी होने के अलावा और हो क्या सकता है।

तीसरे पहर दो मित्र आगये और घूमने के निमंत्रण पर आगरे से दिल्ली जाने वाली सड़क पर मैं भी उनके साथ बढ़ चला। बात चली लोगों के स्वास्थ्य को लेकर। एक मित्र ने आश्चर्य प्रकट किया कि ऐसी अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रहते हुए, ऐसा सड़ा-गला खाना खाते हुए भी इतने कम लोग क्यों मरते हैं। मुझे एक लेखक की याद आई। कहा करते थे—अच्छा घी खाने से आप लोगों की हेल्थ अण्डरमाइन हो गई है; हम दालदा खाते हैं और बीमारी पास नहीं फटकती। आजकल बेचारे अस्पताल में हैं। लगभग दो महीने हो गये; पता नहीं कब ठीक हों।

आगरा-दिल्ली रोड पर पागलखाना पड़ता है। अनेक संभ्रान्त नागरिक सबेरे-शाम इधर टहलने आते हैं। सिकन्दरा की ओर बढ़ते हुए मेरे मित्र नहर के पास से बाएँ हाथ को घूम गये और एक अमरूदों के बाग में पहुँच गये। कोठी बने तो कितने बीघे जमीन हो, बाग में चारपाई डालकर सोने या लिखने-पढ़ने में कितना आनन्द आये, इसकी चर्चा होती रही। बाग से खेतों में पहुँचे। चारों तरफ़ फूली हुई सरसों का समुद्र लहरा रहा था। गाढ़े हरे रंग की अरहर में फूल आ गये थे। चने के पौधे लहलहा रहे थे। पानी पड़ने से हर तरफ अच्छी फसल होती दिखाई

देती थी। एक खेत में जौ की बालें भी निकल आयी थीं। खेतों के बीच में काफ़ी बड़ा गलियारा था जिसके बारे में किसानों ने बतलाया कि यह आगरे से दिल्ली तक जाने वाला दगड़ा था जिस पर बंजारे माल ढोया करते थे। लगभग मील भर के फ़ासले पर शहर दिखाई देता था। खेतों की शोभा देखकर एक मित्र ने कहा—कितनी अच्छी हवा है यहाँ की; सामने मैदान पड़े हैं। हज़ारों आदमियों के रहने के लिये यहाँ मकान बन सकते हैं। एक बार लड़ाई में बम-वम गिरें और शहर का सफाया हो जाय, तब फिर यहाँ नयी आबादी बसे।

सुरक्षा-परिषद पें कश्मीर को लेकर पाकिस्तान के अभियोग की बात चली। लड़ाई की सम्भावना दिखाई दी। लड़ाई होने पर यहाँ के मुसलमान किसका साथ देंगे, इस प्रश्न का विवेचन हुआ। पाकिस्तान बनाने का मुख्य श्रेय उत्तर प्रदेश के मुसलमानों को है, इस तथ्य की व्याख्या से यही परिणाम निकाला गया कि युद्ध होने पर यहाँ के मुसलमान पाकिस्तान का साथ दें गे।

आगरे से दिल्ली जाने वाले बंजारों के पुराने दगड़े से होते हुए हम शहर की ओर बढ़ते हुए आसपास के मैदान देख रहे थे कि कुछ किसान आकर खड़े हो गये। बातचीत होने पर पता चला कि वे हमें किसी कम्पनी का आदमी समझे थे जो वहाँ की ज़मीन खरीद कर मकान या कारखाना बनाएंगे।

सामने एक इमारत बन रही थी। कुछ औरतें बैठे गिट्टी कूट रही थीं। कुछ मजदूर शाम हो जाने पर भी मिट्टी ढो रहे थे। पूछने पर मालूम हुआ कि यह पागलखाने का दूसरा हिस्सा है जहाँ तपेदिक के मरीज़ रखे जायँगे। पागलों को तपेदिक भी होता है, यह "जहाज़ का पंछी" और "बूँद और समुद्र" पढ़कर न मालूम हुआ था।

दगड़ा खत्म हो चुका था। एक मित्र को याद आया कि यहीं कहीं मीनाबाज़ार लगता था। हम लोगों ने दगड़े का नाम मीनाबाज़ार रोड रखा। शहर आ गया। सामने मस्जिद थी। छोटे-छोटे मकानों के बाहर

चमड़ा सुखाया जा रहा था। ऊँचाई पर पांच छः सार्वजनिक शौचालय थे। कुत्ते भूंक रहे थे, सूग्रर भाग रहे थे। ठंड के दिनों में भी (यह सन् सत्तावन के प्रजातंत्र दिवस की बात है) नंगे बच्चे नाली में बैठे निवृत्त हो रहे थे। नाली के किनारे-किनारे ऊंचा ग्राहाता था। किसी ने कहा, यह कब्रिस्तान है। पास में रिफ्यूजी कॉलोनी जैसी बस्ती में एक रंगीन दुपट्टा ग्रौर लिपस्टिक से रंगे ग्रोंठ दिखाई दिये। कुछ नौजवान बिगड़ी क्रीज़ की पतलूनें पहने रंगीन दुपट्टे से बातें कर रहे थे।

खेतों की खुली हवा के बाद ये सब दृश्य देखकर मेरे मित्रों को बहुत ग्लानि हुई। इस रास्ते वे कभी न ग्राये थे। घूमने का सारा मज़ा किर-किरा हो गया—इस निश्चय पर वे पहुँचे। यहाँ से हमारा घर कितनी दूर है, इन गन्दी बस्तियों की हवा वहां तक पहुँचती होगी या नहीं, कोरियों ग्रौर चमारों के घर ज्यादा गन्दे हैं या मुसलमानों के- इन समस्याग्रों का विवेचन होता रहा। घर तक पहुँचते-पहुचते फैसला यही हुग्रा कि मुमलमान ज़्यादा गन्दे हैं ग्रौर इन गन्दी बस्तियों की हवा ऊँचाई पर बने हुए हमारे मकानों तक नहीं ग्राती।

१९५७

प्रेमचन्द की दसवीं वर्षी

आज हिन्दुस्तान में बहुत बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। लोग मुद्दत से जिस आज़ादी का सपना देख रहे थे, वह मिल गयी है या जल्द ही मिलने को है। अखबारों में जो बड़ी-बड़ी बातें पढ़ने को मिलती हैं, उन्हें देखते हुए प्रेमचन्द कुछ छोटे से लगते हैं। हम इतना कुछ पा गये हैं और इतना कुछ पाने का हौसला रखते हैं कि प्रेमचन्द के सपने हमें वैसे ही नहीं जँचते जैसे दफ्तर में बाबू की जगह पाने वाले को हल जोतने वाले किसान के सपने नहीं जँचते।

प्रेमचन्द का साहित्य हमारी आज़ादी के आन्दोलन का साहित्य है। वह आज़ादी का आन्दोलन आगे बढ़ गया है। आज हमारे नेता इंटेरिम सरकार में हैं; उनके हाथ में बहुत बड़ी ताकत है। दूसरे देशों में वे अपने राजदूत भेज सकते हैं; राजाओं, महाराजाओं, महामंत्रियों, लाट, बड़े लाट, इन सबसे उनका बराबरी का व्यवहार हो गया है। प्रेमचन्द की कल्पना यहाँ तक न पहुँची थी; उन्होंने न सोचा था कि "समर-यात्रा" का यहाँ अन्त होगा। दिल्ली के राजभवन के आगे उनका साहित्य असभ्य देहाती जैसा बिल्कुल मामूली और बेढंगा मालूम होता है।

उनका साहित्य मामूली आदमियों का साहित्य है; सभ्यता और संस्कृति की कद्र करने वालों के लिए वह बेढंगे आदमियों का साहित्य है। आपको याद आयेगा "क़फन" का वह चमार जो प्रसव में तड़पती हुई स्त्री को देखने इस डर से नहीं जाता कि उसका बाप आलू खा जायगा। कैसे बेढंगे और बेहूदे थे ये बाप-बेटे जो कफन के पैसों से ताड़ी पीकर नाचते हुए बेहोश होकर गिर पड़े! और प्रेमचन्द बच्चों की तरह बात ही नहीं बात की जड़ भी पूछते थे। इन बाप-बेटों को कोसने के बदले वे पूछते थे, इन्हें ऐसा ज़लील किसने बनाया? समाज की गन्दगी

के लिए शरीफों को ज़िम्मेदार ठहराना यह भी एक कला है।

प्रेमचन्द ने किसानों का चित्रण किया है। बहुत से कलाकारों का कहना है कि इस चित्रण में मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है। प्रेमचन्द आदमी को देखने के बदले किसान देखते थे; ज़मींदार में आदमी के बदले शायद वह शैतान देखते थे। द्वेष के प्रचारक थे प्रेमचन्द! सुधारवाद से सन्तोष न हुआ तो समाजवाद की तरफ बढ़े! उन्होंने किसान में क्या दिखाया, सतायी हुई आत्मा जो धीरज से सब सहती जाती है लेकिन एक हद ऐसी आती है जब धीरज छूट जाता है और किसान कुचले हुए साँप की तरह उछलकर वार कर बैठता है। 'प्रेमाश्रम' के सुक्खू चौधरी, मनोहर, कादिर, बलराज वगैरह आपको याद होंगे। ज़मींदार से लड़ते हुए इनके बैल-बधिया बिक जाते हैं, घर ज़मीन से मिला दिये जाते हैं; फिर भी इनमें कुछ है जो हार नहीं मानता। बूढ़ा मनोहर हिन्दुस्तान के सताये हुए किसानों की तरफ से कहता है—'अपनी मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं? बेइज्ज़त होकर जीने से मर जाना अच्छा है।' मनोहर पर हत्या का मुकदमा चलता है। गाँववाले उसे धिक्कारते हैं। तब बुद्धिमान कादिर खाँ उन्हें फटकारते हैं, 'यारो! ऐसी बातें न करो, बेचारे ने तुम लोगों के लिए, तुम्हारे हक की रक्षा करने के लिए यह सब कुछ किया। हम सब के सब कायर हैं, वह एक मर्द है।'

"कर्मभूमि" में एक बुढ़िया है, सलोनी। जब लोगों पर हंटर पड़ने लगे तो उसने अफसर के मुँह पर थूक दिया। उसके इतने हंटर मारे गये कि सारी देह सूज गयी और साड़ी पर लहू के दाग सूख कर कत्थई हो गये। एक दूसरी स्त्री है धनिया, "गोदान" में। अपने मर्द के साथ जिन्दगी भर उसने मुसीबतों का सामना किया है। खून-पसीना करके उसने ज़मींदारों और सूदखोरों की भूख मिटाने की कोशिश की है। उसका पति सड़क कूटने वाला होरी लड़ता-लड़ता चूर होकर खेत रहता है। "गोदान" का अन्त होता है, धनिया के पछाड़ खाकर गिरने से। और इस तरह की बहुत सी कहानियाँ हैं, मामूली आदमियों के बारे में जिनके नाम

अखबारों में नहीं छपते और जो आज की महान् राजनीतिक विजय के सामने बहुत छोटे मालूम होते है—इन्हीं के बारे में प्रेमचन्द ने साहित्य रचा था।

ये कादिर, होरी, बलराज,—आज क्या कर रहे हैं? वे खुश हो रहे हैं यह देखकर कि उनके नेताओं ने ज़मीदारी प्रथा खत्म करने के लिए प्रस्ताव पास कर दिया है। उन्हें यह देखकर अफसोस होता है कि जमींदार उन्हें बेदखल भी कर रहा है और उनकी चराई की ज़मीन से उनके मवेशियों को हटाकर वहाँ नये सिरे से कब्ज़ा कर रहा है। फिर क्रोध में आकर वे चराई की ज़मीन और खेतों पर लट्ठ ले लेकर आ जमते हैं और दुश्मन को चुनौती देकर कहते हैं—बहुत हो ली; अब तो ये खेत हमीं जोतेंगे और इस जमीन पर हमारे ही गोरू चरेंगे! जमींदारी प्रथा के खिलाफ प्रस्ताव पास करनेवाले क्रान्तिकारी चौंक उठते हैं! न्याय की रक्षा के लिए वे कचहरी में जमींदार की पैरवी करने दौड़ पड़ते हैं।

"रंगभूमि" में प्रेमचन्द ने अन्धे सूरदास और कारखाने के मालिक मि० सेवक की मुठभेड़ दिखायी थी। सूरदास गोली खाकर मर गया लेकिन उसने हार नहीं मानी। हमारे नेताओं ने पूँजीवाद को खत्म करने के लिए भी प्रस्ताव पास कर दिया है। लेकिन आज सैकड़ों सूरदास अपनी रोटी और आज़ादी के लिए जान हथेली पर लिये लड़ रहे हैं। हर मिल, हर कारखाने में हड़ताल हो रही है और दिन पर दिन लड़ाई संगीन होती जाती है। नेता अपने वालंटियरों और पुलिस के साथ निहत्थे मजदूरों पर हमला करके पूँजीवाद के खिलाफ अपने प्रस्ताव को अमल में ला रहे हैं।

और यह उथल-पुथल मजदूरों में ही नहीं है। आपको "इस्तीफा" कहानी याद होगी जिसमें एक क्लर्क रूलर से साहब की खबर लेकर अपने अपमान का बदला लेता है। आज एक दो नहीं, हज़ारों की तादाद में नौजवान क्लर्क जेब में इस्तीफा डाले हुए इनक़लाब की लहर के साथ आगे बढ़ रहे हैं।

देश में सचमुच ही इनक़लाब की लहर आयी है। बंबई में जहाज़ी नौजवानों ने हिन्दुस्तान के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू किया। सन् १८५७ के बाद पहली बार हिन्दुस्तानियों ने अंगरेज़ी तोपों का जवाब तोपों से दिया। बंबई की जनता ने हज़ारों की तादाद में गोलियाँ खाकर उन जहाजियों की रक्षा की। ऐसी और बहुत सी बातें हैं जिनके लिए नेता कहते हैं, ये सब भड़कानेवालों के काम हैं। इन सबकी कड़ियाँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। आग की ये लपटें ब्रिटिश भारत में ही सीमित नहीं रहीं, भारतीय संस्कृति की रक्षा करनेवाले "कायाकल्प" के विशालसिंह, "रंगभूमि" के राजा महेन्द्रप्रतापसिंह के महलों तक ये लपटें पहुँच गयी हैं। प्रेमचन्द ने जसवंत नगर के दीवान साहब से कहलाया था,—'सरकार की रक्षा में हम मनमाने कर वसूल करते हैं, मनमाने कानून बनाते हैं, मनमाने दण्ड लेते हैं। कोई चूँ नहीं कर सकता। यही हमारी कारगुज़ारी समझी जाती है, इसीके उपलक्ष में हमको बड़ी बड़ी उपाधियाँ मिलती हैं, पद की उन्नति होती है।' साम्राज्यवाद का एक पैर इधर उखड़ता है, तो दूसरा वह इन रियासतों में और मज़बूती से जमाना चाहता है। विशालसिंह और जसबंत नगर के दीवान कौंसिलों का स्वाँग रचकर अपने राजसिंहासन कायम रखना चाहते हैं। कश्मीर की जनता ने लड़ाई छेड़कर सूचना दे दी है कि वह इस तख़्त के मातहत रहनेवाली आज़ादी बिल्कुल ही पसन्द नहीं करती।

हमारे देश में इनक़लाब की लहर अनोखी नहीं हैं। उसकी मिसाल हमें रूस के इतिहास में मिलती है। वहाँ भी कभी यों ही किसानों ने नेताओं के कानून की राह न देखकर ज़मींदारों की ज़मीन छीनना शुरू कर दिया था। लोग सोचते ही रहे, कितना मुआवज़ा दिया जाय, कितने दिन में दिया जाय और किसानों ने अपनी लाठी के ज़ोर से जमींदारी प्रथा का अन्त भी कर दिया। वहाँ भी लाखों मज़दूरों ने हड़ताल की थी; गोलियाँ चलाकर ज़ार ने उन्हें दबा देना चाहा था। लेकिन उसका नतीजा क्या हुआ, इसे सभी जानते हैं।

हाँ, ज़ार ने एक बात और भी की थी और उसकी वह नीति हिन्दु-

स्तान में एक हदतक कारगर भी हो रही है। उसने आर्मीनियन को तातार से लड़ाया, यहूदी को ईसाई से भिड़ाया, हजारों के कत्लेआम कराये। न जाने कितने शहरों को उसने कलकत्ता और बंबई बना दिया। साम्राज्यशाही का यह आखिरी अस्त्र भी वहाँ व्यर्थ हो गया; तब क्या हिन्दुस्तान में ही वह सफल होगा ?

प्रेमचन्द ने कादिर और मनोहर दोनों की तस्वीरें एक ही कूची से बनायी हैं। उन्होंने हिन्दू को मुसलमान का और मुसलमान को हिन्दू का दुश्मन नहीं दिखाया। उन्होंने दिखाया है कि इन दोनों के दुश्मन हैं, महाजन, नौकरशाही, पूँजीपति और ज़मींदार। उन्होंने दिखाया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मिलकर इनका मुकाबला करते हैं। लेकिन कोई आज बराबर हमारे कान में कहता है, इनसे लड़ाई खत्म हो चुकी है। हमें अब आपस में निपटना है। आज़ादी हमने हासिल कर ली है, पूँजीवाद और ज़मींदारी प्रथा के खिलाफ हमने प्रस्ताव पास कर दिये हैं, इसलिए आपस में निपटने का मौका आ गया है। इस आवाज़ ने हमारी इन्सानियत को अधमरा कर दिया है। राह चलते आदमी चौकन्ना होकर देखता जाता है, कहीं कोई छुरा न भोंक दे। वे गुण्डे जिनका नाम पहले कभी सुना न था, अब हीरो बन गये है, उनका नाम बच्चे-बच्चे की ज़बान पर है। लोग कहते हैं, हमारे गुण्डे पकड़ लिये जायँगे तो हमारी रक्षा कौन करेगा ? शहर में गोरे सिपाही बन्दूकें लिये घूमते हैं तो लोगों को ढाढ़स बँधता है—अब पड़ोसी हमला न कर पायेगा। नेता गवर्नर से शिकायत करते हैं, ज्यादा और जल्दी फौज क्यों नहीं भेजी ? रात में छतों पर से दो नारे लोगों को ललकारते हैं, जय हिन्द और अल्लाहो अकबर !

आज हिन्दुस्तान के माथे पर जो कलंक का टीका लगा है, वह उसकी दो सौ साल की गुलामी से भी काला है। इससे उसी को खुशी हो रही है जिसके हाथ में फौज है, कानून है, हुकूमत की मशीन के सभी कलपुर्जे हैं, और जिसने नेताओं को भी मुट्ठी में करके उन्हें कठपुतलियों की तरह लड़ा दिया है।

क्या किसी को शक हो सकता है कि आज प्रेमचन्द जीवित होते तो इस राजनीति पर उनकी क्या राय होती ?

आगे बढ़े हुए मज़दूरवर्ग ने अपने को इस खूँरेज़ी से बाहर रखा है। उसी कलकत्ते में जहाँ खून की नदियाँ बह गयीं, वह मजदूर बस्ती जहाँ लाल झंडा फहराता था, शान्त रही और सचेत मजदूरों ने इस गृहयुद्ध की लपटों को भरसक बुझाने की कोशिश की। क्या इसमें सन्देह है कि जहाँ भयानक हत्याकांड देखकर प्रेमचन्द का हृदय अपमान की चोट से तिलमिला उठता, वहाँ मजदूरों का एका देखकर गर्व से उनकी छाती भी फूल उठती और वे कहते, शाबाश ! यही तरीका है एकता का और यही तरीका है लड़ाई का जिससे हम देश की आजादी हासिल करेंगे।

प्रेमचन्द मामूली आदमियों के बारे में साहित्य लिखते थे लेकिन इन मामूली आदमियों की उपेक्षा करके बहुत दिन तक किसी का बड़प्पन कायम नहीं रहता। मजदूर और किसान की लड़ाई को कागज़ी प्रस्तावों से नहीं रोका जा सकता। और इतिहास इस बात का गवाह है कि तोप और बन्दूकों से मुकाबला करने पर भी अन्त में इन्हीं को झुकना पड़ता है। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में दिखाया था, किस तरह मामूली आदमी अपनी रोटी के लिए, अपनी इज्जत-आबरू के लिए, अपने अधिकारों के लिए धीरज से और बहादुरी से लड़ता है। उन्होंने दिखाया था कि इस लड़ाई में हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के दुश्मन नहीं हैं, बल्कि सूदखोर महाजन, अत्याचारी जमींदार और नौकरशाह ठग ही उनके दुश्मन हैं। जो लोग समझते हैं कि आपस की लड़ाई बहुत दिन तक चलती रहेगी और इस तरह पूँजीवाद, नौकरशाही और देशी राज्य अपनी हिफाजत किये रहेंगे, उन्हें बहुत जल्द इस भुलावे को दूर करना होगा क्योंकि हमारे राजनीतिक जीवन का स्वाभाविक बहाव आजादी और एकता की तरफ है, गुलामी और फूट की तरफ नहीं। कोई भी मोड़ बहुत दिन के लिए इस बहाव की दिशा नहीं बदल सकता। प्रेमचन्द इस बहाव को पहचानते थे; उनकी परम्परा हमारे राष्ट्रीय जीवन में मर नहीं गयी, वह बराबर उसे सही लक्ष्य की तरफ

बहाने की चेष्टा करती है। प्रेमचन्द को कभी यह मुग़ालता नहीं हुआ कि हिन्दुस्तान में पूँजीवाद तो पनप सकता है लेकिन मजदूरों की लड़ाई से राष्ट्रीयता की हत्या हो जायगी। आज जब सोवियत रूस, समाजवाद और मज़दूरों की हड़तालों के खिलाफ इतना जहर उगला जाता है, तब प्रेमचन्द के ये शब्द जो उन्होने महाजनी सभ्यता के बारे में लिखे थे याद कर लेना चाहिए—

'इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पनेवाला है, दूसरा हड़पा जानेवाला। इस महाजनी सभ्यता का अंत हुआ है केवल रूस देश में, और जो समाजव्यवस्था उस देश के लिए हितकर हुई है, वह हिन्दुस्तान के लिए भी हो सकती है।'

१९४६

अंग्रेजी के एक हिमायती

अंग्रेजी अन्तरराष्ट्रीय भाषा है और उसे इस पद पर बनाए रखने में भारत के राष्ट्रीय लेखकों ने काफी योग दिया है। उपन्यास, कविता, राजनीति, विज्ञान—किस पर वे नहीं लिखते, किस पर वे नहीं बोलते? अभी तक साहित्य और संस्कृति का अन्तरराष्ट्रीय इतिहास नहीं लिखा गया; लिखे गए हैं विश्व, महाद्वीपों, राष्ट्रों या जातियों के इतिहास। यदि कभी अंग्रेजों ने अपनी भाषा का महत्व पहचाना और उसका अन्तरराष्ट्रीय सांस्कृतिक इतिहास लिखा तो उन्हें इन भारत के अंग्रेज अदीबों को महत्वपूर्ण स्थान देना होगा।

पिछले दिनों एक अंग्रेजी पत्र के 'कौलमनिस्ट'—'अदीब'—ने भारतीय भाषाओं के बारे में रोचक विचार प्रकट किए हैं। उन का कहना है कि अंग्रेजी की-सी व्यंजक शक्ति किसी भारतीय भाषा में नहीं है; इस लिए भावुकता छोड़ कर अंग्रेजी की शरण जाना ही उचित है। यह बात कितनी सही है, इसे 'अदीब' के साथ इन पंक्तियों का लेखक भी अनुभव कर रहा है। 'कौलमनिस्ट' का पर्यायवाची हिन्दी में मिलता नहीं है; उधर अंग्रेजी शब्द को ज्यों का त्यों लिखने में खतरा यह है कि अपढ़ हिन्दीभाषी ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के शिक्षित पाठक नहीं) उसे अपभ्रंश बना कर 'कलमनष्ट' न कर दें। हिन्दी के पाठक ऐसे जाहिल हैं कि उनमें से कुछ 'अदीब' का अर्थ अदब लगा लें, तो भी आश्चर्य नहीं। लेकिन, इतना तो उन्हें मालूम ही होना चाहिये कि अदीब अंग्रेजी का शब्द नहीं है; हिन्दुस्तान का न सही, एशिया का तो है। अंग्रेजी के लेखक होते हुए भी 'अदीब' ने अपने लिए एशियाई उपनाम चुना, इस पर दो महीने बाद दिल्ली में होने वाले एशियाई लेखक-सम्मेलन को

उन्हें बधाई देनी चाहिए।

हिन्दी की व्यंजना शक्ति कितनी सीमित है, इसके उदाहरणस्वरूप 'अदीब' ने इलियट की दो पंक्तियों का अनुवाद दिया है—

हम खोखले हैं।

हमारे अन्दर भूसा भरा हुआ है ?

महाकवि इलियट को नोबेल पुरस्कार मिल चुका है। अब हिन्दी के पाठक उनकी रचनाओं में ऐसे महान विचार प्रकट होते देखकर आधुनिक अंग्रेजी कविता के बारे में क्या सोचेंगे, जो सोचेंगे उससे भारत-ब्रिटेन मैत्री कैसे दृढ़ होगी और भारत में अंग्रेजी साहित्य-रचना का भविष्य क्या होगा, इस तरह की समस्याएं सभी चिन्तकों को चिन्तित कर सकती हैं। इलियट की महान् कल्पना—हम खोखले हैं; हमारे अन्दर भूसा भरा हुआ है !—'अदीब' के अनुसार हिन्दी के अनुवाद में, सत्य बात कहते हुए भी, हास्यास्पद हो जाती है। वास्तव में सत्य कभी कभी हास्यास्पद हो ही जाता है, यद्यपि हिन्दी में हास्य-रस को उतना ही उच्च स्थान दिया गया है जितना अन्य रसों को। सहृदयों को तो साधारणीकरण द्वारा यहाँ भी रस-निष्पति में आपत्ति न होगी !

इलियट-जैसे कवियों का उल्लेख करते हुए 'अदीब' ने पूछा है कि इनसे हिन्दी, बंगला या तमिल कैसे बुलवाएं। बहुत ही अदब से कहना चाहता हूँ कि बंगला या तमिल में बुलवाने की जरूरत क्या है ? राष्ट्र-भाषा हिन्दी ही उन सब की बोलियों का प्रतिनिधित्त्व करने के लिये काफी है। फिर आपने हमारे प्रयोगवादियों की बोली नहीं सुनी ? इतने दिन इलियट के भूसे में हिस्सा बँटा कर जो वत्स आनन्दमय स्वर में रँभाते रहे हैं, उनकी रागिनी पर आपने कान ही नहीं दिया ? माना कि "हम खोखले हैं" और अंग्रेजी की मूल पंक्तियों का अनुवाद करना कठिन है, लेकिन उसी काव्य-परम्परा की इस एक पंक्ति का आप ही अंग्रेजी में अनुवाद कर डालिए—"मैं ही मरघट का वह रिरियाता कुत्ता।"

"अदीब" ने क्या ही सुन्दर विचार प्रकट किया है—

A language is not a donkey ! भाषा गधा नहीं है। गधे तो भाषा के बोलने और लिखने वालों में होते हैं। भाषा को ठोकर मारो, चाहे पुचकारो, कोई लाभ न होगा। लेकिन यह क्रिया भाषा के बोलने या लिखने वालों के साथ करो, अवश्य फल देगी। मेरी समझ में भारत में अंग्रेजी के लेखकों के प्रति हमारी राष्ट्रीय नीति पुचकारने की है और भारतीय भाषाओं के लेखकों को ठोकर मारने की। मैं इस नीति की सफलता चाहता हूँ।

और इस नीति में बुरा क्या है? भारत के लोगों ने अपनी भाषाएं छोड़कर अभी तक अंग्रेजी नहीं अपना ली—जैसे कि जारशाही रूस के अभिजात वर्ग ने फ्रांसीसी भाषा अपना ली थी—इस संकीर्णता को क्या कभी क्षमा किया जा सकता है? रूसी लेखक गोगल ने एक नगर की सम्भ्रान्त महिलाओं के बारे में लिखा था–"रूसी भाषा का संस्कार करने और उसे ऊँचा उठाने के लिये उन्होंने अपने शब्दभंडार के आधे शब्द बहिष्कृत करके उनकी जगह फ्रांसीसी शब्द रख लिए थे।"

आप स्वीकार करेंगे कि दिल्ली और बम्बई-जैसे नगरों के सज्जन–अर्थात् वास्तव में शिक्षित सज्जन—उन रूसी महिलाओं से बाजी मार ले गए हैं।

सम्भ्रान्त रूसी समाज के पाठकों के लिए गोगल ने लिखा है—"इन के मुँह से कभी कोई सभ्य रूसी शब्द सुनने को नहीं मिलता। फ्रांसीसी, जर्मन और अंग्रेजी शब्दावली का प्रवाह उनके मुँह से फूट पड़ता है। उनका उच्चारण भी तरह-तरह का होता है। वे फ्राँसीसी बोलते हैं तो नाक से, और थोड़ा तुतलाते हुए। अंग्रेजी बोलते हैं तो चिड़ियों की तरह, दुरुस्त चहचहाते हुए। और जब बोलते हैं तब चिड़ियों जैसे दिखाई भी देते हैं। वे उन पर हँसते हैं, जो चिड़ियों-जैसा मुंह नहीं बना पाते। वे रूसी में कुछ नहीं लिखते। उनकी देशभक्ति इसमें प्रकट होती है कि वे ग्रीष्म-निवास के लिए रूसी शैली में किसान की झोंपड़ी बनवा लें।"

लेकिन अब शिमला, मंसूरी, नैनीताल आदि में अंग्रेजी शैली के होटल होने के कारण भारत के अन्तरराष्ट्रीयतावादियों के लिये किसान की झोंपड़ी बनाना भी आवश्यक नहीं। यहाँ भी वे रूसियों से आगे हैं।

गोगल की शिकायत है कि उस समय के सम्भ्रान्त विद्वान् रूसी भाषा के लिए स्वयं तो कुछ न करते थे, लेकिन यह माँग अवश्य करते थे कि रूसी भाषा परिष्कृत और समृद्ध हो जाए, वह अपने परिष्कृत और समृद्ध रूप में आसमान से उतरे और उनका काम इतना ही हो कि जीभ निकाल कर उसे गप कर लें।

लेकिन 'अदीब' की यह माँग नहीं है कि हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को समृद्ध किया जाए। उनकी माँग यह है कि भारतीय भाषाओं के बदले अंग्रेजी में ही सारा काम होता रहे। यहाँ भी भारत के सम्भ्रान्त विद्वानों ने जारशाही रूस के सम्भ्रान्त विद्वानों को पीछे छोड़ दिया है।

'अदीब' ने चेतावनी दी है कि अंग्रेजी का सहारा न लिया तो पुल टूटने लगेंगे और दूसरी-तीसरी-चौथी पंचवर्षीय योजनाएं असफल हो जाएंगी। यह चेतावनी एकदम सामयिक हैं। अभी हिन्दी को केन्द्रीय राज-काज की भाषा बनाने की बात ही चली हैं कि हैदराबाद राज्य में दो बार पुल टूट चुके है और जनता की भारी क्षति हुई है। जब चर्चा का ही यह फल है, तब व्यवहार में आने पर हिन्दी से कौन-सी क्षति न होगी, आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं। इसी तरह योजनाओं के सम्बन्ध में भी। घूस और रिश्वत का बाजार गर्म है। योजना पूरी हो नहीं पाती कि घूस-गबन की जांच के लिये समिति बैठाना आवश्यक हो जाता है। जब तक हिन्दी का पूर्ण बहिष्कार नहीं हो जाता, तब तक हर योजना को व्यवहार में लाने के साथ-साथ घूस और रिश्वत की जांच के लिए पहले से ही एक समिति बना देनी चाहिए। इस से सिद्ध हो जाएगा कि योजनाओं द्वारा पैसा खाने वालों का हिन्दी से कितना गहरा सम्बन्ध है।

अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का सम्मान बढ़ रहा है। राष्ट्रीय जीवन

में भी अंग्रेजी का वैसा ही प्रभुत्व रहे तो अशिक्षा, बेकारी, बाढ़, भुखमरी आदि की समस्याएँ तुरंत हल हो जाएँ और पं० नेहरू की गृहनीति में भी चार चांद लग जाएं। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में 'पंचशील' का शब्द जरूर चल पड़ा है। पहले तो यह 'पंचशील' या और किसी तरह का शील उन अंग्रेजों-अमरीकियों को पसन्द नहीं है, जिन की अपनी भाषा अंग्रेजी है। दूसरे उस के प्रचार में रूसियों और चीनियों का हाथ है जो भारत को साम्यवादी गुलामी में जकड़ना चाहते हैं। दोनों ही कारणों से इस शब्द को त्याग देना चाहिए। इस के सिवा आपने ध्यान दिया होगा कि रूस के प्रधान मन्त्री आए थे तो अपने साथ हिन्दी बोलनेवाला दुभाषिया लाए थे। स्पष्ट है कि साम्यवादी देशों के राजनीतिज्ञ अंग्रेजी के बदले हिन्दी को प्रश्रय देते हैं। इसलिए जो लोग राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत द्वारा अंग्रेजी के बदले हिन्दी के व्यवहार पर जोर देते हैं, वे जान में या अनजान में रूसी षड़यन्त्र के सहायक बन जाते हैं।

'अदीब' की घ्राण-शक्ति सराहनीय है कि उन्हें हिन्दी में मध्यकालीनता की गन्ध मिल गई। जिन की घ्राण-शक्ति क्षीण हो गई है, वे हिन्दी को आधुनिक भाषा समझने लगे हैं। यद्यपि विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें हिन्दी में काफी निकली हैं, लेकिन वैज्ञानिकों ने उस में मौलिक पुस्तकें तो नहीं ही लिखीं। इस लिए हिन्दी और उसी की तरह अन्य भारतीय भाषाओं में भी मध्यकालीनता मिले, तो आश्चर्य क्या ? अब अंग्रेजी को देखिए। उस के द्वारा अणु बम बनाए जाते हैं जिन से विश्वशांति कायम है और भंग भी होगी तो जनसंख्या की समस्या हल हो जाएगी। हमारा विचार है कि प्राचीन भारत में गणित ने जो प्रगति की थी, वह भी अंग्रेजी के कारण। आर्यभट्ट ने अवश्य नेसफील्ड ग्रामर पढ़ी होगी। दशमलव-ज्ञान का श्रेय भारत को दिया जाता है, लेकिन उस श्रेय में नेसफील्ड का भी हाथ है, यह बहुतों को नहीं मालूम। पाणिनि ने अपना व्याकरण लिखा और आधुनिक भाषाविज्ञान के विकास में उस व्याकरण की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की जाती है। दुर्भाग्य से पाणिनि पर

नेसफील्ड के प्रभाव की खोज किसी भी डाक्टरेट के उम्मीदवार ने अभी तक नहीं की। जर्मनी, इटली, फ्रांस, रूस आदि देशों में जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है, उस का कारण यह है कि वहाँ की भाषाएं अंग्रेजी से उत्पन्न हुई हैं। न उत्पन्न हुई होंगी, तो वहाँ का सारा वैज्ञानिक कार्य अंग्रेजी के माध्यम से होता होगा। न होता होगा, तो वह विशुद्ध वैज्ञानिक कार्य ही न होगा। किसी तरह भी विचार करें, आप यह स्वीकार किए बिना न रहेंगे कि संसार में वैज्ञानिक प्रगति अंग्रेजी द्वारा ही हुई है। सुना है कि मंगल नक्षत्र में जो प्राणी रहते हैं, वे भी अंग्रेजी बोलते हैं। अमरीकी खगोल-विशारदों ने रेडियो पर उन से बातचीत की है। इस प्रकार अंग्रेजी का महत्व विश्वव्यापी ही नहीं, सृष्टिव्यापी है।

अस्तु! 'अदीब' के इस निष्कर्ष से सहमत होना ही होगा कि किसी राष्ट्र के जीवन में दस, सौ या हजार वर्ष भी क्या हैं, सोचने-विचारने और आगा-पीछा देखने के लिए समय की कमी नहीं है। तब तक आइए, हम इस मंत्र का जप करें—

हम खोखले हैं!

हम में भूसा भरा हुआ है!

१९५६

सरकारी लिपि-सुधार

उत्तर प्रदेश की सरकार ने देवनागरी में सुधार कर के उसमें बेसिक हिन्दी रीडरें छापना शुरू कर दिया है। ये रीडरें बच्चों को पढ़ाई जाने लगी हैं। सरकार ने इस सुधरी हुई लिपि में अपना राजकाज न करके, अपने प्रकाशनों के लिये उसका उपयोग न करके उसका प्रयोग बच्चों में किया है। प्रयोग असफल हो तो उसके शिकार छोटे-छोटे सुकुमार बच्चे होंगे।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-संचालक श्री भैरवनाथ झा के अनुसार नवीन शिक्षा का उद्देश्य "छात्रों में आत्मविश्वास और देश के उज्ज्वल भविष्य में एवं अपनी संस्कृति में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करना है।" श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने सबसे पहले देवनागरी लिपि का ही अंग-भंग करना आवश्यक समझा है।

नयी लिपि में कुछ अक्षर जोड़े गये हैं, कुछ निकाले गये हैं, कुछ का रूप बदल दिया गया है, कुछ की जगह नये अक्षर लाये गये हैं, कुछ मात्राएं लगाने का क्रम बदला गया है और संयुक्ताक्षरों की पद्धति में काफी फेरफार किया गया है।

"त्र" को निकालकर "त्र" लिखने की भोंड़ी रीति अपनाई गयी है। एक नया व्यंजन पाल्थीमार ल जोड़ा गया है जिसकी मिसाल के लिये हिन्दी में शब्द न मिलने पर एक वैदिक मंत्र फुटनोट में उद्धृत किया गया है। हिन्दी के लिये जिस व्यंजन की आवश्यकता नहीं है, उसे क्यों जोड़ा गया है? शायद देवनागरी को राष्ट्रीय लिपि बनाने के लिये! ऐसा है तो और बहुत-सी भारतीय भाषाओं के स्वर और व्यंजन हैं जिन्हें देवनागरी में लेना चाहिये था। उन्हें न लेने में कौन सा तर्क है? शायद कोई लिपिसुधारक मराठी का विशेष प्रेमी

रहा है, इसलिये उसने मराठी लिपि से (जो मूलत: देवनागरी है) "ल" ही नहीं लिया, हिन्दी का "झ" निकाल कर उसकी जगह मराठी का झ भी रख दिया है। इस तरह बँगला, तेलगू, तमिल आदि लिपियों से एक-एक अक्षर लेकर हिन्दी लिपि को और भी राष्ट्रीय बनाया जा सकता हैं !

"ध" और "भ" के सिर पर पाग बांधकर उन्हें अलंकृत कर दिया गया है। छ की पाग में कलँगी लगी थी, उसे निकालकर उसे 'भ' 'ध' के समान केवल पागवाला ही रखा गया है। ख में "र" का चरण "व" के खूंटे से बांध दिया है जिससे वह भाग न जाय । लेकिन "ख" को किसी दूसरे अक्षर से जोड़ने पर यह बंधन टूट कर निरर्थक हो जाता है जैसे "ख्याति" में।

मात्राओं में छोटी "इ" की मात्रा को बायें से हटा कर दायें कर दिया गया है। "इ" की मात्रा "लेफ्ट" को थी और उत्तर प्रदेश की सरकार "लेफ्टिस्टों" के खिलाफ है, इसलिये यह सुधार सप्रयोजन है। बड़ी "ई" की मात्रा से छोटी "इ" की मात्रा का भेद करने के लिये उसकी टाँग तोड़ दी गई है। लिखने में आधी और पूरी पाई का भेद करना मुश्किल हो जायगा। अभी तक देवनागरी में किसी की लिखावट पढ़ने में जो सुविधा होती थी, वह "इकार"-"ईकार" के विकार से दूर हो जायगी।

संयुक्ताक्षरों में लिपिसुधारक हलन्त के बहुत पक्षपाती हैं । कार्य को वह "कार्‌य" लिखना सिखाते हैं। रेफ के बदले एक अक्षर और एक हलन्त चिह्न लगाकर वह दुगनी मेहनत कराते हैं। "श" और "र" के मिलाने के मामले में वह "श्री" लिखने के तो पक्ष में हैं लेकिन "श्रद्धा" में वह "श्र" के बदले "श्‌र" का चलन करते हैं। "प" या "द" में जो नीचे "र" लगाकर अभी तक "प्र" और "द्र" लिखने का नियम रहा है, उसे बदल कर "प्‌र" और "द्‌र" लिखने की नयी विधि अपनाते हैं। वह "क" में "ऋ" जोड़ने को तैयार हैं, "कृष्ण" लिखने में उन्हें

कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन "रामचन्द्र" को "रामचन्द्र" लिखेंगे, प्रकाश को प्रकाश ! दो "त" मिलाने का अभी तक तरीका यह था, "त्त"। लेकिन इससे आधा "त" पहचान में न आता था। उसे बदल कर "ल" से मिलता जुलता डबल "त" यों लिखा जायगा-"त्त"। कहना न होगा कि हाथ की लिखावट में "ल" और "त्त" का भेद करना मुश्किल हो जायगा । "ह" को "म" से मिलाने के लिये उसे "ट्" का सा रूप दे दिया गया है। लिखावट में संयुक्त "ह" और "ट्" का भेद करना कठिन होगा।

देवनागरी में जो "सुधार" किये गये हैं, उनके पीछे कोई नियम, कोई तर्क नहीं है। जहाँ संयुक्ताक्षर की इच्छा हुई, वहाँ संयुक्ताक्षर रख दिये, जहाँ हलन्त की इच्छा हुई, वहाँ हलन्त रख दिया । देखने में "सुधरे" हुए रूप निहायत भोंड़े, लिखने में ज़्यादा जगह घेरने वाले और लिखावट को पढ़ने में बहुत ही असुविधाजनक हैं । प्रकाशकों और मुद्रकों के लिये वे नयी समस्याएं खड़ी करते हैं। टाइप-राइटर या छापे की मशीन के लिये इनसे कोई सुविधा नहीं होती।

देवनागरी में जो मात्राओं, संयुक्ताक्षरों आदि के नियम हैं, वे इस लिपि तक सीमित नही हैं। ये "सुधार" भारत की अधिकांश लिपियों की समानता नष्ट करते हैं। मिसाल के लिये "इ" की मात्रा या रेफ या "द" "प" आदि के नीचे "र" लगाने का नियम बँगला आदि लिपियों में भी है । इसलिये जब तक सभी लिपियों के लोग ऐसे सुधारों के पक्ष में न हों, तब तक केवल देवनागरी पर कृपा करना उचित नहीं।

देवनागरी राष्ट्रीय लिपि है लेकिन अंग्रेजी भाषा और लिपि तो अन्तर्राष्ट्रीय है । राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भारत सरकार अब भी उसी का उपयोग करती है। वह उसमें सुधार क्यों नहीं करती ? भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य भी है। सरकार चर्चिल को सलाह क्यों नहीं देती कि यहाँ से लिपि-विशारद बुला कर इस विश्व-लिपि में सुधार करें। बनार्ड शा अंग्रेजी हिज्जे सुधारने के लिये जो निधि छोड़ गये हैं, उसका उपयोग भी इसके लिये हो सकता है। या अंग्रेजी लिपि

निर्दोष है और यह सब लीपापोती हिन्दी लिपि में ही उचित है ?

नये चीन में एक लिपि-सुधार-समिति साल भर से काम कर रही है। अभी उसने अपना काम पूरा नहीं किया। सुधरी हुई लिपि बहस के लिये सारे देश के सामने रखी जायगी। जनता के सुझावों पर विचार कर के सुधरी हुई लिपि एक सीमित क्षेत्र में लागू की जायगी। वहाँ के अनुभवों से लाभ उठा कर आवश्यक परिवर्तन के बाद वह क्रमशः और विस्तृत क्षेत्रों में रायज की जायगी। लेकिन उत्तर प्रदेश की सरकार "टोटैलिटेरियन" सरकारों को मात देकर तुरन्त आगे बढ़ने में विश्वास करती है। इसलिये उसने इतना विलंब सहना आवश्यक नहीं समझा। कहना न होगा कि चीनी और देवनागरी लिपियों में जमीन-आसमान का फर्क है। चीनी लिपि जितनी ही घोर असुविधाजनक है, उतनी ही देवनागरी सुविधाजनक। इसलिये वहाँ सुधार की घोर आवश्यकता है तो यहाँ उतनी अनावश्यकता भी है।

काँग्रेसी नेता देश की जनता और संस्कृति में अपनी जड़ें गहरी होने की बातें करते हैं। वास्तव में वह जनता को मूर्ख और देश की संस्कृति को वोट लेने का साधन समझते हैं। उनके मन पर अंग्रेजी भाषा और लिपि का आतंक छाया हुआ है। इसीलिये गौरांग महापुरुषों की लिपि से उन्हें छेड़छाड़ करने का साहस नहीं होता। देवनागरी का अंगभंग करने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता। इसीलिये ये तथाकथित सुधार तमाम हिन्दी-प्रेमियों के लिये चुनौती हैं। उन्हें संगठित होकर इस अनाचार का विरोध करना चाहियें। इस कार्य में अहिन्दी-भाषियों को भी उनकी मदद करनी चाहिये। उनकी लिपियां देवनागरी से मिलती जुलती हैं। जो व्यवहार कांग्रेसी नेता आज हिन्दी-लिपि के साथ कर रहे हैं, कल वही व्यवहार वे दूसरी लिपियों से भी कर सकते हैं।

भारत की एक तिहाई जनता हिन्दी-भाषी है। उसकी इच्छाओं को कुचलकर किसी सरकार के लिये कोई "सुधार" लागू करना संभव नहीं

है। हिन्दी-भाषियों की संगठित शक्ति देवनागरी लिपि की रक्षा कर सकती है, उसे करनी चाहिये। ये "सुधार" इतने भद्दे, अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक हैं कि वे रद्द होके रहेंगे। इसलिये गह काम जितना जल्दी हो, उतना ही अच्छा।

१९५६

भाषा और प्रान्तीयता

इस बार गर्मियों में जब कलकत्ते गया तो लगा, शहर कुछ बदला-सा है। बँगलाभाषी मित्र बँगला छोड़कर आमतौर से दूसरी भाषा में बात न करते थे। कुछ लोगों ने यह शिकायत भी की कि बस या ट्राम में किसी बंगाली कंडक्टर से हिन्दी में टिकट माँगो तो वह टिकट न देगा या उपेक्षा दिखलाएगा, दफ्तरों में हिन्दी बोलकर काम कराने जाओ तो बीस बिसुवे काम होगा नहीं। एकाध साहित्य-प्रेमी ने कहा—"आप जो कुछ हिन्दी भाषण में कहते हैं, उसे अंगरेजी में भी कहें, हम उसमें बँगला साहित्यिकारों और प्रोफेसरों को भी बुलाएंगे, उन्हें भी मालूम होना चाहिए कि हिन्दी में क्या है।"

एक बँगलाभाषी हिन्दी-प्रचारक मित्र ने कहा—"आपके यहाँ से कुछ लोग आकर हमारा काम चौपट कर जाते हैं। यहाँ आकर कहते हैं, 'बंगला में है क्या? रवीन्द्रनाथ ने जो कुछ लिया है, कबीर से।' अरे बाबा, आप लोग हिन्दी-हिन्दी क्या चिल्लाते हो? है क्या आपकी हिन्दी में? और हिन्दी प्रचार तो हम राजा राममोहन राय के समय से कर रहे हैं जब आपके यहाँ लोग हिन्दीप्रचार का नाम भी न जानते थे।"

एक चौहत्तर वर्ष के क्रान्तिकारी, विचारक और लेखक ने पूछा—"हिन्दुस्तान के भविष्य के बारे में क्या सोचते हो?" मैंने कहा—"इस प्रश्न का उत्तर तो मुझसे अच्छा आप दे सकते है। मेरी समझ में हमारा भविष्य उज्ज्वल है।" उन्होंने कहा—"गृह-युद्ध होनेवाला है।" पूछा—"किसमें?" मेरे मन में आया, शायद मजदूर-पूँजीपतियों की लड़ाई की बात सोचते होंगे। लेकिन वह बोले—"हिन्दुस्तानियों और बंगालियों में युद्ध होगा।" सुना था, कुछ दिन पहले बंगाली और हिन्दुस्तानी ट्राम-मजदूरों में झगड़ा हो चुका था। अखबारों में असमियों और बंगा-

लियों के दंगों की बात भी पढ़ चुका था। इसलिए गृह-युद्धवाली बात मैं हँसकर ही न टाल सका।

कलकत्ते की लगभग आधी जनता हिन्दुस्तानी है। यहाँ के मारवाड़ी व्यापारी आपस में राजस्थानी बोलते हैं लेकिन शिक्षा, भाषण, प्रकाशन आदि के लिए हिन्दी ही काम में लाते हैं। एक ओर तो ये बड़े-बड़े व्यापारी हैं, दूसरी ओर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि बोलनेवाले पूर्वी हिन्दी-भाषी प्रदेश के लोग हैं जो ज्यादातर मेहनत-मजूरी के सहारे जिन्दगी बसर करते हैं। शाम को अपने डेरों पर ढोल-मँजीरा या खँजड़ी या हुड़क लेकर ये अपने लोकगीत गाते हैं। बँगला और हिन्दीभाषी भद्रजन समानरूप से इन्हें असभ्य और असंस्कृत समझकर इनसे प्रायः घृणा करते हैं। इनके अलावा बहुत-से अध्यापक और लेखक हैं, जिनमें से अधिकांश का उद्देश्य कलकत्ते आकर पैसा कमाना है, साहित्य-सेवा करना नहीं।

ऐसी स्थिति में कौन बड़ा है, कौन छोटा है, यह भाव लोगों के मन में बड़ी जल्दी पैदा होता है। इसका नतीजा यह होता है कि देश की विभिन्न जातियाँ आपस में मित्रता बरतने के बदले एक-दूसदे से बैर मानने लगती हैं, एक-दूसरे से सीखने के बदले अपने बड़प्पन की डींग हांकने में सारा समय लगा देती हैं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, यहाँ की जातियां एक-दूसरे से सहयोग करके ही उसे सँवारती रही हैं, और आगे भी इसी तरह उसे सँवार सकती हैं। सूर और तुलसी के युग में यहाँ के सांस्कृतिक आन्दोलन बराबर एक प्रदेश के बाहर के लोगों की भी प्रभावित करते रहे हैं। यदि ये व्यापक आन्दोलन न होते तो न सूर के पद रचे जाते न चण्डीदास के। इसी तरह आधुनिक काल में देशभक्ति की जो लहर सारे देश में फैल गई, उसमें अनेक जातियों के लेखकों का हाथ था। इसलिए किसी भी भाषा के साहित्य पर गर्व करते हुए उसके प्रेमियों को यह न भूल जाना चाहिए कि उसका विकास दूसरों के सहयोग से ही सम्भव हुआ है और उससे मिलती-जुलती विशेषताएं दूसरों के साहित्य में भी हैं।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, वास्तविक स्थिति यह है कि बंगाल आदि राज्यों में बँगला-जैसी समृद्ध भाषाएं भी वहाँ के राजकाज की भाषाएं नहीं बनीं। अंग्रेजी का बोलबाला अब भी है और तनाव अंग्रेजी और देशी भाषाओं के बीच नहीं, हिन्दी और यहीं की दूसरी भाषाओं के बीच है। हिन्दी-प्रेमियों का हित इस बात में है कि बँगला आदि भाषाएं राजकाज के लिए अपने प्रदेश में पूरी तरह काम में लाई जाएं। जब तक अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में वहाँ की भाषाएं अपने पूर्ण अधिकार नहीं पातीं, तब तक उनके बीच हिन्दी भी पूरी तरह परस्पर व्यवहार का माध्यम नहीं बन सकती। इसके विपरीत उन्हें डर रहेगा कि हिन्दी हमारी जगह छीनना चाहती है ।

इधर शिक्षा के माध्यम को लेकर जो विवाद चल पड़े हैं, उनसे परिस्थिति और बिगड़ गई है। कई जगह यह प्रचार किया गया है कि किसी भाषा-विशेष के बदले हिन्दी ही शिक्षा का माध्यम बनेगी। तर्क यह होता है, हर जगह हिन्दी शिक्षा का माध्यम न होगी तो विश्वविद्यालय आपस में ज्ञान-विनिमय न कर सकेंगे, विज्ञान की उन्नति न हो सकेगी, देश की सांस्कृतिक एकता टूट जायगी, इत्यादि। इस स्थिति से लाभ उठाकर अंग्रेजी-भक्त कहते हैं– "यह सब बहस बेकार है, सबसे भली अंग्रेजी; इससे नया ज्ञान भी मिलेगा, पारिभाषिक शब्द गढ़ने की समस्या भी न रहेगी और भारत की एकता भी बनी रहेगी।" इधर कुछ विश्वविद्यालय इस ओर काफी सरगरमी दिखा रहे हैं। विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में जितना ही वहाँ की भाषाओं के हक मारे जाएंगे, उतना ही अंगरेजी उनके सिर पर सवार रहेगी, यह बात असंदिग्ध है। आवश्यकता इस बात की है कि देश की भाषाएं समान अधिकार पाकर विकसित हों और इनके बोलनेवाले अन्तर्जातीय व्यवहार के लिए हिन्दी अपनाएं; साहित्य के क्षेत्र में बड़प्पन की होड़ लगाने के बदले भारतीय साहित्य की सामान्य विशेषताओं को भी पहचानें और एक-दूसरे से सीखने की बात सोचें। यद्यपि कुछ पढ़े-लिखे लोगों और धनी जनों में जातीय द्वेषभाव काफी बढ़ा हुआ है, तथापि जनसाधारण में परस्पर प्रेम

और देशभक्ति के भाव कितने दृढ़ हैं, इसका एक प्रमाण गोआ का सत्याग्रह है। इस छोटे-से प्रदेश को मुक्त कराने के लिए बँगला, मराठी, पंजाबी, हिन्दी आदि अनेक भाषाएं बोलनेवाले नौजवानों ने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी। किसीने यह सोचकर आगा-पीछा नहीं किया कि गोआ के लोगों की भाषा तो कोंकणी या मराठी है, हम उनके लिए क्यों जान दें! पन्द्रह अगस्त के बाद देश में जो व्यापक प्रदर्शन हुए, वे भी इसी जातीय सहयोग और देशप्रेम के सूचक हैं। जनसाधारण में यह भाईचारे का भाव देश की बहुत बड़ी सांस्कृतिक निधि है। यही वह शक्ति है जो देश को जातीय द्वेष के मार्ग से हटाकर प्रेम, समानता और सहयोग के मार्ग पर ले जायगी। इसके बिना न तो समूचे देश का विकास सम्भव है, न किसी जाति-विशेष का।

१९५५

किताबें और दीमक

लेखक के दिल की धड़कन को काले हरूफों में छिपाये रखने वाली किताबों और संस्कृति के परम और प्राचीनतम शत्रु दीमकों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। आगरा युनिवर्सिटी से पी-ऐच० डी० या डी० लिट् के लिये यह विषय बुरा नहीं है। उसकी एक ताज़ी मिसाल स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त की निबन्धावली और स्मारक-ग्रन्थ के सिलसिले में देखने को मिली।

गुप्तजी के पुत्र श्री नवलकिशोर गुप्त ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को एक कार्ड में लिखा—

"कृपया आप उनको लिखिये कि इन पर समालोचना भेजें तथा इनकी बिक्री में सहयोग दें। कारण, ये पुस्तकें अभी वैसी ही पड़ी हैं। दीमक लग जाने का डर है।"

"उनको" से मतलब इन पंक्तियों के लेखक से है।

यह कार्ड १३ नवम्बर सन् ५१ का लिखा हुआ है। पता नहीं अब तक दीमक उन पुस्तकों से संपर्क स्थापित कर पाये हैं या नहीं। कब बाबा मरेंगे, कब बैल बिकेंगे। कब मेरी समालोचना लिखी जायगी, छपेगी, आप पढ़ेंगे, हिन्दी भाषा को कृतार्थ करने के लिये कब उन पुस्तकों को खरीदेंगे ! तब तक अमरीकी तेल-कम्पनियों के मालिकों की तरह दीमक ईरान से बम्बई की तरफ़ क़दम बढ़ाते चले ही आ रहे हैं !

उज्जैन से लौटते हुए ललितपुर में बनारसीदासजी चतुर्वेदी से मुलाक़ात हो गई। चतुर्वेदी जी की बातें खत्म होने पर झाँसी के स्टेशन पर विदा होते ही मैंने गुप्तजी की पुस्तकें नवलकिशोर जी से भिजवा देने का आग्रह किया। चतुर्वेदीजी ने नवलकिशोरजी से आग्रह किया और मुझे गुप्त निबन्धावली और गुप्त स्मारक ग्रन्थ ये दोनों पुस्तकें मिल गईं।

चतुर्वेदीजी ने दीमक-सम्बन्धी नवलकिशोरजी का कार्ड भी मेरे पास भेज दिया।

चतुर्वेदी जी अपने एक पत्र में श्री नवलकिशोर गुप्त के बारे में लिखते हैं—"आज के गये गुज़रे ज़माने में २५ हज़ार रुपये कौन इस प्रकार के यज्ञ में व्यय करेगा? दूसरों के लिये उन्होंने अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित कर दिया है।"

फिर इन ग्रन्थों के स्वागत के बारे में लिखते हैं—"इन दोनों ग्रन्थों की ३००-३५० प्रतियाँ भेंट स्वरूप भिजवाई गई थीं। यही हम लोगों को मुनाफ़ा हुआ। बिक्री बहुत कम हुई है।"

बिक्री बहुत कम हुई है—बिल्कुल स्वाभाविक-सी बात है। गुप्तजी की रचनाएं क्यों बिकें? सिवा इसके कि गुप्तजी सनातनधर्मी थे और कभी-कभी हिन्दुओं के उद्धार की बात कह देते थे—इन रचनाओं में कौन सी ऐसी बात है कि संस्कृति के रक्षक उनका प्रचार करें और बाज़ार में उनकी खपत होने दें?

स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त ने जितनी बातें लिखी हैं, क़रीब-क़रीब सभी ज़माने की रफ्तार से पीछे छूट गयी हैं। भाषा और साहित्य के शाश्वत सिद्धान्तों के सामने गुप्तजी के निबन्ध हवा में उड़ जाते हैं। कैसे कोई उन्हें खरीदे?

एक सम्पादक ने गुप्तजी से लेख माँगते हुए कालम का भाव पूछा था—"आप लेख भी भेजें एक देखने के लिये कालम का भाव भी लिखें"—और "पुन:" में जोड़ दिया था—"आप लिखें कि आपने अंग्रेज़ी और संस्कृत का कितना अध्ययन किया है।" (बालमुकुन्द स्मारक-ग्रन्थ, पृ. २४४)। आज भी साहित्य-बाज़ार के मालिक कालम का भाव देखते हैं, फिर अपनी कसौटी पर गुप्तजी का अध्ययन परखते हैं। गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग, १४७ हरीसन रोड कलकत्ता, मूल्य १०)। पृष्ठ-संख्या ७२४। दस रुपये में ७२४ सफे! किस भाव पड़े?

गुप्त-निबन्धावली कांग्रेस का टिकट नहीं है कि महँगे-सस्ते बिक जाय। वह शक्कर और कपड़ा नहीं है कि ब्लैक में उसकी खपत हो जाय।

हिन्दुस्तान में बहुत-सी चीज़ों की बिक्री होती है—अच्छी बिक्री होती है। गुप्त-निबन्धावली को लोग पढ़ें तो शायद उस बिक्री को धक्का लगे।

गुप्तजी ने "ज़माना" के सम्पादक को लिखा था—"होश में आओ, ज़बाँदानी और शायरी पर लानत। कव्वाली और ढोलक का ज़माना अब नहीं है। मर्द बनो, 'ज़माना' से मुल्क की खिदमत करो।"

मुल्क की खिदमत? कव्वाली और ढोलक का ज़माना अब नहीं है? लेकिन आत्म-सम्मान बेचकर आल इंडिया रेडियो से हज़ार रुपये माहवार मिलते हों तो? कौन होश सँभाले, कौन ज़बाँदानी छोड़े? मानना पड़ेगा, हज़ार रुपये माहवार पर आत्मसम्मान की बिक्री बुरी नहीं है। ऐसे विक्रेताओं का कहना है—कव्वाली और ढोलक सलामत। मुल्क की खिदमत पर लानत! मर्द बनने पर लानत!

गुप्तजी हिन्दुस्तान की धरती के बारे में लिखते हैं—"विक्रम, अशोक, अकबर के यह भूमि साथ नहीं गई।......आगे भी यह किसी के साथ न जावेगी, चाहे कोई कितनी ही मजबूती क्यों न करे।"

यह सही है कि भूमि किसी के साथ नहीं गई लेकिन इस तरह के विचार उसकी बिक्री में बाधा डाल सकते हैं। हिन्तुस्तान की भूमि बिकती है—विदेशी कम्पनियों के हाथ, देशी महाजनों और बड़े-बड़े ज़मीदारों के हाथ। धरती के खनिज पदार्थ ही गाहक के हाथ नहीं लगते, हिन्दुस्तानी किसानों और मज़दूरों की श्रम-शक्ति भी उनके हाथ लगती है। मानना पड़ेगा, भूमि की बिक्री बुरी नहीं है। न गई होगी विक्रम, अशोक और अकबर के साथ। लेकिन इससे जो सत निकाला है आज के गाहकों ने, वह उन सामन्ती युग के मालिकों को सपने में भी न सूझा होगा।

सपने की बात कहते हुए शिवशंभु का सपना याद आ जाता है। "उसने देखा कि संसार बुलबुलमय है। सारे गाँव में बुलबुलें उड़ रही हैं।......सामने एक सुन्दर बाग है। वहीं से सब बुलबुलें उड़कर आती हैं।.....देखा, सोने के पेड़-पत्ते और सोने ही के नाना रंग के फल हैं। उन पर सोने की बुलबुलें बैठी गाती हैं और उड़ती फिरती हैं। वहीं एक

सोने का महल है। उस पर सैकड़ों सुनहरी कलश हैं। उन पर भी बुलबुलें बैठी हैं।"

काश, गुप्तजी के निबन्धों में बुलबुलों के सपने ही होते! सपनों के साहित्य की माँग है, उसकी बिक्री होती है। न सिर्फ साहित्य के बाज़ार में बल्कि शासकवर्ग की राजनीति के मीनाबाज़ार में भी। चुनाव की धूम है और सोने के महलों की, महलों पर सुनहरी कलशों की, कलशों पर बुलबुलों की कमी नहीं। मानना होगा कि सपनों के साहित्य की बिक्री बुरी नहीं है। लेकिन गुप्तजी इन सपनों को चकनाचूर कर देते हैं। वह कर्जन से पूछते हैं—"आपने माई लार्ड! जब से भारतवर्ष पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने योग्य काम भी किया है?"

शासकों से ऐसे सवाल करना बुरी आदत है। गुप्तजी के निबन्ध पढ़कर जनता में ऐसे कुसंस्कार पैदा हो सकते हैं कि वह कर्जन की गद्दी पर बैठे हुए सज्जनों से सवाल कर बैठे—"आपने बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने योग्य काम भी किया है?"

गुप्तजी बुलबुलों के सपने चकनाचूर ही नहीं कर देते, दिन की रोशनी में हक़ीक़त की तस्वीर भी दिखा देते हैं। लिखते हैं—"भारत आपके लिये भोग्यभूमि है। किन्तु इस देश के लाखों आदमी, इसी देश में पैदा होकर आवारा कुत्तों की भाँति भटक-भटक कर मरते हैं। उनको पेट भर खाने को नहीं, मैले चिथड़े पहन कर उमरें बिता देते हैं और एक दिन कहीं पकड़ कर चुपचाप प्राण दे देते हैं।"

भारत किसके लिये भोग्यभूमि है? देशी स्वामियों के लिये? विदेशी प्रभुओं के लिये? या दोनों के लिये? और हिन्दुस्तान के लोग पेट भर कर खाना नहीं पाते, आवारा कुत्तों की तरह मरते हैं? मरते होंगे, लेकिन रोटी ही तो सब कुछ नहीं है! सुनिये, हमारे बुलबुल-लोकवासी कवि क्या कहते हैं—

"देखो, मा के आँचल में जो
रत्न बँधा अविनाशी.

जगततारिणी भरतभूमि
वह नहीं भिखारिन, दासी !"

मानना होगा, गुप्तजी ने रोटी कपड़े का राग छेड़कर भारतीय संस्कृति का अपमान किया। यह राग विदेशी है, स्पष्ट शब्दों में रूसी है। भारतीय संस्कृति में दीमक लगने से अच्छा है, गुप्तजी की किताबों में दीमक लग जाय।

लिखने को बहुत-सी बातें हैं लेकिन यह लेख आलोचना नहीं है। बात है दीमक और किताबों की। कितने समझदार हैं, वे दीमक ! गुप्त निबन्धावली के राजद्रोह नामक रोग से हिन्दुस्तान के नौजवानों को बचाने के लिये वह मोटी जिल्दों की तरफ बढ़ते चले आ रहे हैं। वे जानते हैं, नये लेखक इनसे हिन्दी लिखना सीखेंगे तो बहुत से कोशकारों को रोज़ी छिन जायगी, बहुत से महापण्डितों के पाण्डित्य में चूना लग जायगा। वे जानते हैं कि नये लेखक इसे पढ़कर साहित्य के सामाजिक उद्देश्यों का सवाल उठाने लगेंगे, वे बुलबुल-लोकवासियों से ऐसे सवाल करने लगेंगे जो भारतीय संस्कृति के ठेकेदारों के हित में न होंगे। इसलिए वे चुपचाप अपने लक्ष्य की तरफ़ बढ़ते चले जा रहे हैं—नयी पीढ़ी के लिये भाग्य की चुनौती की तरह।

बनारसीदासजी चतुर्वेदी २७ नवम्बर के कार्ड में लिखते हैं—

"ऐसी समाज व्यवस्था यथा सम्भव शीघ्र ही आनी चाहिए जिसमें हम सब को अपनी रुचि के क्षेत्रों में काम करने की और अपनी सर्वोत्तम सेवा जनता जनार्दन को अर्पित करने का अवसर मिले। वर्तमान परिस्थिति में तो यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। परिणामस्वरूप हम लोगों को रेगिस्तान में खेती करनी पड़ती है !"

वर्तमान परिस्थिति में अगर यह सम्भव नहीं है तो दीमक अपनी रुचि के क्षेत्रों में काम करेंगे। चतुर्वेदी जी ने झाबरमल्लजी शर्मा के साथ मिलकर गुप्त निबन्धावली प्रकाशित की है और गुप्त स्मारक ग्रन्थ निकाला है। क्या हम इसे रेगिस्तान की खेती समझें ? प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, मुहम्मद हुसेन आज़ाद पर विद्वत्तापूर्ण लेख। हिन्दी

भाषा, ब्रजभाषा और उर्दू, हिन्दी भाषा की भूमिका जैसी सूझ-बूझ और दूरदर्शिता से भरी हुई रचनाएँ, भाषा की अनस्थिरता, हिन्दी में आलोचना, व्याकरण-विचार जैसी आलोचना-साहित्य की अमर कृतियाँ, शिवशम्भु के देशभक्तिपूर्ण चिट्ठे और खत—इन सबको रचते हुए गुप्तजी ने क्या कभी सोचा था—हम रेगिस्तान में खेती कर रहे हैं? हम पर तो उनकी रक्षा और प्रचार की ज़िम्मेदारी भर है।

रक्षा और प्रचार की यह ज़िम्मेदारी हम तभी निबाह सकते हैं जब साहित्य के बाज़ार में बुलबुलों के सपनों की खपत कुछ कम हो, जब आत्मसम्मान बेचकर संस्कृति का उद्धार करने वाले सज्जनों की नारेबाज़ी कुछ कम की जाय, जब हिन्दुस्तान की धरती और धरती के पुत्रों की मेहनत का रोज़गार करने वाले अपनी हैसियत के मुताबिक हाथ पैर फैलायें। दीमकों से गुप्तजी की विरासत की वही रक्षा करेंगे जो देश के आत्मसम्मान की रक्षा करेंगे। ऐसे लोगों से यह देश कभी खाली नहीं रहा, आज भी नहीं है। ऐसे ही लोगों से निवेदन है—गुप्तजी आपके ही अलंबरदार थे। वे राष्ट्रीय आत्म-सम्मान के रक्षक थे। लिखना सीखने के लिये अच्छे उस्ताद कम मिलेंगे। दीमक उनकी किताबों की तरफ़ बढ़ रहे हैं, इस पर ध्यान दीजिये।

१९५१

स्वाधीन भारत में हिन्दी साहित्य : प्रगति या गतिरोध

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद हिन्दी-साहित्य ने प्रगति की है या उस में गत्यवरोध है?—इस प्रश्न का उत्तर हम स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले के साहित्य से इधर के साहित्य की तुलना करके ही दे सकते हैं। हिन्दी साहित्य ने परिमाण की दृष्टि से इधर अभूतपूर्व प्रगति की है। जितनी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं पिछले दस वर्षों में छपी हैं, उतनी पहले इस गति से कभी नहीं छपीं। स्थायित्व और सौन्दर्य की दृष्टि से भी स्वाधीन भारत के हिन्दी-साहित्य की देन नगण्य नहीं है। वृन्दावनलाल वर्मा का 'टूटे काँटे' और अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' हिन्दी कथा-साहित्य की परम्परा में महत्वपूर्ण कड़ियां हैं। शिवमंगल सिंह 'सुमन', नरेन्द्र शर्मा आदि कवियों ने कविता के धरातल को ऊँचा रखा है। आलोचना में हिन्दी के अनेक युगों पर गवेषणात्मक कार्य हुआ है। फिर भी यदि सन् बीस से सन् छत्तीस तक के हिन्दी साहित्य से हम सन् चालीस से सन् छप्पन तक के हिन्दी साहित्य की तुलना करें, तो मेरी समझ में यही निष्कर्ष निकलेगा कि गुणात्मक दृष्टि से हम उस युग से पिछड़े हुए हैं। यदि हम इस बात पर भी ध्यान दें कि स्वाधीन भारत में उच्च कोटि की रचनाओं की सम्भावनाएँ अधिक हैं, तो दोनों युगों का अन्तर और भी गहरा दिखाई देगा।

साहित्य की प्रगति के लिए परिमाण काफी नहीं है; यह प्रगति गुणात्मक भी होनी चाहिए। छायावादी कवियों की उपलब्धियाँ, प्रेमचंद का कथा-साहित्य, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना—इनका स्तर हमारे नए साहित्य से निस्संदेह ऊँचा है। यह सही है कि साहित्य की प्रगति किसी भी भाषा में, किसी भी युग में, अबाध रूप से उच्च से उच्चतर धरातल पर नहीं होती जाती। यह भी सही है कि पुराने

सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की प्रतिभा की दुहाई देना सरल है और नए उदीयमान साहित्यकारों की प्रतिभा का मूल्यांकन करना कठिन है। छायावाद-काल में ही उस समय के अनेक महाकवियों का वह मूल्य न आंका गया था, जो हमारे सामने आज स्पष्ट हो चुका है। इसलिए गत्यवरोध की बात मैं नहीं मानता। पिछले दस साल में अनेक और बहुत ही महत्वपूर्ण कृतियाँ हमारे सामने आई हैं, इसमें सन्देह नहीं। फिर भी यह प्रगति सीमित है; सम्भावनाओं को देखते हुए बहुत कम है। स्थायित्व और सौन्दर्य की दृष्टि से सन्तोषप्रद नहीं है।

पुरानी पीढ़ी के लेखकों और लेखिकाओं में कुछ ने प्रायः लिखना बन्द कर दिया है, जैसे महादेवीजी वर्मा ने। कुछ लिखते हैं, लेकिन पुरानी बातें दोहराते है, वह भी उतने कलात्मक ढंग से नहीं, जैसे श्री जैनेन्द्रकुमार। कुछ लिखते हें, नए ढँग से भी, लेकिन पहले से उसका स्तर गिरा हुआ है, जैसे श्री सुमित्रानन्दन पन्त। कुछ एक ही पुस्तक के आधार पर पैसा कमाने के लिए चार पुस्तकें तैयार कर देते हैं। इसका उदाहरण देना आवश्यक नहीं। किन्तु इन सभी से शिकायत करना अनुचित लगता है। इन सबने साहित्य की यथेष्ट सेवा की है और अब विश्राम करें तो बुरा नहीं। प्रश्न यह है कि हिन्दी साहित्यकारों की नई पीढ़ी क्या अपना दायित्व समझ भी रही है? मेरी समझ में जिस लगन से इस पीढ़ी को अपना दायित्व सँभालना चाहिए, उस लगन का उसमें अभाव है। प्रत्येक कवि से हम 'कामायनी' रचने की आशा नहीं करते किन्तु यह अवश्य आशा करते हैं कि वह उद्यम से पीछे न हटे और यथाशक्ति सुन्दर कृति पाठकों को दे। कुछ अपवादों को छोड़कर नई पीढ़ी में साधना का अभाव है। इन पंक्तियों का लेखक भी अपने को इस नई पीढ़ी में गिनता है (और उसके अपवादों में नहीं, वरन् औसत लेखकों में)।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं। मेरी समझ में इसका मुख्य कारण साहित्य का व्यापारीकरण है। प्रकाशक तो व्यापारी होते ही हैं, पैसा कमाने के लिए ही वे पुस्तक-प्रकाशन का काम करते हैं। किन्तु पैसा

कमाने के साथ वे साहित्य-सेवा का काम भी कर सकते हैं। दुःख इस बात का है कि आजकल के अधिकांश प्रकाशक साहित्य से अनभिज्ञ हैं। वे या तो साहित्य पढ़ते और समझते नहीं हैं या अपने साहित्य-ज्ञान का उपयोग वे इसलिए करते हैं कि ऐसा साहित्य छापे जाएँ जो अधिक-से-अधिक बिके। यदि सन् बीस से सन् चालीस तक के हिन्दी प्रकाशक भी यही सोचते तो शायद हिन्दी की वे अधिकांश पुस्तकें प्रकाशित ही न होतीं, जिनके आलोचनात्मक अध्ययन आए दिन निकलते रहते हैं। समाजवाद आने पर प्रकाशक-व्यवस्था क्या होगी, यह प्रश्न यहाँ छोड़कर पूँजीवादी प्रकाशन-व्यवस्था के अन्तर्गत भी क्या यह आशा करना नितान्त असंगत है कि प्रकाशक अधिक विवेक से काम लेकर उच्चकोटि का रचनात्मक साहित्य प्रकाशित करें? इस समय आलोचना की भरमार है क्योंकि आलोचना बिकती है। आलोचना-क्षेत्र में जिस स्तर की 'आलोचना' है, उस स्तर की एक भी पत्रिका रचनात्मक साहित्य में नहीं है। पुरानी 'सुधा', 'माधुरी', 'सरस्वती' जैसी पत्रिका भी नहीं है। इस तथ्य से वर्तमान हिन्दी साहित्य की गतिविधि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इस व्यापारीकरण की लपेट में लेखक भी आ जाते हैं। हिंदी-साहित्य में कवियों, कथाकारों या नाटककारों की तुलना में प्रोफेसर-आलोचकों का बोलबाला है। किस की किताब कहाँ कोर्स में लगती है, किस को कहाँ का परीक्षक नियुक्त किया जाता है, ये प्रश्न उनके लिए साहित्य-रचना से अधिक महत्वपूर्ण हैं। अन्य लेखक सरकार का या किसी एम. पी., एम. एल. ए. का अथवा रेडियो और सिनेमा का मुँह जोहते हैं। साधारण शिक्षा के अभाव में विशाल हिन्दी-भाषी प्रदेश के हिन्दी-पाठकों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। कवि या नाटककार के लिए—ऊपर की आमदनी के अलावा—अपनी पुस्तकों की बिक्री से एक आदमी का पेट पालना भी असम्भव है।

हिन्दी के कुछ लेखक साहित्यकार की स्वाधीनता के प्रश्न को लेकर

बहुत चिन्तित रहते हैं। आज क्या हो रहा है, इससे अधिक चिन्ता उन्हें इस बात की है कि भविष्य में स्वाधीनता खतरे में न पड़ जाए। उनमें से अनेक महारथी समाजवादी देशों के लेखकों को दासता से मुक्त करने के आन्दोलन में लगे हुए हैं। वे यह नहीं देखते कि स्वयं उन के समाज में लेखक कितना परमुखापेक्षी बन गया है।

आए दिन साहित्य के रंगमंचों पर हम किसी मंत्री, उपमंत्री, एम. पी. अथवा एम. एल. ए. को विराजमान देखते हैं, यद्यपि साहित्य से उस का रत्ती भर सम्बन्ध भी नहीं है। हिन्दी के अनेक निर्भीक पत्रों ने इस स्थिति की आलोचना कर के अपनी वास्तविक स्वाधीन ममोवृत्ति का परिचय दिया है। हिन्दी के वयोवृद्ध आदरणीय साहित्यकार श्री हरिशंकर शर्मा ने प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के नाम एक खुले पत्र में अपनी मार्मिक वेदना प्रकट करते हुए लिखा है—"हमारी लेखनी और वाणी दोनों, सत्ता के भारी भार अथवा अनुशासन के प्रबल प्रहार से इतनी विनीत, विनम्र या बलहीन बन गई हैं कि वह वस्तुस्थिति का सच्चा स्वरूप अंकित करने अथवा निष्पक्ष या निर्भय भाव-प्रकाशन में अक्षम-सी सिद्ध हो रही है।" हरिशंकरजी जैसे पुराने हिन्दी लेखक और देशप्रेमी को यह वाक्य लिखना पड़ा, यह परिस्थिति शासकों और लेखकों दोनों ही के लिए चिन्ताजनक है। यह एकदम सत्य है कि बहुत-से लेखक अपनी रचनाओं में वास्तविक स्थिति चित्रित नहीं करते क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के संकट हैं और रचनाओं को प्रकाशित करने की अलग कठिनाइयाँ हैं।

इस दिशा में लेखकों का एक दल निरुद्देश्य कला का झंडा लेकर मैदान में उतरा है। यदि कला निरुद्देश्य होती, फिर भी कला रहती तो कोई बात न थी। 'नई कविता' और 'मनोविज्ञान' के नाम पर हिन्दी-पाठकों को गद्य-पद्य में जो कुछ इस दल के लेखक देते हैं, उस में प्रायः कला का अभाव रहता है, निरुद्देश्यता अवश्य रहती है।

साहित्य का पौधा हमारे सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है। हमारे सामाजिक जीवन में गरीबी, निरक्षरता और उच्च वर्गों की

अनैतिकता के कारण एक भारी संकट उत्पन्न हो गया है। उस की छाप हमारे साहित्य पर भी पड़ती है। साहित्यकार इस संकट से त्रस्त हो कर बैठ नहीं सकता। उसे पाठकों की चेतना को झकझोरना है कि वे संगठित हो कर अपनी इस सामाजिक स्थिति को बदलें। किसी समय हमारे साहित्यकारों की प्रेरणा का स्रोत देश की स्वाधीनता-प्राप्ति की आकांक्षा थी। वैसा ही शक्तिशाली सामाजिक उद्देश्य उन के सामने आज भी होना चाहिए। यह उद्देश्य सामाजिक परिवर्त्तन और राष्ट्र के नव-निर्माण का है। इस उद्देश्य से हिन्दी के अनेक नए-पुराने अच्छे लेखक प्रेरणा पा भी रहे हैं।

हिन्दी में गत्यवरोध नहीं है। साथ ही स्वाधीन भारत के हिन्दी साहित्य की प्रगति भी सन्तोषप्रद नहीं है। हमें अपने आलस्य और उदासीनता पर विजय पानी है। परमुखापेक्षी लेखकों को स्वाधीन चिन्तन और वास्तविकता के चित्रण की राह पर आना है। सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय नव-निर्माण के महान् उद्देश्य से प्रेरित लेखक ही अपनी परम्परा के अनुकूल महान् साहित्य की रचना कर सकते हैं। आशा है, १९५७ में हिन्दी साहित्यकार और भी उल्लेखनीय सफलताएं प्राप्त करेंगे।

१९५७

'निराला' जी की कविता

मैंने 'अभ्युदय' (जुलाई २३, १९३४) में श्री० ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' का उक्त कवि के ऊपर लिखा हुआ लेख पढ़ा। लेख एक पार्टी-प्रौपेगैण्डा था ; कवि की कविता का कोई विशेष निरूपण न था। इन पार्टियों में कौन सत्य पर या कौन असत्य पर है, इससे मुझे कुछ सरोकार नहीं। 'निराला' जी की पार्टी-पॉलिटिक्स की और व्यक्तिगत नीति की मुझे यहाँ विवेचना नहीं करनी है। पर उनकी कविता पर दुरूहता, नीरसता, अर्थहीनता तथा छन्दों के ऊटपटाँगपन के आक्षेप नये नहीं हैं। एक हिन्दी-प्रेमी और विशेषकर कविता-प्रेमी के नाते मुझे यह आक्षेप खटकते अवश्य हैं। यदि वे किसी बात के परिचायक हैं तो कवि की नहीं, वरन् जनता की अक्षमता के ही। किसी नये कवि की कविता का तुरन्त ही जनप्रिय हो जाना सुकर नहीं। जब शेली और कीट्स जीवित थे, तब इने-गिनों को छोड़ उनकी प्रतिभा को कोई न जानता था। उस समय बायरन और टॉम मूर की तूती बोलती थी। पर इस समय मूर और बायरन से शेली की बराबरी करने का कौन दावा करता है ? शेली और कीट्स के ऊपर समालोचकों ने उस समय कैसे कठोर आक्रमण किये, यह किसी अंग्रेजी साहित्य से सम्पर्क रखने वाले से छिपा नहीं। आजकल के इसी भाँति के दुरूहता के आक्षेपों से निराला जी का काव्य-सौन्दर्य भी सदा के लिए छिपा न रहेगा।

निराला जी की कविता नये युग की आँखों से यौवन को देखती है। नायक-नायिकाओं की रसरीति के बहुत से वर्णन हुए, पर यहाँ एक नवीन सौन्दर्य है। यौवन का ज्वार हृदय-सीमाओं के ऊपर उफन रहा है और सामने कवि-संसार की चिरपरिचिता और चिरपूजिता नारी एक नवीन सौन्दर्य लेकर अवतरित हुई है। इस कविता में वियोगी की

गर्म आहें नहीं हैं, आँसुओं की वृष्टि नहीं है; वियोग में भी मिलन के लिए उद्दाम वासना है। शेली की कविता में मिलन में भी आँसू हैं। कान्ता से मिलते ही कवि का हृदय टूक-टूक हो जायगा। अपनी प्रेमिका से कवि कहता है कि इस हृदय को फिर अपने हृदय से लगा ले, जहाँ यह अन्त में टूट जायेगा:—

Oh press it to thine own again,
Where it will break at last.

कीट्स की कविता में इसके विपरीत संसार-सौन्दर्य के प्रति उल्लास है। वही हम निराला जी की कविता में पाते हैं। निराला जी के लिए यह लिखना—

विरह अहह कराहते इस शब्द को,
किस कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोक से,
निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा

उतना ही दुर्लभ है, जितना पन्त जी के लिए यह लिखना कि—

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?

यह नहीं कि निराला जी ने विरह, मृत्यु आदि विषयों पर लिखा न हो। जहाँ लिखा है वहाँ खूब लिखा है।

जीवन का दिन बीत चुका। शरीर के अङ्गों से प्राण-शक्ति निकला चाहती है! उसी का कितना सजीव चित्र है :

हमारा डूब रहा दिनमान !
विकल डालियों से झरने ही पर हैं पल्लव-प्राण—
हमारा डूब रहा दिनमान।

'निराश यौवन का शेष' नाम की कविता में अद्‌भुत चित्रण है। वसन्त बीत गया और नायिका अब पछता रही है कि हाय

सुमन भर न लिये सखि वसन्त गया !

इस प्रकार की निराला जी कि कविताएं बहुत नहीं। उनकी अधिकांश सुन्दर कविताओं में तो यौवन और सौन्दर्य अनेक-अनेक रूप धारण कर हिलोरें लेते हैं। इस शैली के प्रत्यक्ष वर्णन देखिए। यहां अनङ्ग-सौंदर्य का नहीं, वरन् सुन्दर वस्तु का चित्रण है :—

देख यह कपोत-कण्ठ
बाहु बल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन क्षीण कटि—
नितम्बभार-चरण सुकुमार—
गति मन्द-मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का ;
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।

यह पञ्चवटी-प्रसङ्ग में सुन्दरी के रूप में शूर्पणखा की उक्ति है।

निशा का कितना सजीव वर्णन है। निःशरीर की भी कवि सशरीर के रूप में कल्पना करता है :—

भूषण वसन सजे गोरे तन,
प्रीति भीति काँपे पग उर मन,
बाजे नूपुर रुन-रिन-रन-झन,
लाज विवश सिहरी।
खड़ी सोचती नमित नयन-मुख,
रखती पग उर काँप पुलक-मुख
हँस अपने ही आप सकुच धनि
गति मृदु मन्द चली।
निशा के उर की खिली कली।

प्रियतम के पास पहुँचने पर उसी अभिसारिका को देखिए—

मूँद पलक प्रिय की शय्या पर
रखते ही पग, उर धर-धर-धर
काँप उठा वन में तरु-मर्मर
चली पवन पहली।

निशा के उर की खिली कली ।

पहिली दो लाइनों में नायिका अपने प्रिय की शय्या पर पग रखती है। इसके आगे का वर्णन कवि नहीं करता । प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे से मिल कर अपने आपको भूल जाते हैं। कानों में केवल दूर पत्रों का मर्मर शब्द सुनाई देता है और अङ्ग में मधुर वायु का झोंका लगता है। सहसा हवा का झोंका लगने से, बादल गरजने से, और दूर कहीं संगीत की ध्वनि कान में पड़ने से प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के और निकट आ जाते हैं। कवि ने उसी बातको प्रत्यक्ष न कह इस लाक्षणिक ढङ्ग से कहा है।

जिस प्रकार शेली की कविताओं में कभी-कभी उपमाओं की भरमार हो जाती है, उसी प्रकार 'तुम और मैं' नामक कविता में भी उपमाओं का ताँता लगा कर कवि ने तुम और मैं को विश्वमय कर दिया है।

तुम प्रेममयी के कण्ठहार
मैं वेणी काल नागिनी
तुम कर-पल्लव झंकृत सितार
मैं व्याकुल विरह रागिनी ।
तुम पथ हो मैं हूँ रेणु
तुम हो राधा के मनमोहन
मैं उन अधरों की वेणु ।

इस तरह के चित्र कवि की प्रायः प्रत्येक कविता में मिलेंगे । अतः अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं ।

ऊपर कहा जा चुका है कि निराला जी ने यौवन और सौन्दर्य की कविता की है। उनका प्रेम न वासना ही है न वासनाहीन प्रेम ही । दो सुन्दर युवक-युवतियों में जो प्रेम होता है, उनके हृदय में वासना और त्याग के जो भाव उठते है, कवि ने उन्हीं के अनेक पहलुओं को देखा है।

मिल गये एक प्रणय में प्राण,
मौन, प्रिय, मेरा मधुमय गान !

प्रेम की एकता में जब प्राण एक हो गये, तो कवि का गान बन्द हो

गया। कली की सुगन्ध से ही वह पहले आकर्षित हुआ था और उसके सौन्दर्य को देख कर उसके हृदय से सङ्गीत फूट पड़ा था :—

सुरभि से मिला आशु आह्वान
प्रथम फूटा प्रिय, मेरा गान।

अब उसकी अनैसर्गिक छवि भी देखिए। सारा संसार उसके रूप-रस को पीता है। भ्रमर भी उसकी नग्न सुन्दरता देखकर उसी के प्राणों से अपने प्राणों को मिला देता है :—

वन्य-लावण्य-लुब्ध संसार
देखता छवि रुक बारम्बार
सहज ही नयन सहस्र अजान
रूप विधु का करते मधुपान।
मनोरञ्जन में गुञ्जन लीन
लुब्ध आया, देखा आसीन
रूप की सजल प्रभा में आज
तुम्हारी नग्न कान्ति, नव लाज।
मिल गये एक प्रणय में प्राण
रुक गया, प्रिय, तब मेरा गान।

यह तो हुई प्रेम के आदर्श की बात। पर उठते यौवन और उसकी भावनाओं का जैसा चित्रण निराला जी ने किया है, वैसा बड़े-बड़े कवियों में ढूँढ़ने पर ही मिलेगा।

बन्द कञ्चुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्यङ्क पर सोती शेफालि के।
मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

रूप की एक-एक रेखा बोल रही है। इसी भाँति—

विजन-वन-वल्लरी पर

सोती थी सुहाग भरी—स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल -कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल—पत्राङ्क में।

दूरस्थ नायक के पास अभिसारिका निशि का जाना हम ऊपर देख चुके है। अब सुप्त नायिका के पास दूर से नायक का आना देखिए।

वासन्ती निशा थी,
विरह-विधुर प्रिया सङ्ग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात।
(An' I'll come to thee again my love
Though it were ten thousand miles.
—Burns)

वन-उपवन, कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार करते हुए आतुर पवन के चित्र की सुन्दरता पर ध्यान दीजिए। अब उस सोती नायिका के इस उत्कृष्ट वर्णन को देखिए—

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा माँगी नहीं
निद्रालस बङ्किम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा-पिये, कौन कहे ?

नायक नहीं जानता कि वह सचमुच सो रही है अथवा उसका आना जानकर, जान-बूझ कर आँखें मँदे हुए है। दोनों ही प्रकार की क्रियाएँ हुआ करती हैं। पर वह अपने आवेग को नहीं रोक सकता—

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की

कि झोंकों झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह, सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल ।
इस पर तो नायिका जाग पड़ी, किंवा जागने का बहाना किया :—
चौंक पड़ी युवती,
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्र मुखी हँसी—खिली,
खेल रङ्ग, प्यारे सङ्ग ।

सदियों की वही पुरानी बात, पर कवि के अनुभव की सजीवता ने कविता की रग-रग में स्पन्दन भर दिया है ।

प्रेमिका आनन्दमय जीवन के आलोक में स्नान करने के लिए अपने सोते प्रियतम को बुलाती है ।

वासना प्रेयसी बार-बार
श्रुति-मधुर मन्द स्वर में पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में, प्रिय, आई बहार,
बहती इस विमल वायु में
वह चलने का बल तोलो—
मुद्रित दृग खोलो ।

एक दूसरी प्रभाती में भी तोरूलता दत्त की भाँति—
Still barred thy doors—प्रेमिका पुकारती है—

बन्द तुम्हारा द्वार !
मेरे सुहाग श्रृङ्गार !
द्वार यह खोलो !

एक तीसरी नायिका की पुकार सुनिए :—

सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन नीर,

शयन शिथिल बाँहें
भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन मुक्त कर दो
सब सुप्ति सुखोन्माद हो;
छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार कामी केशगुच्छ।
तन मन थक जायँ—

यह दिमाग से ज़बरदस्ती निकाल कर लिखी गई कविता नहीं। इसमें यौवन का स्वाभाविक आवेश और सौन्दर्य है। शृङ्गार की कविता तब हानिकारक होती है, जब कवि में निर्जीव वासना-मात्र रह जाती है। ब्रजभाषा के अन्तिम काल के कवियों ने जैसे अपने अथवा अपने पोषकों के मन में काम-भावनाएँ जाग्रत करने के लिए कविता लिखी, उसके विपरीत मन की आकुल तरङ्गों के सीमा तोड़ने पर यह कविता कवि हृदय से फूट निकली है—जैसे किसी नायिका का सङ्गीत अन्तःपुर को पार करता हुआ दूर सुनाई देता है।

Music sweet as love which oveflows her bower—
Shelley.

निरालाजी की प्रकृति-विषयक कविता में वैसे ही भाव हैं, जो प्रकृति को देखकर एक मत्त कवि-हृदय में उठेंगे। उठते हुए श्याम घन देखकर कवि अपने गान को हृदय में दबाकर नहीं रख सकता—

आज श्याम-घन श्याम, श्याम छबि,
मुक्त कण्ठ है तुम्हें देख कवि
अहो कुसुम- कोमल कठोर पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र रवि संस्तुत
नयन मनोरञ्जन
बने नयन अञ्जन।

बरसते हुए बादल को देखकर कवि किसी दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के चक्कर में नहीं पड़ता। बरसते मेघ को देखकर उसका हृदय भी आनन्द से नाच उठता है और मेघ से केवल यही प्रार्थना करता है—वाह ! खूब बरसा, और बरस।

नदी-नाले तथा सर्वत्र पानी बहता देखकर कवि की स्वाभाविक उक्ति है —

देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल—बेकल।

सन्ध्या के सौन्दर्य को देखकर भी कवि का गान रोके नहीं रुकता—

कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

इस प्रकार की निराला जी की कविताओं का अनूठापन यही है कि उनमें सच्चा प्रकृति-जन्य आनन्द है। एक उत्कट प्रकृति-प्रेमी के हृदय में किसी सुन्दर दृश्य को देखकर जो भाव उदय होंगे, उन्हें ही हम यहाँ पाते हैं। इनमें वर्ड्सवर्थ की भाँति कोई प्रकृतिवाद नहीं है। पर इनकी स्वाभाविकता तथा भावावेग मनुष्य को बरबस प्रकृति के सामने ला खड़ा करेंगे। एक उदाहरण और लीजिए। प्रातःकालीन प्रकृति की शोभा देखकर कवि का हृदय पुलकित हो उठता है। वह अपने हृदय को अपने आराध्य के चरणों पर अर्पित करना चाहता है। पहले वह अरुण किरणों की छवि देखता है। फिर—

मार पलक परिमल के शीतल
छन छन कर पुलकित धरणीतल,
बहती है वायु, मुक्त कुन्तल,
अर्पित है चरणों पर मेरा यह हृदय-हार—
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन-वन के बहार !

सुगन्धित वायु पृथ्वी के हृदय को पुलकित करती है; साथ ही कवि-हृदय को भी। यहाँ कौन बड़ा कौन छोटा, कौन चेतन कौन अचेतन ?

पृथ्वी, कवि, वायु, सब एक ही संसार के एक दूसरे की भाषा समझने वाले प्राणी हैं। शेली में प्रकृति के प्रति जो अभेद तन्मयता देखते हैं, वही यहाँ है।

ऊपर दिये गये उद्धरणों से पाठक देखेंगे कि निराला जी की कविता समझने के लिए किसी रहस्यवाद, छायावाद और फ़िलॉसफी में पारङ्गत होने की आवश्यकता नहीं। कविता हृदय की भाषा है। उसको समझने के लिए अधिक आवश्यकता भावुकता की है, न कि फिलॉसफी की। उसका रस लेने के लिए भावों को सभ्य बनाना चाहिए, अपने कविता के स्वाद को सुशिक्षित बनाना चाहिए। जिस प्रकार खान-पान में सभी का स्वाद एक समान ऊँचा और बारीक नहीं होता, उसी प्रकार कविता के सूक्ष्म भावों की सुन्दरता जाँचने की शक्ति भी सब में समान नहीं रहती। १९ वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध लेखक मैथ्यू आर्नॉल्ड ने अपने एक लेख में 'टेस्ट' (स्वाद) को सुशिक्षित करने की सलाह दी है। इसके लिए उन्होंने एक तरीका भी बताया है कि प्रसिद्ध कवियों के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध काव्य-स्थलों पर निशान लगा लो। फिर पढ़ो और देखो कि तुम्हें अन्यत्र से वहाँ अधिक आनन्द आता है कि नहीं। जितनी ही अधिक अच्छी कविता पढ़ो, 'टेस्ट' उतना ही सुसंस्कृत होता जायगा। परिमल की कविताओं से कहीं गिरी कविताओं को मैंने लोगों को बार-बार पढ़ते देखा है और परिमल को ऊटपटाँग बताते सुना है, इससे उनके गिरे 'टेस्ट' का ही पता चलता है। इसका उत्तर कवि को गालियाँ देना नहीं, वरन् स्वयं काव्य-मनन कर उसे समझने की शक्ति उत्पन्न करना है।

अँगरेज़ कवि डॉन और ब्राउनिङ्ग ने अपनी कविता को अधिकांश में जिस प्रकार दुरूह बना दिया है, वैसा निराला जी ने नहीं किया। यदि हम उनके भावों को नहीं समझते तो इसलिए नहीं कि कवि ऊटपटाँग बोलता है, वरन् इसलिए कि वह हमसे अधिक ऊँचाई पर है। इसके लिए कवि नीचे उतर कर न आयेगा, हमें ही ऊपर चढ़ना पड़ेगा।

जिस प्रकार हम किसी बड़े कवि की किसी लाइन पर अटक कर उसी के रस-सिन्धु में गोते लगाते रह जाते हैं, वही बात यहाँ भी है।

ऊँचे काव्य की यही निशानी है। कवि कहे थोड़ा, पर उसमें इतना रस हो कि पढ़ने वाला उसी में डूबता उतराता रहे। भौंरा फूल के पास जाकर उसके सौरभ पर मस्त होकर गूँजता रह जाता है।

देख पुष्प-द्वार,
परिमल-मधु-लुब्ध मधुप करता गुञ्जार।

निराला जी ने अपने छन्दों के विषय में स्वयं बहुत कुछ लिखा है। उनके विषय में अधिक न कह कर भाषा के विषय में इतना कहूँगा कि शब्द चुने हुए और प्रसादगुण से पूर्ण होते हैं।

आँखें अलियों सी, किन मधु की गलियों में फँसी,
बन्द कर पाँखें पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोई हैं कमल-कोरकों में ? बन्द हो रहा गुञ्जार—
जागो फिर एक बार !

यदि एक भी कर्कश शब्द हो तो बताइए ! क, म, प आदि कोमल अक्षरों की आवृत्ति से कितना माधुर्य आ गया है। इसी प्रकार का शब्द माधुर्य ऊपर के अन्य उद्धरणों में भी मिल सकता है। आधुनिक कवियों में मैं निराला जी को सबसे मधुर भाषा लिखने वालों में से समझता हूँ।

१९३४

'निराला' : एक शब्दचित्र

'निराला' को चित्रित करने के लिए फ्रेस्को चाहिये; स्केच में उसकी विचित्रता अचित्र ही रहेगी। बहुत मोटी आउटलाइन भर यहाँ दी जा रही है।

बोटिंग के लिए जाते हुए गाँवों में ठहरने पर पंतजी को कुछ देहाती टाइप्स देखने को मिले और तब वह समझे कि 'निराला' में ठेठ किसान-पन था। थोड़ा-सा और सूक्ष्म विवेचन करने पर मालूम हो जायगा कि 'निराला' का किसान बैसवाड़े का है, अवध के किसी अन्य भाग का नहीं। 'निराला' के पिता आदि बैसवाड़े के रहनेवाले थे; उनसे बैस-वाड़ीपन पूर्ण मात्रा में पाया है। फिर भी गाँववालों के लिए वह कम आश्चर्यजनक नहीं, वे उसे बिल्कुल अपने में का समझते हों, ऐसा नहीं है।

'निराला' की शिक्षा-दीक्षा बंगाल में हुई है। बैसवाड़े का रहनेवाला जब तक उसे बाहर की हवा न लगी हो, लंबे-लंबे बाल रखाये, यह कल्पनातीत है। बंगाल की शिक्षा कुछ हद तक उसे किसानों से अलग रखती है।

'निराला' को बचपन में कुश्ती-कसरत का शौक रहा और सक्रिय रूप में वह काफ़ी दिनों तक जारी रहा। अब भी वह दूसरे रूपों में विद्यमान है। शारीरिक गठन बिगड़ जाने पर भी उसके व्यक्तित्व का प्रभाव आस-पास वालों पर बिना पड़े नहीं रहता। सिनेमा-घर में एक बार दो पठान उसे देखकर कुछ कह रहै थे; पूछने पर कहा—यह पुराने जमाने का लोग है। अब यहां ऐसा लम्बा-चौड़ा आदमी पैदा नहीं होता।

यह कसरती और उद्धत व्यक्तित्व उसके साहित्य की खास चीज़ है:

मेरा अन्तर वज्र कठोर ।
देना जी भरसक झकझोर—

विधाता को चैलेंज देकर उसने बहुत पहले लिखा था । उसकी कविताओं में जो अद्‌भुत पुरुषार्थ व्यक्त है, जो विद्रोह की, विजय-कामना की भावना वर्तमान है, वह बैसवाड़े की भूमि की श्रेष्ठ देन है । सड़कों पर मैले-कुचैले कपड़े पहने, तहमद में स्याही का भारी धब्बा लगा हुआ, फटे चप्पल या नंगे पैर बड़े बाल रखाये उसे लापरवाही से अमीनाबाद में चलते देखा है । लोगों ने कहा—'जान बूझकर बनता है, सनकी है ।' कुछ नहीं, वह सामाजिक विद्रोह की एक भावना मात्र थी । 'तुमने कपड़ों को पूजना सीखा है, मनुष्य का आदर करना नहीं ।' 'देवी' कहानी में 'निराला' ने पगली को देवी बनाके पूजा है ।

और दूसरी तरफ बंगाल की दखिना पवन और रवीन्द्रनाथ की कविता, इनसे भी उसे प्रेम रहा है । सफेद कपड़ों में लकदक, इत्र फुलेल से सजकर किसी सभा आदि में जाना भी उसे प्रिय है, या कुछ दिन पहले था । उसके ओठों की रेखाओं में एक ऐसी स्त्रैण कोमलता है जो उसके शेष व्यक्तित्व के साथ साम्य नहीं खाती । 'निराला' ने यह भी लिखा है,—

अंधकार में मेरा रोदन—
सिक्त धरा को करता है क्षण-क्षण—

जिसमें बंगला-साहित्य की 'अश्रु सरस महानंदे' वाली कविता की प्रतिध्वनि सुनाई देती है । ५८ नं० नारियलवाली गली में 'निराला' की इस रूप में कल्पना करने पर कविता की सारी गंभीरता नष्ट हो जाती है ।

बैसवाड़े के किसान की रूढ़िप्रियता, धार्मिकता भी उसमें है । सामाजिक उच्छृङ्खलता के होते हुए भी 'निराला' घोर धार्मिक व्यक्ति है; और उसके व्यक्तित्व को किसी ओर से ख़तरा है, तो धर्म की ही ओर से । बैसवाड़े का पुरुषार्थ जब बंगाल की कोमलता से मिल जाता है तो 'जुही की कली' लिखी जाती है, दोनों में प्रतिस्पर्धा होने पर 'तुलसीदास', जब केवल वह किसान रहता है तब 'देवी', 'चतुरी चमार', 'परिमल'

की बहुत-सी कविताएँ। उसकी आंतरिक रुधिर में व्यापी हुई परुषता बहुधा ऊपर रहती है; इसीलिए अधिकांश कविताओं में हिंदी की ओजपूर्ण वृत्तियाँ पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। उसकी कोमलता उसके लिए एक रोग है ; उसकी परुषता को धक्का पहुँचाती है।

शायद दखिना पवन न लगी होती तो वह रहस्यवादी न होकर एक बड़ा विद्रोही होता।

१९३९

निरालाजी और हिन्दी के प्रकाशक

अपनी शोकपूर्ण कविता "सरोज-स्मृति" में निरालाजी ने बड़ी व्यथा से लिखा है;

दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज जो नहीं कही !

दुख की इस कथा का सम्बन्ध रहस्यवाद की समझ में न आसकने वाली गुत्थियों से नहीं है। इसका सम्बन्ध जीवन की कठोर वास्तविकता से है; लेखकों के खूनसे लिखी हुई रचनाओंको कौड़ीके मोल खदीदनेवाले प्रकाशकों से है। निरालाजी के साथ जो व्यवहार किया गया है, वह लेखकों के शोषण की जीती-जागती मिसाल है। औरों के साथ भी प्रकाशक ऐसे ही व्यवहार करते हैं; यह उनका दस्तूर है । उनके लिये कविता, साहित्य, समाज-सेवा कोई माने नहीं रखते; उनका देवता है, पैसा। पैसे के लिये वे साहित्य लिखाते और बेचते हैं; मुनाफे का पन्द्रह आना वे अपनी जेब में रखते हैं; एक आना लेखक को देकर हिन्दी साहित्य का उद्धार करते हैं।

एक बार सहानुभूति रखने वाले एक प्रकाशक ने कहा, "निरालाजी बेकार मारे मारे फिरते हैं। हमने उनसे कहा था, पचास रुपया महीना हमसे लीजिये और गाँव में जाकर रहिये; जो लिखिये, हमें भेज दीजिये; हम उसे छाप देंगे।" सहृदय प्रकाशक की समझ में कभी यह बात नहीं आयी कि कोई भी लेखक यों पचास रुपये माहवार पर नहीं बिक सकता; फिर गाँव में नजरबन्दी ऊपर से।

प्रकाशकों ने निराला जी के बारे में एक अफवाह जोरों से फैला रखी है कि उन्हें हजार दो हजार रुपये महीने भी मिलें, तो भी उनकी यही हालत रहेगी। नतीजा यह कि उन्हें जितना कम दिया जाता है,

वही बहुत है ! इस तर्क मे जरा सावधान रहना चाहिये और यह पता लगाना चाहिये कि एक किताब से प्रकाशक ने खुद कितना कमाया है और उससे लेखक को कितना दिया है। आप किसी अच्छे प्रकाशक के व्यक्तिगत या घरेलू खर्च का हिसाब लगाकर देखिये तो पता चलेगा कि निराला जी का खर्च उससे कहीं कम है। एक किताब का कापी-राइट खरीद कर प्रकाशक चाहता है कि उसके दिये हुए मूल्य से लेखक छः महीने खाता रहे। लेकिन यह रकम उसके अपने खर्च के लिये महीने भर को भी पूरी नहीं पड़ती। उसका खर्च पूरा पड़ता है निरालाजी और उन जैसों की कमाई से बेजा मुनाफा कमा कर।

प्रकाशकों ने एक दूसरी अफवाह भी फैला रखी है–निरालाजी तो अकेले मस्त आदमी हैं; किसी को धेला देना नहीं; जो मिलता है अपने ऊपर खर्च कर देते हैं। लेकिन प्रकाशकों की तरह निरालाजी के भी एक परिवार है। लड़कपन में ही पिता, चाचा, पत्नी आदि का स्वर्गवास होने के बाद छोटे-छोटे भतीजों और अपनी शिशु-कन्या और पुत्रका भार उन्हीं के ऊपर पड़ा। कलकत्ते में पैसा मिलने पर वे तुरन्त घर भेजते थे। उस जमाने की मनीआर्डर की रसीदें प्रकाशकों की अफवाह को उड़ा देने के लिये काफी हैं। कभी-कभी वे अपने भतीजों को अपनी संपत्ति—यहां तक कि बर्तन-भाँड़े भी बेच डालने के लिये भी लिख देते थे। उनकी कन्या सरोजका धनाभाव से ठीक इलाज न हो सका था। उन दिनों वे बहुत ही व्यथित रहा करते थे, लेकिन उन्हें परिवार का खयाल नहीं है, यह कहानी तब भी बराबर सुनायी पड़ती थी। वर्तमान आर्थिक संकट के दिनों में उन्होंने परिवार ही नहीं, अन्य सार्वजनिक सहायता के कामों के लिये भी बराबर पैसा दिया है। पैसे का अभाव रहते हुए भी उन्हें उसका मोह कभी नहीं रहा। किसी को जाड़े-पाले में ठिठुरते देखकर वे कोट या कंबल उतारकर दे देते हैं, तो लोग इसे गैरजिम्मे-दारी कहकर खुद अपनी जिम्मेदारी से बरी हो जाते हैं।

दो साल पहले जब पात्रों में निरालाजी के आर्थिक संकट की चर्चा हुई थी, तब उन्होंने कहा था, "मैं न्याय चाहता हूँ; अपनी आवश्यकता

के लिये मैंने काफी लिखा है। मैं दया की भीख नहीं चाहता।" जब उनकी पुस्तकों के कापीराइट की बात चलायी गयी थी, तब उन्होंने लिखा था, "कापीराइट जाति का है; उसका धन उसी के कामों में लगना चाहिये।"

यह याद रखना चाहिये कि निरालाजी ने जितना पैसा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लियें खर्च किया होगा, उसका हजार गुना वे अकाल-पीड़ितों और दूसरे दीन-निर्धनों पर खर्च कर चुके हैं और यह सब अपनी गाढ़ी कमाई से; उनके लिए मुनाफेखोरी का रास्ता नहीं खुला था।

एक बात ध्यान देने की है कि कोई एक ही प्रकाशक बराबर उनकी पुस्तकों का खरीदार नहीं रहा। 'हिन्दी-बंगला-शिक्षा' के प्रकाशक 'बेरी एण्ड कंपनी' से लेकर 'अणिमा' के प्रकाशक 'युग-मन्दिर' तक हिन्दी के अनेक छोटे-बड़े प्रकाशकों ने उनकी किताबें खरीदी हैं। इसका एक कारण यह है कि उनके साथ प्रकाशकों का व्यवहार कभी संतोषप्रद नहीं रहा; इसलिये उन्हें बराबर एक के बाद दूसरी दूकान आजमानी पड़ी। हालाँकि हर जगह उन्हें एक ही रंग दिखाई दिया। साहित्य में उनका प्रवेश भी प्रकाशकों और संपादकों के कारण रुका रहा। उनका पहला लेख सन् १९ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था, लेकिन चार साल तक, जब तक "मतवाला" नहीं निकला, वे अपने वास्तविक कवि-रूप में जनता के सामने नहीं आ सके। कलकत्ते से एक छोटा सा संग्रह निकला 'अनामिका'; लेकिन कविताएँ उन्होंने इससे बहुत ज्यादा लिखी थीं। उनका पहला अच्छा कविता-संग्रह—जब वे कवि-रूप में खूब प्रसिद्ध हो चुके थे—सन् '२९ में 'परिमल' नाम से निकला। कहाँ सन् '१९, कहाँ सन् '२९ ! हिन्दी कविता की प्रगति को यों रोक रखने का श्रेय हमारे पूँजीवादी प्रकाशन को है।

निराला जी कवि सबसे पहले हैं बाद को और कुछ। लेकिन प्रकाशकों ने उन्हें हमेशा कविताएँ लिखने से निरुत्साहित किया। अपनी पत्रिका में कविताएँ छापते, तो यह भी बता देते कि इस कारण पत्रिका

का "सेल" घट रहा है ! उस पर से दावा उन्होंने यह किया है, हमने निराला को महाकवि बनाया है !—जैसे उन्होंने प्रेमचन्द को उपन्यास-सम्राट् बना दिया था !

निराला जी अनेक वर्षों के परिश्रम से—"बाज़ार" का और काम करते हुए – एक संग्रह के लिये कविताएँ लिखते हैं। इनके कापीराइट से उन्हें उतना रुपया भी नहीं मिला जितना किसी कालेज का अध्यापक कापियाँ देखकर पन्द्रह दिन में कमा लेता है ! उन्होंने अपने कवि को जीवित रखा है, इस प्रतिकूल परिस्थिति का विरोध करके, अपनी कला और जनता से सच्चे प्रेम के कारण !

"देवी" कहानी में निराला जी ने लिखा है, किस तरह कामशास्त्र पर पुस्तकें लिखकर, भारतीय संस्कृति की दुहाई देने वाले लोग उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। उन्होंने कभी इस तरह कला को नीचे गिरा कर पैसा कमाने की कोशिश नहीं की। लेकिन प्रकाशक ज्यादातर यही चाहते हैं। निराला जी को अपने साहित्य के प्रकाशन के लिये कदम-कदम पर लड़ना पड़ा है। पुस्तकें ही नहीं, पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख छपाने में भी उन्हें प्रकाशकों की व्यक्तिगत या वर्गगत रुचि से लोहा लेना पड़ा है। भला कौन विश्वास कर सकता है कि अभी दस-बारह साल पहले उन्हें श्री सुमित्रानन्दन पंत और स्व. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर अपने लेख नष्ट कर डालने पड़े होंगे ? ये सुन्दर लेख इसलिये नष्ट किये गये कि जिसके लिये लिखे गये थे, उन्हें वे स्वीकार न थे।

हिंदी के प्रकाशक साहित्य के मामलों में अपने को साहित्यकार से ऊँचा ही समझते हैं। इन लोगों ने निराला जी के साहित्य पर ऊँच-नीच कहने की भी हिम्मत की है। ऐसे ही एक सज्जन को निराला जी ने एक पत्र में लिखा था, "गीत अगर आपको पसन्द नहीं, तो इसके ये मानी नहीं कि हिन्दी में सुलभ हैं।"

निराला जी ने कई पत्रिकाओं में सम्पादकीय और दूसरी तरह के नोट लिखे हैं, लेकिन उनका श्रेय लिया है उन प्रकाशकों ने, जो पूँजी के बल पर सम्पादक भी बन गये थे !

ऐसे ही एक प्रकाशक–सम्पादक से उनका पत्र-व्यवहार देखिये। निराला जी पर मुकदमा चल रहा है। रुपया जमा करना ज़रूरी है। २५) नहीं तो १०) से भी काम चलाने की बात वह कहते हैं। लेकिन उन्हें महाकवि बनाने वाले प्रकाशक जी "अर्थ-कष्ट" के कारण १०) भी नहीं दे सकते!

निराला जी का पत्र:—

"प्रिय.........

कल घर जाना चाहता हूँ। किश्त समझना है। अभी अदालती नकल नहीं ली। संभव हुआ—अगर आपसे २५) मिलें तो किश्त दे दूँगा, नहीं तो घूम फिर कर होली बाद चला आऊँगा। यदि २५) नहीं तो १०) दीजियेगा।

इति।

"निराला"

प्रकाशक जी का उत्तर:—

"किश्तें आप २५ एप्रिल से देना शुरू करें। २५ एप्रिल तक बड़ा अर्थ-कष्ट रहेगा। इधर मैंने काम भी कम किया।"

यों दस-दस रुपयों के लिये हमारे बड़े-बड़े कलाकारों को मोहताज बना दिया है इन दो-दो कौड़ी के प्रकाशकों ने!

रायल्टी और कापीराइट में जो ठग-विद्या चलती है, उसे हिन्दी के लेखक अच्छी तरह जानते हैं। लेकिन इस ठगी से भी ज्यादा निरालाजी को चोट पहुँचायी है, प्रकाशकों के व्यवहारने! ये बुकसेलर जो कल निराला जैसों के संपर्क के कारण ही याद किये जायँगे, उनसे ऐसा व्यवहार करते रहे, जैसे हिन्दी साहित्य के भाग्य-निर्माता यही रहे हों। जिन लोगों ने जीविका के दूसरे साधन रहते हुए साहित्य-सेवा की है, वे इस व्यवहार को समझ नहीं सकते। जो लेखक केवल अपनी कलम के भरोसे जीता है, वह जानता है, प्रकाशक उसकी लाचारी से कैसे फायदा उठाता है। प्रकाशक के रेट बँधे हुए हैं! काम करना हो तो करो, नहीं तो दूसरी दूकान देखो। काम करने पर भी वह हमेशा जताता रहता है

कि वह मालिक है, लेखक उसका नौकर है। "सफलता" कहानी में निरालाजी ने अपने अनुभव से ऐसे ही प्रकाशकों का चित्र खींचा है।

उनके एक गीत की पंक्ति है—"लाञ्छना-इन्धन हृदयतल जले अनल"—उनके हृदय में यह अपमान की आग जलाने का श्रेय अधिकतर हिन्दी के स्वार्थी प्रकाशकों को है। उन्होंने लेखकों की कमाई ही नहीं हड़प ली, उनके आत्म-सम्मान को अपने पैरों तले रौंदा है। जब तक यह पूँजीवादी प्रकाशन की व्यवस्था नहीं बदलती, तब तक हमारे लेखक इसी तरह लाञ्छित और अपमानित होते रहेंगे।

१९४५

निराला की युद्धकालीन कविता

युद्ध के पहले वर्षों में निरालाजी ने व्यंग्यात्मक कविताएँ लिखीं थीं। इनमें 'कुकुरमुत्ता' की विशेष चर्चा हुई। अभी तक किसी ने नाम से ही नगण्य कुकुरमुत्ता जैसी वस्तु पर लिखने का विचार न किया था। लोगों में इस बात पर मतभेद रहा कि निरालाजी इस कविता में किस पर व्यंग्य करना चाहते हैं। इस मतभेद का कारण कविता की अस्पष्टता है जो युद्ध-काल में उनके विश्वासों के डिग जाने से पैदा हुई है। कुकुरमुत्ता उनके अद्वैतवाद की नकल हो सकता है क्योंकि ब्रह्म की तरह वह बलराम के हल से लेकर आधुनिक पैराशूट तक सभी में व्याप्त है। इसके साथ कुकुरमुत्ता दीन-वर्ग का भी प्रतीक है और खाद का खून चूसने वाले गुलाब को वह कैपिटलिस्ट कहकर उसकी निन्दा भी करता है। लेकिन दुनिया से गुलाब मिटा दिये जाँय, और उनकी जगह कबाब बनाने के लिये कुकुरमुत्ते ही रह जाँय, यह रूपक भी चुस्त नहीं बैठता। उपयोगितावाद के विकृत रूप को स्वीकार करने पर ही ऐसी कल्पना सार्थक लगेगी। शायद निरालाजी ने प्रगतिवाद को इसी तरह का उपयोगितावाद समझा था। इसलिये कुकुरमुत्ता का व्यंग्य जहाँ गुलाब को मारता है, वहाँ खुद उसे भी हास्यास्पद बना देता है।

कहानी संक्षेप में यों है। एक नवाब साहब ने फारस से गुलाब मँगाकर अपने बाग में लगाये थे। वहीं एक गंदी जगह में कुकुरमुत्ता भी फूला हुआ था। फ़ारस के मेहमान को इतराते हुए देखकर देसी कुकुरमुत्ते ने उसे लताड़ना शुरू किया। अपनी खातिर वह माली को जाड़ा-घाम सहने पर मजबूर करता है। जो उसे हाथ में लेकर सूँघते रहते हैं, वह मैदाने जंग छोड़कर औरत की जानिब भाग चलते हैं। अमीरों

और बादशाहों से सम्मान पाने के कारण साधारण लोगों से वह दूर रहा है। संक्षेप में:

रोज़ पड़ता रहा पानी,
तू हरामी खानदानी।

वह उस छायावादी कविता का प्रतीक है, जो मनुष्य को ऐसे मँझधार में छोड़ देता है, जहाँ कोई सहारा नहीं होता। वह ऐसे ख्वाब दिखलाता है कि लोग मुँह से रस की बातें करते हैं और पेट में चूहे डंड पेलते हैं।

इसके बदले कुकुरमुत्ता अपने आप उगा और गुलाब से डेढ़ बालिश्त ऊँचा बढ़ गया है। वह एक तरफ भारत का छत्र है, तो दूसरी तरफ महायुद्ध का पैराशूट है। वह क्या-क्या है, इसकी कोई गिनती नहीं। हाफिज़ और रवीन्द्रनाथ भी उसके आगे मात हैं। टी. एस. इलियट और 'वर्तमान धर्म' के लेखक की शैली में काफी समानता है; इलियट पर उनकी पंक्तियाँ देखने लायक हैं:

कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर,
टी. एस. इलियट ने जैसे दे मारा,
पढ़ने वालों ने जिगर पर रखकर
हाथ कहा, लिख दिया जहाँ सारा !

नवाब का बगीचा जितना सुन्दर है, उसके खादिमों के झोंपड़े वैसे ही घिनौने हैं। मोरियों में रुका हुआ पानी सड़ता रहता था। कहीं हड्डियाँ बिखरीं थीं और कहीं और परों की गड्डियाँ पड़ी थीं। हवा में बदबू छाई रहती थी। यहीं पर किस्मत की एक ही रस्सी से बँधा हुआ 'एक खासा हिन्दू-मुसलिम खानदान' रहा करता था। यहीं पर मालिन की गोली रहती थी, जिसका नवाब की लड़की बहार से बड़ा मेल-जोल था। एक दिन बाग़ में जब बहार गुलाब देख रही थी, तभी गोली की नज़र कुकुरमुत्ते पर पड़ी। उसने कुकुरमुत्ते के कबाब की तारीफ की कि बहार के मुँह में पानी आ गया। गोली की माँ ने कुकुरमुत्ते का क़लिया कबाब बनाकर तैयार किया। बहार के मुँह से तारीफ सुनकर नवाब ने

माली से कुकुरमुत्ता ले आने को कहा। लेकिन अब बाग़ में एक भी कुकुरमुत्ता न था, सिर्फ गुलाब बच रहे थे। नवाब ने खफा होकर हुक्म दिया, जहाँ गुलाब लगे हैं, वहाँ कुकुरमुत्ता लगाया जाय, लेकिन दुर्भाग्य से कुकुरमुत्ता गुलाब की तरह लगाया नहीं जाता, इसलिये नवाब को निराश हो जाना पड़ा।

'देवी' या 'चतुरी चमार' के साथ 'कुकुरमुत्ता' पढ़ें तो साफ मालूम होगा कि निरालाजी का व्यंग्य पहले से निखरा नहीं है, बल्कि फीका पड़ गया है; नयी उलझनों में उनका लक्ष्य अस्पष्ट हो गया है।

'खजोहरा' एक हास्य की कविता है, जिसमें व्यंग्य बिल्कुल दबा हुआ है। सावन के दिनों में ग्रामीण-जीवन का चित्र ही इसमें महत्वपूर्ण है। हाईकोर्ट के मतवाले वकीलों की तरह बादल भी जरूरत की जगह न बरस कर, जहाँ पानी भरा है वहीं कहकहे लगाते हुए टूट पड़ते हैं। लोग ढोलक पर आल्हा गाते हैं और लड़कियाँ झूलों में सावन गाती हैं। सावन में भतीजा हुआ है, इसलिये बुआ भी गाँव में आयी हैं। ससुराल से फिर स्वच्छंद होकर वह ताल में नहाने चलीं। रवीन्द्रनाथ की विजयिनी की तरह वह पानी में उतरीं लेकिन कामदेव के बाणों के बदले खजोहरा ने उनका सत्कार किया। निस्संदेह निरालाजी के दिमाग में विश्वकवि की भव्य-कल्पना थी जिसमें नग्न तरुणी सरोवर की सीढ़ियों पर गीले चरण-चिह्न अंकित करती हुई अपने सौन्दर्य से कामदेव को परास्त करती है। लेकिन यह कविता उस पर पूर्ण व्यंग्य नहीं बन पायी; संकेत मात्र ही मिलता है।

'स्फटिकशिला' 'स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज और मैं' की तरह वर्णनात्मक कविता है। जिसका मुक्त छन्द अधिक उखड़ा हुआ है। उसका अन्त बड़े मार्के का हुआ है। निरालाजी ने अपनी दृष्टि की तुलना जयन्त की चोंच से की है। स्नान करके आयी हुई युवती पर निगाह पड़ते ही जीवन की ओर चाहें जैसे नष्ट हो गयीं। जानकी का स्मरण करके निरालाजी ने यह समझ कर सन्तोष किया कि इस बहाने उन्हें दर्शन दिये गये। मानवीय भावनाओं ने उनके अध्यात्मवाद को

एक बार फिर झकझोर दिया है।

नये प्रयोगों में निरालाजी की गज़लें भी शामिल हैं। इनका संग्रह 'बेला' नाम से प्रकाशित हुआ है। ग़जलों की परम्परा उर्दू में ही ख़त्म हो रही है; नये कवि नये ढँग के मुक्तक और गीत लिख रहे हैं। निरालाजी ने 'गीतिका' में भी एक ग़जल लिखी थी,...'गयी निशा वह, हँसी दिशाएँ, उड़ा तुम्हारा प्रकाश-केतन।' इस तरफ ग़जलें लिखने का विशेष कारण रघुपति सहाय 'फिराक' की हिन्दी-कवियों से वह बातचीत है जो 'तरुण' में प्रकाशित हुई थी। इस बातचीत में उन्होंने हिन्दी-कवियों को नसीहत दी थी कि पुरानी ग़जलें घोलकर पीजाने से हिन्दी वालों की भाषा चमक उठेगी। निरालाजी ने भी दावा किया है कि पाठकों की हिन्दी मार्जित हो जायगी अगर उन्होने आधे गीत भी कंठाग्र कर लिये। इन गीतों और ग़जलों में अक्सर रूपान्तर हो सकता है, उन्होंने शमा-परवाना क़िस्म के पुराने प्रतीकों का उपयोग नहीं किया। ग़जलों की परिपाटी से उन्होंने वाक्-चातुरी लेने की कोशिश की है, लेकिन इधर-उधर पंक्तियाँ खिलने पर भी वह वहुधा इस चातुरी को निबाह नहीं पाते। इसका एक कारण यह है कि उर्दू कवि सूक्तियों का ध्यान रखते हैं और निरालाजी भावना के संगठन का। उनकी ग़जलों में सम्बद्धता है, जो पुरानी ग़जलों में नहीं मिलती। अनेक ग़जलों में उन्होंने रहस्यवाद का ही रूपक बाँधा है, लेकिन कई ग़जलों में देश और समाज के बारे में भी बातें कही गयीं हैं। नाथ के हाथ पकड़ने पर वीणा का बजना, किरण पड़ने पर कमल का खिलना, प्रभु के नयनों से ज्योति के सहस्रों शरोंका निकलना पुरानी कल्पनाएँ हैं। कहीं-कहीं भौतिक सौंदर्य के वर्णन हैं, 'गीतिका' के अनेक छन्दों जैसी मांसलता है। देह के सुर बहार पर स्नेह की रागिनी बजना ऐसी ही कल्पना है। 'कहाँ की मित्रता वें हँस के बोले' इस तरह की पंक्तियों में उन्होंने उर्दू की बोलचाल का रँग अपनाया है। इन ग़जलों को पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे कवि की नयी चेतना प्रकाश में आने के लिये रूढ़ियों से टकरा रही हो। ये बन्धन तोड़कर वह चेतना अनेक बार जन-गीतों के रूप में फूट

निकली है ।

ग़जलों में अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें उन्होंने नये ढँग से नयी बातें कहीं हैं जो चित्त पर चढ़कर फिर उतरती नहीं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। संसार में वे लोग विजयी कहलाते हैं जो वास्तव में दूसरों का लहू पीकर ही बड़े बनते हैं।

खुला भेद विजयी कहाये हुए जो
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

एक ग़जल में ग़जल वालों को ही चुनौती देकर कहते हैं:

बिगड़कर बनने और बनकर बिगड़ते एक युग बीता !
परी और शाम रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

पूँजीपतियों को ललकार कर कहते हैं:

भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारी मिल में है ।।

आर्थिक कष्ट से पीड़ित जनता और आजादी दिलाने वाले नेताओं को लक्ष्य करके कहा है:

आया मजा कि लाखों आंखों से दम घुटा है,
पटली है बैठने को गोरे की साँवले से।

'नये पत्ते' में कुकुरमुत्ता वगैरह पुरानी कविताओं के साथ 'मँहगू मँहगा रहा' जैसे कुछ नये व्यंग्य-चित्र भी हैं। इस रचना में हिन्दुस्तान की राजनीति में जो नया अध्याय शुरू हुआ है, उसी की कुछ झाँकियाँ आयी हैं। गाँव में किसानों का उद्धार करने के लिये ऐसे नेता पहुँचते हैं जिन्हें जमीदार और मुनाफाखोर अपना हितू समझते हैं। राष्ट्रीयता के नये उम्मीदवार ज़मीदार की बातें सुनकर लुकुआ की समझ में नहीं आता कि यह सब क्या हो रहा है। कानपुर को लकड़ी-कोयला लादने वाला मँहगू उसे समझाता है कि कानपुर में मजदूर 'किरिया' के जो गोली लगी थी, वह मिल-मालिक के कारण, और आजकल उन्हीं की चाँदी से राजनीति चमक रही है। लेकिन हमारे लिये लड़ने वाले लोग भी हैं,

जिनके नाम अभी नहीं सुनायी देते क्योंकि "अख़बार व्यापारियों ही की सम्पत्ति हैं।" महँगू को विश्वास है कि जब बड़े आदमी अपनी धन-सम्पत्ति छोड़ेंगे तभी देश मुक्त होगा।

१९४५

दारागंज में निराला

निराला जी श्री कमलाशंकर सिंह के यहाँ जिस कमरे में रहते हैं, उसमें तीन खाटें मुश्किल से पड़ सकती हैं। कमरे में एक छोटा तख्त पड़ा है, उसी पर वह प्रायः लेटे रहते हैं। कमरे के बाहर ढाई हाथ चौड़ा (मेरे हाथों नापा हुआ) बरामदा है जिसमें फर्श पर ही बिस्तर बिछा कर वह रात में सोते हैं। गर्मियों में आस-पास के पाखाने से दुर्गन्ध उड़ा करती है। सामने की तंग गली से इक्का नहीं गुज़र सकता। इसीमें निराला जी इधर से उधर घूमते रहते हैं। मकान के सामने एक तिमँ-ज़ला इमारत है जिससे वह गली सजीव अन्धकूप मालूम होती है। निराला जी के कमरे में बिजली के पंखे जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। दो ताड़ के पंखे ज़रूर थे जिन्हें कभी वह झलते थे, कभी कोई दूसरा। अपनी अस्वस्थता के दिनों में ही उन्होंने 'अर्चना' और 'आराधना के गीत लिखे हैं। इन गीतों में उनकी सहज करुणा हृदय को छूती है। जब अनेक चोटी के साहित्यकार जनता के दुख-दर्द की उपेक्षा करके स्वार्थ-साधना में लगे हैं, तब निराला ने लिखा—

मां ! अपने आलोक सँवारो, नर को नरक-त्रास से वारो।

गीतों के अलावा वह अपने मित्रों और परिवार के लोगों को जो पत्र लिखते रहे हैं, उन्हें पढ़कर पाठक को भ्रम हो जायगा कि लिखने वाले का मन पूर्ण स्वस्थ है। यह निराला का वह रूप है जहाँ वह यथार्थ के प्रति सजग हैं और अपने सपनों को उससे उलझने नहीं देते। बातचीत में वह दोनों को मिला देते हैं, यही रोगी की विशेषता है।

इस मानसिक अस्वस्थता के साथ समय-समय पर उनका शरीर भी अस्वस्थ रहा है। सन् ४२-४३ में वह बहुत अस्वस्थ रहे और उनका वज़न काफी कम हो गया था। इस वर्ष कुंभ के अवसर पर उनके

दाहने हाथ और पैर में काफी पीड़ा रही। दाहना हाथ ऊपर उठाते हुए अभी उस दिन उन्होंने कहा कि इससे ऊपर नहीं उठ पाता। दोनों जाँघें दिखाते हुए बोले कि दाहना पैर मोड़ने में कष्ट होता था। उनकी दाहनी जांघ बाईं से लगभग एक इंच पतली भी है। कुछ दिन पहले बैठकर पाखाना-पेशाब करना भी उनके लिए संभव न था।

अब पहले से शरीर की दशा अच्छी है। काफी चक्र फिर लेते हैं। दाहने पैर पर दाहने हाथ से ताल देते हुए धम्मार की एक कड़ी उन्होंने गाकर सुनाई। फिर भी उनका शरीर अभी पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं है। साथ ही उनकी मानसिक अस्वस्थता पहले से बढ़ गई है। अब वे पिछले साल की अपेक्षा अपने आपसे बहुत ज्यादा बातें करते हैं। समय-समय पर हँसना और किसी पर क्रुद्ध होना—यह क्रिया भी बढ़ गई है। इसलिए निराला जी अच्छे हो रहे हैं या अच्छे हो गये हैं, इस तरह के सन्तोष का कोई कारण नहीं है।

निराला जी की अस्वस्थता का मूल कारण रहा है—सामाजिक उत्पीड़न। उन्हें जीवन भर अर्थ कष्ट रहा, अर्थ-कष्ट के कारण ही उन्हें अपमानित भी होना पड़ा। उसकी काल्पनिक पूर्ति यह हुई—मैं बहुत सी संपत्तिका स्वामी हूँ। काशी में जब उनका सम्मान किया गया था तब गंगा के किनारे ऊँची इमारतें दिखाते हुए उन्होंने कहा था—ये सब मैंने तुम्हारे लिये बनवा दी हैं। और अभी उस दिन २० मई को जब मैं उनसे मिलने गया तब श्री कमला शंकर सिंह का मकान दिखाकर—वह बोले — यह मकान तुम्हारे लिए अपनी रायल्टी से बनवा दिया है।

जीवन भर रूढ़िवादी साहित्य-महारथियों ने प्रचार किया कि निराला अशिक्षित है, उसे छन्द और अलंकार-शास्त्र का ज्ञान नहीं है। खासकर युनिवर्सिटी के अंग्रेज़ीदाँ वर्ग ने निराला को अशिक्षित कह कर अपमानित किया। उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप निराला जी ने अंग्रेजी बोलना शुरू किया और यह स्वप्न रचा कि उन्हें विलायत में शिक्षा मिली है

और वहाँ तथा भारत में उन्होंने अंग्रेजी में भाषण दिये हैं।

निराला जी को बहुत दिन तक यह मानसिक पीड़ा रही है कि सरकार उनके खिलाफ है और उसके गुप्तचर उनका भेद लेने आते हैं। वह बातचीत में "राज़ देने या लेने" की जो बातें करते हैं, उसका यही रहस्य है।

निरालाजी की अस्वस्थता की पूरी जिम्मेदारी उनके रूढ़िवादी विरोधियों पर है। उनकी अस्वस्थता पुरानी जर्जर सामन्ती संस्कृति और समाज-व्यवस्था का तीव्र खंडन है। इस सत्य से आँखें चुराना कायरता होगी।

निराला जी के स्वास्थ्य के लिये हम क्या करें ? चन्दा भेज कर उनकी आर्थिक सहायता करना एक उपाय है। उनका कहना है कि उन्होंने जितना लिखा है, उसकी ठीक रायल्टी उन्हें मिले तो उन्हें किसी सहायता की जरूरत नहीं। उन्होंने मुझसे चन्दा इकट्ठा करने का विरोध करने को भी कहा। २० मई को कहे हुए उनके शब्द ये हैं—

"यह सब मूर्खता है। हिन्दी-अंग्रेजी दोनों के पत्र में लिखो। वसूल की जाय तो मेरी काफी आमदनी है और सरकारी सहायता के बिना मैं गुजर कर सकता हूँ।"

निराला जी के स्वास्थ्य-लाभ के लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि उनका निवास-स्थान बदला जाय। प्रयाग के अधिकारी और साहित्यकार थोड़ी सी कोशिश करें तो दारागंज में ही उनके रहने के लिये अच्छे मकान की व्यवस्था हो सकती है। उस अंधकूप में रहते हुए उनके इलाज की आशा करना अपने को धोखा देना है।

दूसरी बात यह कि सरकार उनके स्वास्थ्य की जाँच कराये और समय समय पर इस विषय पर विज्ञप्ति प्रकाशित कराये। अभी उनकी चिकित्सा का कोई भी समुचित प्रबन्ध नहीं है। निराला जी को किसी ठंढी जगह रखा जाय तो यह सबसे अच्छा होगा। यदि इसमें अभी निराला जी की ओर से कठिनाई हो तो प्रयाग में रखकर ही विशेषज्ञों से उनकी चिकित्सा कराई जाय।

१९५४

निराला और हमारा सांस्कृतिक भविष्य

पच्चीस साल तक निराला का लगातार विरोध करने के बाद सामन्ती और पूँजीवादी-संस्कृति के अलंबरदारों ने जब देख लिया कि हिन्दी साहित्य से उनका नाम मिटा देना असम्भव है, तब उन्होंने उसे "महामानव", "महाप्राण", "ऋषि" आदि उपाधियों से विभूषित करके मंदिर में देवता बनाकर प्रतिष्ठित कर दिया और घंटा घड़ियाल बजा-बजाकर कहने लगे, यह देवता हमारा है, इसकी पूजा-अर्चना का ठेका हमने लिया है, जन साधारण के लिए मंदिरप्रवेश निषिद्ध है। लेकिन निराला के साहित्य को मिटा देना संभव नहीं हैं और जन-साधारण की सहृदयता का नाश करना संभव नहीं है। निराला के साहित्य में उसके लम्बे संघर्ष की जो कहानी लिखी हुई है, वह सभी हिन्दी-प्रेमियों के लिए चुनौती है।

एक गीत में अपने विरोधियों को लक्ष्य करके निराला ने लिखा है:

"समझ क्या वे सकेंगे भीरु मलिन मन, निशाचर तेजहत रहे जो वन्य जन, धन्य जीवन कहाँ,—मातः, प्रभातधन।"

भीरु, मलिनमन, निशाचर, तेजहत, वन्यजन—इन विशेषणों से निराला ने अपने विरोवियों को याद किया है। यही भीरु वन्यजन यह दावा करते हैं—साहित्य को जनता से दूर रखो, निराला रहस्यवादी साधक है, भारतीय संस्कृति इस रहस्य की साधना है !

पूँजीवादी संस्कृति के लिये सबसे बड़ा नैतिक मूल्य, सबसे बड़ी बुद्धिमानी यही है कि मनुष्य स्वार्थ-समर में विजयी हो। सबसे बड़ी मूर्खता, सबसे बड़ी अनैतिकता उसके लिए यह है कि मनुष्य दूसरों के दुख से दुखी होकर अपना स्वार्थ भूल जाय। निराला ने लिखा है :

"क्षीण का न छीना कभी अन्न

मैं लख न सका वे दृग विपन्न :

अपने आँसुओं अतः बिंबित
देखे हैं अपने ही मुख चित।"

कवि दूसरों का धन छीन कर स्वयं धनी बनने की बात न सोच सका, इसलिये उसने अपने आँसुओं में अपना ही मुख, अपना ही हृदय झलकते देखा है। निराला ने यहाँ जिस नैतिक मूल्य की बात कही है, वह भले ही पूँजीवादी वर्ग के लिए तुच्छ हो, तमाम भारतीय जनता के लिए वह अमूल्य है।

भारत की जनता कटु अनुभवों से असली और नकली का भेद समझती हुई अपनी एकता और संगठन के रास्ते पर बढ़ रही है। भारत की धरती को "मुँह में राम बगल में छुरी" वाली संस्कृति से मुक्त करके वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास की विरासत के आधार पर हमारी जनता जिस सांस्कृतिक-निर्माण की बागडोर संभालेगी, उसका मूल स्वर यही होगा,

"क्षीण का न छीना कभी अन्न
मैं लख न सका वे दृग विपन्न।"

निराला के विरोधी उसका क्रांतिकारी महत्व समझते रहे हैं। इसलिए वे तरह-तरह से उसका विरोध करते रहे हैं जिससे साधारण जनता उसके विचारों से प्रभावित न हो। सन् ४८ में 'हंस' का 'दमन-विरोधी' अंक निकला था। उसमें उग्रजी का लेख देखिये। उन्होंने उत्तर प्रदेश के (उस समय के) अर्थमन्त्री की यह बात तमाम जनता के सामने प्रकट कर दी थी कि उन्होंने निराला की सहायता पर विचार करना इसलिये आवश्यक न समझा कि 'निराला कम्युनिस्ट है'। जनता के प्रति शासक-वर्ग की तमाम उपेक्षा, तमाम घृणा, उसका सारा रोष इस एक शब्द में केन्द्रित हो गया—कम्युनिस्ट !

जिन नैतिक मूल्यों के लिए निराला लड़ा है, उन्हीं के लिये जनता लड़ रही है। जिन स्वार्थों के खिलाफ निराला लड़ा है, उन्हीं की रक्षा के लिये शासक-वर्ग लड़ रहा है। निराला की देशभक्तिका आधार व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है। इसीलिये उसके जनवादी विचार मेहनतकश जनता

की संस्कृति के बहुत ही निकट हैं। निराला अपने जीवन में सर्वहारा है। इसीलिये वह हमारे सांस्कृतिक भविष्य का अग्रदूत है।

निराला निःस्वार्थ-भाव से ऊँच-नीच का भेद मिटाकर सच्ची मानवता की प्रतिष्ठा के लिये लड़ता रहा है। शासकवर्ग देश की ग़रीबी और भुखमरी में इजाफा करके करोड़ों आदमियों का जीवन दूभर कर रहा है। निराला ने शासकवर्ग का यह रूप तब भी पहचान लिया था जब अहिंसावादी नेता शासक न हुए थे। इसीलिये वह पूँजीवादी नेताओं का निर्मम आलोचक रहा है। सन् १९३१ में ही उसने लिखा था—

"अभी तो दरिद्र भारत के नेता भी धनी हैं। जहाँ नेता लोभ का पूर्ण त्याग नहीं कर सके, वहाँ अनुयायी अथवा धन के बड़े-बड़े उत्तराधिकारी कैसे वह अधिकार छोड़ देंगे। अभी तो महलों में रहकर, कुटिया की सैर करके, देहात दर्शन और देहातियों को उपदेश होते हैं—पुनः मोटर पर भ्रमण करते हुए। यह शिक्षा देना नहीं, शिक्षा का एक शिक्षाप्रद हास्य है।"

प्रेमचन्द के साथ निराला उन थोड़े से दूरदर्शी और निर्भीक साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने काँग्रेसी नेताओं की असलियत बहुत पहले पहचान ली थी। शासकवर्ग द्वारा निराला की उपेक्षा और पूँजीवादी लेखकों द्वारा निराला की असलियत को झुठलाने का यही रहस्य है।

पहले महायुद्ध के बाद जब इन्फ्लुएंजा के प्रकोप से गंगा लाशों से पट गई थी, निराला ने लिखना शुरू किया था। उसका समूचा साहित्य साम्राज्यवादी शोषण की निर्मम आलोचना करता है। "अप्सरा", "अलका" आदि उपन्यासों में अंग्रेजी राज के प्रति घृणा, जनता के सक्रिय विरोध की आकांक्षा अच्छी तरह प्रकट हुई है। दिन पर दिन उनका जनवादी स्वर पुष्ट होता गया। 'देवी' 'चतुरी चमार', 'कुल्ली भाट', 'चमेली' आदि गद्य की अनुपम रचनाओं में ग़रीब जनता का मार्मिक चित्रण मिलता है। 'प्रभावती' में हम मध्यकालीन समाज में सामन्ती शोषण का रूप देखते हैं। 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' आदि कविताओं ने हिन्दी साहित्य को नयी वीर-भावना दी।

निराला निषेध का कवि नहीं है। उसकी वाणी सौन्दर्य और प्रेम की जन-सुलभ कामना प्रकट करती है। वह एक ओर विप्लव के प्रतीक बादल का आवाहन करता है तो दूसरी ओर जुही की कली और शेफाली के सौन्दर्य का स्वप्न भी देखता है। इसी कारण उसे वीतराग संन्यासी के रूप में देखना असंभव है।

निराला का कवि अपराजेय है। वह अनवरत संघर्ष, अदम्य उत्साह, अक्षय विजयकामना और असीम शक्ति का जीवित प्रतीक है। इलाहाबाद में तुलसी जयन्ती पर भाषण देते हुए उसने अपनी घोर अस्वस्थता की हालत में कहा था—"हम ढह-ढह गये हैं, टूट टूट चुके हैं लेकिन झुके नहीं हैं।" और न हिन्दुस्तान की जनता झुकी है। ग़रीब है, बदहाल है, सताई हुई है लेकिन उसका सर नहीं झुका। उसी अमर जनता का प्रतिनिधि कवि है निराला।

आज भी शरीर से आधा अपाहिज होकर वह मुसीबतों पर हँसता है। उसकी ज़िन्दादिली कायम है। जनता के उज्ज्वल भविष्य में उसका दृढ़ विश्वास कायम हैं। अभी पिछले दिनों एक सज्जन ने कांग्रेसी-नीति और जनता के असन्तोष की चर्चा करते हुए कुछ चिंतित होकर कहा—अगर यही हालत रही तो कम्युनिज़्म आ जायगा।

कवि ने मुस्करा कर कहा—

खुद कदम उठ जायेंगे
दर्दे जिगर होने तो दो!

१९५४

छायावादी कवियों की कहानियाँ

सर्वश्री प्रसाद, पंत और निराला पहले कवि हैं, फिर और कुछ। उनकी कविता में काम करने वाली प्रतिभा साहित्य के अन्य अंगों के सँवारने में भी आगे ही रहती है। वे कहानी-लेखक हैं; कहानी-क्षेत्र में उनका कवि-जगत् उनके साथ रहता है। उनकी कहानियों को पढ़कर, उन्हें अमुक कविताओं के लेखक ने ही लिखा होगा, बार-बार स्मरण हो आता है। कहीं पर कविता की पूर्व-परिचित सामग्री ही हम इन कहानियों में पाते हैं; कहीं कहानी-कला पर काव्यकला की छाप पड़ने से एक नवीन विचित्र कला का जन्म हुआ है; कहीं कहानियाँ हमें वह वस्तु देती हैं, जो उनकी कविताओं में प्रायः दुर्लभ है। इस लेख में हमें इसी की विवेचना करनी है।

१ प्रसाद जी की कविता में जिस प्रकार का प्रकृति-वर्णन, गंध, संगीत, रूप, यौवन के प्रति आकर्षण, करुणा का संदेश और सबके ऊपर बीती हुई भारतीय संस्कृति के स्वप्न की एक छाया हम पाते हैं, वही सब बातें हमें उनकी कहानियों में मिलती है। कहानी-लेखक के रूप में उन्होंने व्यक्ति और समाज की समस्याओं को सुलझाने की भी चेष्टा की है। यह बात कविता से भिन्न कहानियों की अपनी चीज़ है; कम से कम उस परिमाण में वह उनकी कविता में विद्यमान नहीं। ऐसा ही अन्य कवियों ने भी किया है। उनके अंतिम निर्णय अपने-अपने हैं। पहले प्रसादजी की कविता में प्रकृति-वर्णन लेते हैं। चाँदनी रात, नीले आकाश में चमकते नक्षत्र, संध्या, उषा, ताल और नदी का किनारा, घने पेड़ों की छाँह, शरद और हेमंत के उजले दिन, मालती कुंज—इन सबसे हम उनकी कविताओं में भली भाँति परिचित हैं। अपनी कहानियों में वे ऐसे पात्रों की सृष्टि करते हैं, जिन्हें ये सब समान रूप से प्रिय हों।

'आँधी' कहानी में श्रीनाथ का चाँदनी में ऊँघना लेखक की एक प्रिय मानसिक क्रिया का परिचायक है।

"चंदा के तट पर बहुत-से छतनारे वृक्षों की छाया है; किंतु मैं प्रायः मुचकुन्द के नीचे ही जाकर टहलता, बैठता और कभी-कभी चाँदनी में ऊँघने लगता।"

चाँदनी अन्य कवियों को भी प्रिय है ; परंतु प्रसादजी को उसमें जो मादकता मिलती है, जिससे श्रीनाथ ऊँघने लगता है, वह उनकी अपनी अनुभूति है।

उसी कहानी में अन्यत्र —

"अंधकार को भेदकर शरद का चन्द्रमा नारियल और खजूर के वृक्षों पर दिखाई देने लगा था। चन्दा का ताल लहरियों में प्रसन्न था। मैं क्षण भर के लिए प्रकृति की उस सुन्दर चित्रपटी को तन्मय होकर देखने लगा।"

'दासी' में चाँदनी की मादकता ही दर्शित है। "बसन्त की चाँदनी रात अपनी मतवाली उज्ज्वलता में महल के मीनारों और गुम्बदों तथा वृक्षों की छाया में लड़खड़ा रही है, अब जैसे सोना चाहती हो।"

शरद् की धूप इसी तरह सुस्ती लाती है—"शरद-काल की उजली धूप ताल के नीले जल पर फैल रही थी। आँखों में चकाचौंध लग रही थी। मैं कमरे में पड़ा अँगड़ाई ले रहा था।" इसी भाँति संध्या-सौन्दर्य —"संध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।....सूर्य की अंतिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं।"

प्रसादजी की कहानियों की नायिकाएँ बहुत कुछ एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं। इसका कारण लेखक का नारी की उस मादकता के प्रति आकर्षण है जो उसकी कविता में अभिव्यक्त है। अपनी इस वैयक्तिक कवि-रुचि के बार-बार अपनाने से उनकी पात्रियों में वैसी विभिन्नता नहीं आ पाई, जैसी समाज की नारियों का अधिक तटस्थ

होकर अध्ययन करने से आ पाती । वे अधिकांश युवती, रूप और यौवनवाली, प्रेमी के लिए त्याग कर सकने वाली और अपनी मादकता से लोगों को आकर्षित करनेवाली होती हैं । मादकता उनकी सामान्य विभूति है ; उसकी न्यूनाधिक छाया सब में है ।

लैला –"सुरमीली आँखों मैं कितना नशा है और अपने मादक उपकरणों से भी रामेश्वर को अपनी ओर आकर्षित करने में वह असमर्थ है। रामेश्वर पर मुझे क्रोध आया और लैला को अपने विचारों से उलझते देखकर मैं झुँझला उठा ।" (आँधी)

फीरोजा—"वह खिलखिलाकर हँस पड़ी । फीरोजा युवती से अधिक बालिका थी । अल्हड़पन, चंचलता और हँसी से बनी हुई वह तुर्क बाला, सब हृदयों के स्नेह के समीप थी ।" (दासी)

मधूलिका—"वह कुमारी थी । सुन्दरी थी । कौषेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था । वह कभी उसे सँभालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी ; वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते ।"

बनिये की लड़की—"मदिरा-मन्दिर के द्वार-सी खुली हुई आंखों में गुलाल की गदर उड़ रही थी। पलकों के छज्जे और बरौनियों की चिकों पर भी गुलाल की बहार थी । सरके हुए घूँघट से जितनी अलकें दिखलाई पड़तीं, वे सब रँगी थीं । भीतर से भी उस सरला को कोई रंगीन बनाने लगा था ।"

अनेक कहानियों में, भारतीय संस्कृति की, जैसी प्रसादजी ने उसकी कल्पना की है, छाप है । आँधी कहानी में भी, जिसकी नायिका एक बलूची बालिका है, हम इस संस्कृति का स्वप्न देखते हैं ।—"एक नया पीपल अपने चिकने पत्तों की हरियाली में झूम रहा था । उसके नीचे शिला पर प्रज्ञासारथि बैठे थे । नाव को अटकाकर मैं उनके समीप पहुँचा । अस्त होनेवाले सूर्य-बिम्ब की रँगीली किरणें उनके प्रशान्त

मुखमण्डल पर पड़ रही थीं। दो-ढाई हजार वर्ष पहले का चित्र दिखाई पड़ा, जब भारत की पवित्रता हजारों कोस से लोगों को वासना-दमन करना सीखने के लिए आमन्त्रित करती थी। आज भी आध्यात्मिक रहस्यों के उस देश में उस महती साधना का आशीर्वाद बचा है। अब भी बोधिवृक्ष पनपते हैं! जीवन की जटिल आवश्यकता को त्यागकर जब काषाय पहने संध्या के सूर्य के रंग में रंग मिलाते हुए ध्यान-स्तिमित लोचन मूर्तियाँ अभी देखने में आती हैं, तब जैसे मुझे अपनी सत्ता का विश्वास होता है, और भारत की अपूर्वता का अनुभव होता है। अपनी सत्ता का इसलिए कि मैं भी त्याग का अभिनय करता हूँ न! और भारत के लिए तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसकी विजय धर्म में है।" प्रसाद-जी के नाटकों के मूल में विद्यमान प्रेरणा का इससे सुन्दर निदर्शन मिलना कठिन है। यह बौद्धकालीन संस्कृति का स्वप्न उनकी कविताओं, नाटकों और बहुत-सी कहानियों की जान है। जब श्रीनाथ लैला की रूपरेखा की आलोचना करते हुए मन में सोचता है—"यह वास्तविक गान्धार प्रतिमा है या ग्रीस और भारत का इस सौन्दर्य में समन्वय है।"—तब हम इस कल्पित कहानी के पात्र को बहुत कुछ परिचित कबि प्रसादजी की ही भावनाओं और विचारों से निर्मित पाते हैं। 'पुरस्कार' कहानी में कोसल की एक पुरानी रस्म का वर्णन है। 'ब्रत-भंग' पुराने पाटलिपुत्र की एक कहानी है। गंध, संगीत, शिल्प-कला, नारी-सौन्दर्य इस संस्कृति-स्वप्न के निर्माण में प्रधान उपकरण हैं। "राधा के नवीन उपवन के सौध-मन्दिर में अगरु, कस्तूरी और केसर की चहल-पहल, पुष्पमालाओं का दोनों संध्या में नवीन आयोजन और दीपावली में वीणा, वंशी और मृदंग की स्निग्ध गम्भीर ध्वनि बिखरती रहती। नन्दन अपने सुकोमल आसन पर लेटा हुआ राधा का अनिंद्य सौन्दर्य एकटक चुप-चाप देखा करता। उस सुसज्जित प्रकोष्ठ में मणि-निर्मित दीपाधार की यन्त्रमयी नर्तकी अपने नूपुरों की झंकार से नन्दन और राधा के लिए एक क्रीड़ा और कौतूहल का सृजन करती रहती। नन्दन कभी राधा के खिसकते हुए उत्तरीय को सँभाल देता।" इस

संस्कृति का संदेश है करुणा। वह इसी कहानी में भली भाँति व्यक्त हुआ है। नन्दन पिता के भय से स्त्री से अलग हो जाता है, परंतु बाढ़ में दुखियों की सहायता करते हुए उसे पिता से भी अलग होना पड़ता है। वह अपनी स्त्री से पुनः मिलता है और उसकी करुणा के आगे उसके शत्रु कपिंजल को नत होना पड़ता है।

प्रसादजी कहानियों में जब देश और सामयिक समाज का चित्रण करते हैं, तब भी उनका वह दृष्टिकोण बदलता नहीं है। जो करुणा विश्व के लिए उनके बौद्ध भारत का महान् संदेश है, वही उनकी इन दूसरी प्रकार की कहानियों में भी ध्वनित है। इनमें बहुत बातें ऐसी हैं, जो उनकी कविता में प्रायः नहीं हैं। व्यंग्य, परिहास, ग़रीब और समाज की निम्न-श्रेणी के लोगों का यथार्थ चित्रण उनकी कहानियों की अपनी वस्तुएँ हैं। परन्तु उनका संदेश वही करुणा है। 'मधुआ' कहानी में पाटलिपुत्र के श्रेष्ठी के प्रासाद के बदले एक शराबी की गंदी कोठरी और उसके फटे कम्बल में लिपटे एक बासी परांठे के टुकड़े का वर्णन है। परन्तु 'व्रत-भंग' के नन्दन के कार्य से इस शराबी का कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं। पिता और उसके धन को त्यागकर नन्दन बाढ़-पीड़ितों की सहायता को सन्नद्ध होता है; शराबी अनाथ बालक मधुआ के लिए कहानी सुनाकर जीविकोपार्जन का सहज मार्ग ही नहीं, शराब पीना भी छोड़ देता है। सान रखने की कल लेकर एक बार वह फिर मधुआ के साथ निकल कर अपने नये जीवन का आरम्भ करता है। संदेश दोनों का ही करुणा है।

अतीत का स्वप्न देखने वाले कवि जब सामयिक संसार का अध्ययन करते हैं तो उनका अध्ययन अन्य कहानी-लेखकों से भिन्न होता है। अतीत का सौन्दर्य उन्हें सामयिक देश-काल में नहीं मिलता तो वे खीझ उठते हैं। बहुधा सम-सामयिकता में अपनी मानसिक ख़ूराक न पाने से ही वे अतीत की ओर झुकते हैं, अथवा अपने भीतर एक नये संसार का सृजन करते हैं। प्रसादजी ने कहानियों में समाज की परिस्थितियों से मुँह नहीं मोड़ा। दृष्टि गड़ाकर उन्होंने उन्हें देखा है और समस्याओं

के अनुसार विभिन्न परिणामों पर पहुँचे हैं। समाज को पतन की ओर ले जाने वाली वृत्तियों पर कहीं क्रोध किया है, कहीं निराश हो गये हैं, कहीं उनसे लड़कर उन्हें सुलझाने का आदेश किया है, कहीं समस्याएँ हठात् सरलता से अपने-आप सुलझ गई हैं। "एक चिन्ता-पूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्रय की विभूति को देखा और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को। उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की?" ('मधुआ')। जैसा हम देख चुके हैं, शराबी इस बालक की रक्षा के लिए नियति से युद्ध ठानकर फिर घर से निकल पड़ता है। 'विजया' कहानी में यही समाज के प्रति विद्रोह की भावना वर्तमान है। "समाज से डरो मत। अत्याचारी समाज पाप कहकर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है; पर वह स्वयं नहीं सुनता। आओ चलो हम उसे दिखा दें कि वह भ्रान्त है।" 'नीरा' में निवास की सहृदयता से समस्याएँ आप सुलझ जाती हैं। वह अनाथ नीरा से विवाह करने को राज़ी हो जाता है और उसका बूढ़ा नास्तिक पिता भगवान का नाम लेता हुआ मर जाता है। परन्तु समाज में सर्वत्र ऐसी सहृदयता नहीं। यदि निवास न होता तो नीरा की रक्षा कौन करता और बूढ़े को ईश्वर पर विश्वास कौन कराता? "अमिट स्मृति" में इस सहृयता के अभाव से एक कभी न मिटने वाली टीस का जन्म होता है। ईश्वर पर विश्वास कराने के लिए यहाँ निवास नहीं। 'अमिट-स्मृति' से बनिये की लड़की का वर्णन ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। साल भर बाद उसी को मनोहरदास दूसरे रूप में देखता है—"एक विकलाङ्ग दरिद्र युवती उसी दालान में पड़ी थी। उसका चलना-फिरना असम्भव था। जब मैं कुएँ पर चढ़ने लगा, तो उसने दाँत निकालकर हाथ फैला दिया।....वह पचास बरस की बीती हुई घटना आज भी प्रत्येक होली में नई होकर सामने आती है।"

२ आदर्श-लोक की कल्पना और यथार्थ जीवन का संघर्ष पंतजी

की कहानियों का प्रधान आकर्षण है। जहाँ तक कहानी-निर्माण का सम्बन्ध है, एक समस्या का उलझना और सुलझना, जिससे कहानी बनती है उसका यहाँ अभाव है। सम्भव है, कुछ लोग इन्हें कहानी कहने में हिचकें, जैसे वे निरालाजी के "चतुरी चमार" को कहानी कहने में हिचकते हैं। ये कहानियाँ स्केचों की ढंग की हैं। एक व्यक्ति या अधिक व्यक्तियों को लेकर उसकी या उनकी सामाजिक, वैयक्तिक परिस्थितियों का, मानसिक क्रियाओं और भावनाओं का चित्रण किया गया है। कहानियों में घटनाओं के हेर-फेर से पाठक को चकित कर देनेवाली बातें इनमें कम होती हैं। पंतजी की कविताओं में वैयक्तिक भावनाओं का सदैव प्राधान्य रहा है। इसलिए कहानियों में कथा गढ़ने की प्रतिभा न्यून मात्रा में मिले, यह स्वाभाविक है। उन्होंने समाज और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को बिना बदले बहुत कुछ वैसे ही रख दिया है। उसमें भी अधिक अंश को जन्म देने वाली उनकी कविता की पूर्वपरिचित कल्पना है।

कवि पंतजी ने अपनी काव्य-कला की अनेक विशेषताओं से अपनी गद्य-लेखनकला को सजाया है। कुछ तो, काव्य से अधिक, गद्य में ही विकसित हुई हैं। इन्द्रियों से ग्राह्य अनेक सूक्ष्म अनुभवों को उन्होंने अपने गद्य में सफलता से चित्रित किया है। इस चित्रण में वे अधिकतर उपमाओं से सहायता लेते हैं। अपनी कविता की उपमाओं के लिए वे प्रथम से प्रसिद्ध हैं। गद्य में उनका क्रम और भी स्वाभाविक और स्वतन्त्र हो गया है।

"गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नींबू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढ़ा विकृत कर दिया है। दुख से काटे हुए रात-दिन के शेष चिह्नों की तरह बेमेल स्याह, सफेद, घनी, दाढ़ी-मूछों ने—जिन्हें हफ़्ते में एक बार बनाने की भी नौबत नहीं आती—उस सोलह साल के फूल को सुखाकर काँटों की झाड़ी से घेर लिया है। दुर्भाग्य के स्रोत की शीर्ष, शुष्क धाराओं की तरह, सिकुड़े हुए भाल पर गहरी चिन्ता की रेखाएँ पड़ गई हैं।....मुख का रंग धूप से जलकर काला पड़ गया है, और उसका प्रत्येक चर्म-अणु सूजी के दाने की तरह शोक-ताप में पककर फूल गया

है। रोड़े की तरह गले में अटकी हुई हड्डी मांस के सूख जाने से बाहर निकल आई है।" (पानवाला)

आकार-प्रकार के वर्णन में उपमाओं ने सजीवता ला दी है। उनके बिना शायद वह उतना यथार्थ न होता। उपमाएँ यहाँ कविता की अनावश्यक प्रसाधन-सामग्री न बन कर मूल-भावना की पुष्टि में सहायक होती हैं। नीचे के उदाहरण में उपमा द्वारा एक मनोवैज्ञानिक तथ्य भली भाँति व्यक्त हुआ है—

"सतीश के मुख की हँसी, कटी हुई पतंग की तरह हृदय की डोर से अलग हो, होठों पर चक्कर खाती हुई, जैसे वहीं-की-वहीं निःस्पन्द हो गई।" (अवगुंठन)

इसी भाँति उपर की ही कहानी में अन्यत्र—"सास की भौंहों के उठने-गिरने के साथ जिस तरह उठना-बैठना पड़ता, इशारे पर जिस तरह रहना होता और उसकी उच्चारण-हीन चुप्पी के जिस तरह भिन्न-भिन्न अर्थ लगाने पड़ते हैं, उन सबको लड़की के कानों में इतनी बार डाल दिया गया था कि रेल की यात्रा के बाद उसके घर-घर शब्द की तरह वे बातें सरला के मस्तिष्क में अपनेआप चक्कर खाती रहती थीं।"

इस प्रकार के वाक्य या वाक्य-समूह पंतजी की वीक्षण-शक्ति एवं मनोविज्ञान के अध्ययन के सहज प्रमाण हैं।

कविता का प्रभाव गद्य की व्यंजना-शैली पर ही नहीं पड़ा, पंतजी की कहानियों में प्रकाश पानेवाली कल्पना और विचारधारा उनकी कविता की ही है। प्रसिद्ध है कि वे छायावादी हैं और अनेकरूपता के पीछे छिपे ऐक्य की उपासना करते हैं। सरस्वती में छपी गांधीजी के प्रति उनकी कविता पढ़िए, "तुम रक्तहीन, तुम मांसहीन" इत्यादि और गुंजन में 'भावी पत्नी के प्रति' या 'अप्सरा' कविताएँ पढ़िए। सभी के पीछे एक सत्य है, जो "अदृश्य, अस्पृश्य, अजात" है। कहानियों में इस दार्शनिक तथ्य की ओर संकेतमात्र न करके वे रूपों की विभिन्नता की भी व्याख्या करते हैं। 'उस बार' कहानी में—"प्रेम तत्त्वतः एक होते हुए भी भिन्न स्वभावों में भिन्न रूप से काम करता है।" आगे चलकर

ने इन रूपों का विश्लेषण करते हैं। "सतीश के लिए विजया का जो मूल्य था, वही मूल्य सुबोध के लिए सरला का होते हुए भी, दोनों का प्रेम-पदार्थ भिन्न-भिन्न तन्तुओं का बना था। सतीश के प्रेम का प्रवाह शरीर से हृदय की ओर और सुबोध का हृदय से शरीर की ओर था। एक फ्रायड के सिद्धान्तों का नमूना था, दूसरा प्लैटो के। यह नहीं कि एक प्रेमी था, दूसरा कामी मात्र। दोनों में आदर्श भेद था। सतीश प्रेम को विजया के लिए संचित रखते हुए भी अन्य स्त्रियों से शारीरिक स्वतन्त्रता लेना बुरा नहीं समझता था। वह मनुष्यत्व और पशुत्व की दो अलग राहों से चलने का पक्षपाती था। सुबोध देह के संसर्ग को सच्चे प्रेम के अधीन रखना चाहता था। आत्म-दान से ही उसका पशु मनुष्यत्व की पवित्रता पा सकता था। एक को आत्मत्याग द्वारा योग का अधिकारी बनना पसंद था, दूसरे को आत्म-त्याग भोग के लिए केवल साधन-मात्र था। दोनों की मानसिक स्थिति दोनों के लिए सत्य थी।"

'उस बार' कहानी में प्रेम के रूपों के विश्लेषण की उत्कृष्ट चेष्टा की गई है। परन्तु पंतजी ने प्रेमियों को मोटे रूप से कुछ प्रचलित श्रेणियों में ही विभक्त करके संतोष कर लिया है। इनमें से प्रत्येक में न-जाने कितनी विभिन्नताएँ हों; उनके दर्शन नहीं होते। इस मोटे विभाजन से हमें तुष्टि नहीं होती। कहानी में प्रेम का कोई एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाजन अथवा एक से अधिक ऐसे विभाजनों का संकलन अधिक रुचिर होता।

पंतजी ने प्रेम-तत्त्व के समान नारी के रूपों का भी दैहिक और मनोवैज्ञानिक वैचित्र्य दिखाने की चेष्टा की है। उनकी असफलता यहाँ उनके अनुभव की कमी की साक्षी है। नारी के प्रति अपने काव्य के दृष्टिकोण से वे इतने आकृष्ट हैं कि हाड़-मांस की अनेक नारियों में हठात् एक ही कल्पना निखर उठती है। पंतजी ने जीवित, अपने मनोविकारों से अपना विभिन्न अस्तित्व सिद्ध करने वाली, नारियों का वर्णन नहीं किया; उन्होंने उनकी कल्पना की है। इसके लिए उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि भी की है, जो नारी की कल्पना से स्वयं एक मान-

सिक सुख का अनुभव करते हैं। गुंजन की "प्राण, तुम लघु-लघु गात" ही 'उस बार' की सरला है—"कम से कम देह की सामग्री में जैसे आत्मा उतर आई हो।" ऐसे ही नलिन की कल्पना—

"नारी जो अज्ञेय है, गुलाब की तरह, सौंदर्य की तरह सदैव अज्ञेय ही रहती है ; जो रहस्य एवं कल्पना की बनी है, छूने पर भी छुई नहीं जा सकती, बाहुओं में बाँध लेने पर भी बाँधी नहीं जा सकती; वह सृष्टि में सबसे सारमयी, पूर्णतामयी, नित्य नई, प्रत्येक पल बदलती हुई, नारी कुमारी-प्रेमिका-देवी-परी-प्रभात-संध्या, वसंत-शरद की सार्थकता – संसार के, जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति—उसका नाम ? उसका नाम भी है ? वह रूप-सी अरूप, वह नामवती अनाम है ! अनिर्वचनीय है ! रहस्य है !"

अकाट्य शाप की भाँति कवि-कल्पना लेखक का पीछा नहीं छोड़ती; समय-असमय कहानी के पात्रों में उदय होकर उनमें कवि के व्यक्तित्व की छाया दिखाकर वह सारे निर्माण को ढेर कर देती है। 'अवगुंठन' कहानी के निम्न वाक्य 'गुंजन' की पंक्तियों से मिलाते चले जाइए—

"एक दिन बहुत बड़ी धूमधाम, सजधज और बन्धु-बान्धवों के उत्सव-कोलाहल के बीच अपनी ही लज्जा की लपेटनों में खोई हुई-सी नववधू ने चुपके उन्हीं पुराने रीति-रस्मों के झरोखे से रामकुमार के पिता शिवकुमार की विशाल अट्टालिका में प्रवेश कर उसे अपने नवीन सुहाग की मौन मधुरिमा से भर दिया।.....रामकुमार को भी जान पड़ा कि छुईमुई के पौदों की तरह, अस्तित्वहीन प्राय, केवल अनुमान मात्र उसकी बहू, अपने संकोच में अत्यधिक सिमट जाने के कारण भी व्यक्त एवं सर्वव्याप्त हो उठी है। इस अपने को छिपाने की कला ने मानो उसका सौन्दर्य कहीं अधिक प्रस्फुटित कर दिया है। समस्त घर में, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, न-जाने किस माया-बल से उस संकोच में सिमटी हुई, अपने ही भीतर छिप जाने वाली बहू की उपस्थिति की बेलि पुष्पित-पल्लवित होकर फैल गई है।"

नारी-पात्रों की सी समानता पंतजी के पुरुष-पात्रों में नहीं

होती । एक ओर पीताम्बर, दूसरी ओर पार्वती के पति, दोनों अपने रूप आकार में भिन्न और स्पष्ट हैं । यह दूसरी बात है कि वे स्वयं ज्यादा हाथ-पैर नहीं डुलाते । मनोवैज्ञानिक उन्हें मेज़ पर लिटाकर उनकी मानसिक हलचल, उनकी भावनाओं के स्पंदन की जाँच करता है । जो बात कविता से अधिक उनकी कहानियों में विस्तार से व्यक्त हुई है, वह है व्यक्ति और समाज का संबन्ध । वर्तमान समाज के संगठन से असंतोष और एक सुन्दरतर समाज की कल्पना को उन्होंने अपने काव्य का विषय भी बनाया है । परन्तु वहाँ इस असंतोष को जानते हुए भी हम समाज-यंत्र के उन ढीले कल-पुर्जों को स्पष्ट नहीं पहचान पाते, जो उसके कारण है । कहानियों में क्षेत्र अधिक होने से व्याख्या विस्तृत मिलती है । वास्तव में अनेक पात्र इस व्याख्या के लिए आधारमात्र हैं । 'पानवाला' कहानी में पीताम्बर एक संकेत है, जिससे लेखक व्यक्ति और समाज के प्रति अपने विचार प्रकट करता है । यह अनुमान करना कठिन है कि पीताम्बर ही इन विचारों के लिए एकमात्र कारण होना चाहिए । यही दोष निराला जी की "देवी" में दिखाई पड़ता है । एक पगली को देखकर निरालाजी, एक पानवाले को देखकर पंतजी जैसे सोते से जाग पड़ते हों ; समाज की दशा का उन्हें सहसा ज्ञान हो जाता हो, जो उन्हें पहले न रहा हो । कहानी-लेखकों से हम आशा कर सकते हैं कि उन्हें समाज से अधिक परिचय हो । आसमान की ओर देखते हुए ज़मीन में ठोकर लगने से चौंककर एक ही पत्थर को पकड़कर बैठे न रहें । वे हमारे पथ के पत्थरों का, कंटकों का सानुपात, एक कुशल पथिक की भाँति चित्रण करें । तभी हम बचा-बचाकर आगे चल सकेंगे ।

अस्तु; यह कम नहीं कि पंतजी आधुनिक संस्कृति, आधुनिक समाज में परिवर्तन चाहते हैं । यही नहीं, उन्होंने क्रोध से, व्यक्ति के प्रति सहानुभूति से, उस पर कड़ी चोटें की हैं । उन्होंने अर्द्ध उदासीनता से पतन को देख नहीं लिया, उसके प्रति अपनी भरपूर प्रतिक्रिया को भी कहानी में स्थान दिया है ।

"उस षोड़श-वर्षीय किशोर का चित्र इस चित्र से कैसे मिल सकता

है ? वह सब समय की मानवी प्रकृति की कला का नमूना था, यह हमारी इस समय की सभ्यता की मानवी विकृति का नमूना है।....

"फूल की मिलनेच्छा सुगन्ध कही जाती है, मनुष्य की प्रणयेच्छा दुर्गन्ध; उसे निर्मल समीर वाहित करता है, इसे कलुषित लोकापवाद। नर-पुष्प के वीर्य का गीत गाता हुआ भौंरा, नृत्य करता हुआ मलयानिल स्त्री-पुष्प के गर्भ में पहुँचा आता है, मनुष्य का वीर्य स्वेच्छाचार की कोठरियों, पाशविक वेश्याचार की गन्दी नालियों में सहस्र प्रकार के गर्हित, नीरस, कृत्रिम मैथुनों द्वारा छिपे-छिपे प्रवाहित होता है ! यह इसलिए कि हम सभ्य हैं, मनुष्य के मूल को, जीवन की पवित्रता को समझ सकते हैं। असंख्य जीवों से परिपूर्ण यह सृष्टि एक ही अमर दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है, प्रकृति के सभी कार्य पुनीत हैं, मनुष्यमात्र एक ही आत्मा है—हम ऐसे-ऐसे दार्शनिक सत्यों के ज्ञाता एवं विधाता हैं, हम प्रकाशवादी हैं।"

यह तीव्रता, यह रोष पंतजी की कविताओं में नहीं मिलता। वह उनकी कहानियों की श्रेष्ठ मौलिक देन है।

निरालाजी की कविता की छाया उनकी कहानियों पर औरों से कम नहीं पड़ी। उनकी कहानियों का दर्शन उनके काव्य का दर्शन है। परन्तु कहानियाँ उनके काव्य की प्रतिच्छाया-मात्र नहीं। उनमें बहुत कुछ अपनी काव्य से भिन्न मौलिकता है। 'चतुरी चमार' में यथार्थ वर्णन, 'देवी' में व्यंग्य, 'भक्त और भगवान' में भारतीय प्रतीकों का तत्त्व-दर्शन, प्रायः सभी में हास्य का पुट—ये सब उनकी कहानियों में नवीन है। यहाँ हम देखेंगे, कहाँ तक कवि का दृष्टिकोण कहानी-लेखक का दृष्टिकोण रहा है।

निराला जी के गीतों और अन्य पद्यों में जो रहस्य-शक्ति की वंदना है, वह जहाँ-तहाँ उनके गद्य में भी मिलती है। 'भक्त और भगवान्' में मन का ऊपर आकाश पे चढ़ना और धीरे-धीरे उतरना, विश्व के सभी पदार्थों का अज्ञात शक्ति की उपासना में रत दिखाई देना, फिर अंत में प्रिया का दर्शन हमें उनकी 'तुलसीदास' कविता और उसमें वर्णित

मानसिक क्रियाओं का स्मरण कराते हैं। नीचे की पंक्तियाँ उनकी अनेक कविताएँ समझने के लिए सुन्दर टिप्पणी का काम कर सकती हैं—

"मन धीरे-धीरे उतरने लगा। देखा, आकाश की नीली लता में सूर्य, चन्द्र और ताराओं के फूल हाथ जोड़े खिले हुए अज्ञात शक्ति की समीर से हिल रहे हैं, पृथ्वी की लता पर पर्वतों के फूल हाथ जोड़े आकाश को नमस्कार कर रहे हैं—आशीर्वाद की शुभ्र हिम-धारा उन पर प्रवाहित है; समुद्रों की फैली लता में आवर्तों के फूल खिले हुए अज्ञात किसी पर चढ़ रहे हैं, डाल-डाल की बाँहें अज्ञात की ओर पुष्प बढ़ाये हुए हैं। तृण-तृण पूजा के रूप और रूपक हैं। इसके बाद उन्हीं-उन्हीं पुष्पों के पूजा-भावों में छन्द और ताल प्रतीयमान होने लगे—सब जैसे आरती करते, हिलते, मौन भावना स्पष्ट करते हों। सबसे गन्ध निर्गत हो रही है, सत्य की समीर वहन कर रही है, पुष्प-पुष्प पर अज्ञात कहाँ से आशीर्वाद की किरणें पड़ रही हैं, इसके बाद उसकी स्वर्गीया प्रिया वैसे ही सुहाग का सिन्दूर लगाए हुए सामने आई।"

पंतजी की भाँति निरालाजी की स्त्री-पात्रियाँ अधिकांश एक ही साँचे की ढली हैं। उनके कहानी-संग्रह 'लिली' में यह प्रत्यक्ष है, अनेक की अधखिले फूलों से उपमा दी गई है—सभी प्रायः १६-१७ साल की हैं। उनका आँखों में मुसकराना, प्रथम प्रेम में काँपना, प्रिय को अलौकिक जान पड़ती हुई उसके प्राणों से संभाषण करना आदि पेटेन्ट बातें हैं—

"उसी क्षण आँखों के सामने वह सोलह साल वाली साक्षात् आभा अपने पूर्ण यौवन में उभरी स्वर्ग की अप्सरा-सी झलमलाने लगी। वह मधुर ध्वनि याद आई! वह 'अच्छा' प्राणों में घुलकर अमृत बन गया।" (सफलता)

व्यक्ति और समाज का प्रश्न निरालाजी की कविताओं में अछूता नहीं है। उनकी कविताओं में प्रसिद्ध 'भिक्षुक' भी एक है। भिक्षुक की तुलना 'देवी' कहानी से करने पर गद्य और पद्य में एक ही विषय पर की गई चिन्तनाओं का अन्तर मालूम हो जाता है। 'भिक्षुक' में समाज

के प्रति विद्रोह नहीं, किसी पर व्यंग्य नहीं; कवि भावुकतावश भिक्षुक से सहानुभूति दिखाता है। भिक्षुक की दयनीयता और उसके प्रति अपनी कोमल प्रतिक्रिया—इन्हीं से वह संतोष कर लेता है। भिक्षुक और उसके साथ के बच्चों की ऐसी दुर्दशा क्यों—यह प्रश्न उसके मन में उठता ही नहीं। वह पहले ही दया दिखाने चल पड़ता है। इसी लिए यह कविता 'देवी' कहानी से कम चितना-तथ्य रखने वाली है। कविता के अन्त में कवि का आश्वासन-वाक्य, देवी में यह सब कुछ उलट गया है। भिन्न पुरुष की भाँति लेखक अपने हृदय का अमृत उसे नहीं देने जाता। पगली और उसके बीच स्वाभाविक आदान-प्रदान होता है। जो काम लेखक से नहीं होता, वह पगली कर देती है। सड़क पर मार्च करते गोरे सिपाही उसके लम्बे बालों को देखकर मुसकराते थे। वह चुप रहा। परन्तु "जब सिपाही मिलिटरी ढंग से लेफ्ट-राइट लेफ्ट-राइट दुरुस्त, दर्प से जितना ही पृथ्वी को दहलाते हुए चल रहे थे, पगली उतना ही उन्हें देख-देखकर हँस रही थी। गोरे गम्भीर हो जाते थे।" तब "मैंने सोचा मेरा बदला इसने चुका लिया।" पगली को लेकर लेखक ने समाज की, शासन की, हमारी प्रचलित रूढ़ियों की खरी आलोचना की है। और 'देवी' के अन्त में मनुष्य की मनुष्यता के प्रति अविश्वास की हँसी है। होटल का नौकर संगम पहले दस रुपये पाने की प्रसन्नता में हँसता है। "मैंने देखा, हँसते वक्त उसका मुँह नवयुवतियों की आँखों को मात कर कानों तक फैल गया है।" परन्तु केखक का चेक लेकर मैनेजर विना उसे दाम दिएं चला जाता है। संगम आकर शिकायत करता है। लेखक के समझाने पर कि वह घर रुपए लेने गया है, लौटकर उसे और दूसरों को भी देगा, "संगम वैसा ही फिर हँसा।"

"पीताम्बर उसी तरह ठठाकर हँस रहा है।" "पानवाला" के अन्त में भी यही अविश्वास की हँसी है।

सर्व श्री प्रसाद, पन्त, निराला तीनों को वर्तमान समाज से असंतोष है। किसी को कम किसी को अधिक। किसी ने उस पर तीव्र व्यंग्य

किया है, किसी ने रोष । उनके काव्य की विशेषताओं का न्यूनाधिक प्रतिरूप हमें उनकी कहानियों में मिलता है । परन्तु यह असंतोष वह केन्द्रभूमि है जहाँ वे समान रूप से आकर एकमत होते हैं ।

१९३७

शुक्लजी और हिन्दी की परम्परा

शुक्लजी का कार्य कठिन था। उन्हें नये युग में पुराने साहित्य से प्रेम रखते हुए नये साहित्य का मूल्य भी आँकना था। इसलिए यदि वह केवल प्राचीनता की लकीर पीटते तो नये युग के साहित्यिकों को संतोष न होता और वह सभी प्रकार की नवीनता का समर्थन करते तो उन्हें प्राचीनता के पुजारियों का कोप-भाजन बनना पड़ता। शुक्लजी ने बीच का मार्ग निकाला।

शुक्लजी नये-पुराने के पुजारी इसलिए न थे कि वे नये और पुराने हैं; उन्होंने विकास के लिए जिन बातों को जहाँ पाया, वहाँ से लाकर एक जीवित परम्परा में मिला दिया है। जहाँ-जहाँ उन्हें जातीय जीवन के चिह्न मिले, वहाँ-वहाँ उन्होंने उनकी ओर इंगित किया और इस प्रकार साहित्य के लिए जिस विकासोन्मुख परम्परा की आवश्यकता थी, उसकी रूपरेखा स्पष्ट की।

शुक्लजी ने अलग-अलग साहित्यिकों पर तो रचनाएँ की ही हैं, साहित्य की व्याख्या से भी महत्वपूर्ण उनके वे आदर्श हैं जिनके अनुसार उन्होंने उच्च साहित्य की परख की है। इन आदर्शों में हिन्दी की सजीव परम्परा की प्रायः सभी महत्वपूर्ण बातें आ गयी है। परम्परा के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। नये युग के छायवादी कवियों में—जिनका शुक्लजी ने विरोध किया था—प्रसाद जी और निरालाजी के साहित्य में पुरानी परम्परा का पूर्ण ज्ञान मिलता है। कम-से-कम ये दो साहित्यिक ऐसे नहीं हैं जो साहित्य-शृंखलाओं से अलग स्वयंभू हों। परन्तु इन दोनों साहित्यिकों की परम्परा शुक्लजी जी की परम्परा से भिन्न है। अन्य भेदों को न लेते हुए, यहाँ इतना कहना यथेष्ट होगा कि शुक्लजी की परम्परा अधिक सबल और स्पष्ट है और इस युग की

परिस्थितियों के अधिक अनुकूल है।

"काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था" नामक अपने निबन्ध में उन्होंने लिखा है,"'अध्यात्म' शब्द की, मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।" पता नहीं इस प्रकार के कथन से कितने अध्यात्मप्रेमियों को ठेस न लगेगी। "तुलसी का भक्ति मार्ग" नामक एक दूसरे निबन्ध में उन्होंने लिखा है—"कोरी साधुता का उपदेश पाखण्ड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है, और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।" तो फिर शुक्लजी कैसी साधुता चाहते हैं, कैसी वीरता चाहते हैं या साधु में वीरता और वीर में साधुता चाहते हैं ? अवश्य ही शुक्लजी की दृष्टि समन्वय की ओर है। वह सत्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुण की आवश्यकता भी समझते हैं। अपने पहले निबन्ध में उन्होंने लिखा है कि ब्रह्म की आनन्दकला का प्रकाश तभी हो सकता है जब "तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के आधीन होकर उसके इशारे पर काम करें···सत्त्वगुण के इस शासन में कठोरता, उग्रता और प्रचंडता भी सात्त्विक तेज के रूप में भासित होंगी।" करुणा और प्रेम के साथ क्रोध, उत्साह आदि प्रचण्ड और उग्र वृत्तियाँ भी चाहिए। इसलिए शुक्लजी ने टाल्स्टाय के कष्ट सहिष्णुता पर निर्भर, शत्रु का हृदय परिवर्तन करने की आकांक्षा करने वाले अध्यात्मवाद अथवा अहिंसावाद का विरोध किया है। जैसा कि उन्होंने लिखा है—"काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टालसटाय के अनुयायी या कुछ कला-वादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी यदि उनकी तह में करुणभाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।" समन्वय की इच्छुक लोक-कल्याण की भावना को खोजने वाली शुक्लजी की यह दृष्टि साहित्य के लिए हितकारी है। उनका लक्ष्य विकास की ओर है और विकास के लिए यह समन्वय आव-श्यक है।

व्यक्ति की अपेक्षा शुक्लजी ने समष्टि को अधिक महत्व दिया है।

इसीलिए उन्होंने कोरी साधुता की निन्दा की थी । "मानस" की धर्म भूमि में उन्होंने लिखा है—"धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है । गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्व स्वरूप में दिखाई पड़ता है ।" आजकल हमारे यहाँ परिवार-धर्म अथया जाति-धर्म (ब्राह्मण - धर्म कायस्थ-धर्म और उसमें भी कनवजिया बर्म, श्रीवास्तव धर्म आदि) ही समाज-धर्म बना हुआ है। इस विश्रृंलता में एक समष्टि-धर्म का प्रतिपादन करके शुक्लजी ने युग के अनुकूल कार्य किया है । शुक्लजी के लिए ब्रह्म लोक से परे नहीं हैं; उसके दर्शन लोक-रक्षा में ही होते हैं । ऊपर वाले लेख में ही उन्होंने लिखा है–"धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व स्थिति में मिलता है ।.... परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टिरूप में, अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं ।" हिन्दी-साहित्य में संत कवियों ने ब्रह्म की इस प्रवृत्ति का दर्शन समाज की रक्षा में देखा है; शुक्लजी ने साहित्यिक परम्परा की इस सबलता को खूब पहचाना है और उसे उचित महत्व दिया है।

साहित्य की व्याख्या में शुक्लजी ने जिन आदर्शों से काम लिया है, उनमें लोक धर्म का आदर्श सबसे महत्वपूर्ण है। व्यक्ति और परिवार के ऊपर उन्होंने समाजधर्म को बताया है और इसी धर्म को उन्होंने ब्रह्म की अनुभूति भी कहा है । इस लोकधर्म का सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य से विशेष है। उन वीर गाथाओं में तथा संत कवियों की रचनाओं में जहाँ समाज-धर्म का प्रतिपादन किया गया है, हिन्दी की परंपरा सजीव और सबल है । सत्वगुण के अन्तर्गत उसमें उग्र वृत्तियों का भी विकास हुआ है। राजनीतिक अहिंसावाद के कारण हम तीनों गुणों के इस समन्वय की महत्ता को भूल गये हैं। व्यक्तिवाद और विश्रृंखलता के युग में सामाजिक और समष्टिगत आदर्श ध्वस्त हो गए हैं । शुक्लजी ने इन्हीं महत्वपूर्ण आदर्शों को हिन्दी साहित्य में पुनर्जीवित किया है।

शुक्लजी की विशेष व्याख्याओं से इस युग के लेखकों का चाहे जितना मतभेद हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आगे की आलोचना का निर्माण इन्हीं समष्टिगत आदर्शों पर श्रेयस्कर होगा।

१९४३

मिश्रबन्धु और नायिका-भेद

आज प्रगतिवाद की चर्चा होने पर शायद ही किसी को मिश्र-बंधुओं का नाम सूझे। परन्तु इस शताब्दी के आरम्भ में इन विद्वानों ने हिन्दी समालोचना पर जो निबन्ध लिखा था, उसका ऐतिहासिक दृष्टि से क्रान्तिकारी महत्व है। यह निबन्ध दिसंबर १९०० की 'सरस्वती' में छपा था। इसका शीर्षक है "हिन्दी काव्य (आलोचना)" और इसके लेखक हैं—पं० श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र बी० ए०।

आरम्भ में "काव्य क्या है" की विवेचना है। पंडितराज जगन्नाथ और जगन्नाथदास रत्नाकर का समन्वय करके दोनों आलोचकों ने कविता में शिरमौर और शशिमाल उपनाम रखकर यह दोहा बनाया है—

"वाक्य अर्थ वा एकहू, जहँ रमणीय सुहोय।
शिरमौरऽरु शशिमाल यत, काव्य कहावे सोय।"

इस दोहे का महत्व कविता, और आलोचना दोनों ही की दृष्टि से अस्वीकार करते हुए इस बात पर ध्यान दीजिए कि पद्य-चर्चा के साथ, आलोचक हिन्दी लेखकों का ध्यान गद्य, और नाटक रचना की ओर भी आकर्षित कर रहे हैं। "हमारे काव्य में पद्य की अपेक्षा गद्य बहुत ही कम है, और दृश्य-काव्य (नाटक) उससे भी न्यून हैं...परन्तु भाग्यवश वर्तमान गद्य के संस्थापक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पवित्र चरित्रों से प्रोत्साहित हो आधुनिक लेखकों का ध्यान इस ओर फिर रहा है, यद्यपि बहुतेरे सुकवि भी अद्यापि नेत्र उन्मीलित किए बड़ी धूमधाम से समस्या-पूर्ति करते चले जा रहे हैं।" 'सुकवि' की फाइलें उठाने से इस वाक्य के महत्व का पता चलेगा। "सुकवि" ही नेत्र उन्मीलत किए समस्यापूर्ति

नहीं करते रहे, आलोचक भी अपनी प्रशंसा से उनकी धूम बाँधते रहे हैं।

उपयोगी साहित्य-रचना पर भारतेन्दु के समय में ही काफी जोर दिया गया था। मिश्रबन्धुओं ने उन बिषयों की एक तालिका बनादी है, जिन पर पुस्तकें लिखी जानी चाहिए। भारतेन्दु ने 'कविवचन-सुधा' के लोकोपयोगी साहित्य सम्बन्धी अपने "मैनोफेस्टो" में इसी प्रकार के विषयों की एक सूची बनाई थी। एक हद तक हिन्दी में आधुनिक प्रगतिवाद की वही माँग है जो १६०० में मिश्रबंधुओं की थी, और उससे पच्चीस वर्ष पहले भारतेन्दु की थी । केवल यह १६४३ है, सन् १६०० नहीं। इसलिए वही साहित्य आज भी उपयोगी नहीं कहला सकता जो १६०० में था। हिन्दी के रूढ़िवादी आलोचक अपने साहित्य की जाग्रत परम्परा को भुला कर प्रगतिवाद को एक विदेशी वस्तु कहकर टाल देना चाहते हैं, और उसके बदले ब्रह्मानन्द सहोदर के सिद्धान्तों से लोगों को बरगलाना चाहते हैं। १६००में मिश्रबन्धुओं ने लिखा था—"अन्य भाषाओं से उपकारी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने, तथा अपनी ओर से उत्तम साहित्य, नाटक तथा उपयोगी उपन्यासों के अतिरिक्त और प्रकार के भी देशोपकारक-ग्रंथ रचने से ही अब काम चलेगा।" लेकिन यही बात आज का प्रगतिवादी कहता है तो लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं और अपनी पत्रिकाओं में निराशा के गीत या रत्नाकर के छन्द छापकर अपनी संस्कृति का उद्धार करते हैं।

"पल्लव" की भूमिका से पहले मिश्रबन्धुओं ने नायिका-भेद वाले कवियों के दुर्ग पर भरपूर आक्रमण किया था । इनमें पहले लक्षण ग्रंथ रचनेवालों को लीजिये। रीतिकाल में ऐसे कवियों की भरमार थी जो काव्य-रचना सिखाते अवश्य थे परन्तु स्वयं किसी कारणवश अच्छी कविता न लिख पाते थे। मिश्रबन्धु कहते हैं—"आँख एक भी नहीं और कजरौटे नौ नौ !!" काव्य-रीति के शिक्षक हजारों हैं लेकिन काव्य लिखने वाले ढूँढ़े भी नहीं मिलते।

रीतिकाल में रूढ़ियों का कैसा अंध-अनुकरण हुआ, इस पर मिश्र-

बंधुओं का यह फुटनोट पढ़ने लायक है : 'नख-शिख ग्रन्थों में सभी कवि-जन नायिका की रोमावली का वर्णन अवश्य करते हैं, पर उनसे यह तो पूँछिए कि अबलाओं के रोमावली होती भी है ? उत्तर यही मिलेगा कि यह तो प्राचीन परिपाटी है। वाह ! अच्छी "प्राचीन परिपाटी" !! कारण यह समझ पढ़ता है कि सब से प्रथम किसी कवि ने संभवतः किसी पुरुष का नखशिख लिखा तो भला रोमावली कैसे न वर्णन करे ! बस फिर क्या था, सभी उसी ढर्रे पर चल खड़े हुए और "प्राचीन परिपाटी" स्थिर होगई। अब तो उसके विरुद्ध चलने की कौन कहे, कुछ कहना तक पाप है।"

भक्ति सम्बन्धी कविता का विरोध न करते हुए मिश्रबंधु ऐतिहासिक वीरों पर भी पद्य लिखने की सलाह देते हैं। "कीन्हे प्राकृत जन गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।" आदि चौपाइयों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—"यदि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसको बुरा बतलाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वह तो साधु थे ही, पर हम गृहस्थों पर दया कर शारदादेवी स्यात् ऐसी कविता के कारण अपना विधि-भवन से नरलोक तक आने का श्रम नितांत वृथा ही न समझें।"

लक्षण-ग्रंथों की रचना एक ओर, "दाद में खाज यह है कि वह सब विशेषतः शृङ्गार रस से ही परिपूर्ण है।" और आगे बढ़िये। देव-बिहारी संग्राम का स्मरण कीजिये और देवजी पर मिश्रबंधुओं की सम्मति पढ़िये—"देखिये न, देवजी ने कैसा सुन्दर निचोड़ निकाल कर रख दिया है—"नौरस सार सिगार रस, तामें दम्पति सार। दम्पति सम्पति नायका, नायक सुरति विहार।" वाह वा ! कहाँ तो उपर्युक्त "भक्त हेतु विधि भवन बिहाई" इत्यादि और कहां यह !! सो इस मत से नायक नायिका का सुरति विहार ही उत्तमोत्तम विषय काव्य में वर्णन करने को ठहरा, क्योंकि नीरस काव्य तो निंद्य ही है।" देव और बिहारी सम्बन्धी आलोचना-प्रत्यालोचना इस वाक्य के साथ पढ़ने से कितनी महत्वपूर्ण मालूम होती है ? इस आलोचना-प्रत्यालोचना का निचोड़ क्या यही नहीं होता कि सुरतिविहार का किसने अधिक सुन्दर वर्णन

किया है ?

शृंगार-रस में जिन लोगों ने राधिका और श्याम का भी स्मरण किया है, उनकी मिश्रबंधुओं ने कड़ी आलोचना की है। केशवदास से लेकर रत्नाकर और श्री दुलारेलाल भार्गव तक की दृढ़ साहित्यिक-रूढ़ियों का स्मरण कीजिये और तब १६०० ई० में लिखे हुए इन शब्दों के महत्व पर ध्यान दीजिये। दास कवि की उक्ति—"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई नतौ राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है।" का उल्लेख करके मिश्रबंधु लिखते हैं—"धन्य ऐसे हरि और धन्य ऐसे हरिजन ! तुम्हारी लीला अपरंपार है, "देखते बनै बरनि नहिं जाई।" पुस्तकें तो रचें नायिका के नखशिख वर्णन तथा नायिका भेद पर, उनमें वर्णन करें राधिका श्याम की रति (यथा "विपरीति रची रति राधिका श्याम" इत्यादि), और बहाना करें "राधिका कन्हाई सुमरिन" का ! हमारे विचार से तो राधिका और श्याम के नाम से ऐसे वर्णन करने में घोर पाप है।" लेकिन अभी ऐसे आलोचक आने वाले थे जो सुरतिवर्णन में लहालोट होकर रीतिकालीन कविता की प्रशंसा में अपनी कलम तोड़ देना चाहते थे।

शृंगारी कविता का राज-दरबारों से सम्बन्ध बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि पुस्तकों की आय पर निर्भर न हो सकने के कारण कवियों को राजदरबारों का आश्रय लेना पड़ता था, और "भारतवर्ष के राजा महाराजा तो विद्या में प्रायः प्रवीण होते नहीं, और अपना समय हाहा-हीही में बिताते हैं, जैसा किसी ने कहा है कि "चरचा कुटनीन की नीकी लगै, भँडुहान की खातिर ताजी रहे, रँडियान की लागे, भली बतियाँ" इत्यादि। अतः कविजी को अवांछित भी शृंगार रस का काव्य करना पड़ता।" इस परिपाटी को तोड़ने की उन्होंने जबर्दस्त अपील की है, यद्यपि ओरछा राज्य से उन्होंने स्वयं या अनार्किस्ट लेखक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने संबन्धित होकर प्रगतिशील परम्परा को कैसे कायम रखा है, मैं नहीं समझ पाया।

तुकबंदी में स्वच्छंदता के उदाहरण देते हुए यानी भद्दी तुकबंदी की

निंदा करते हुए उन्होंने अतुकाँत छंद रचना का भी समर्थन किया है—"हमारे मत में तो यदि किसी विषय के वर्णन में संस्कृत और अंग्रेजी की भाँति तुकांत का प्रयोग ही न हो तो हानि कुछ भी नहीं और सुगमता बहुत हो सकती है।" इसके साथ उन्होंने "पदांत में विश्राम चिन्ह-रहित छंदों" के लिखने का समर्थन किया है अर्थात् आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक पंक्ति में एक वाक्य समाप्त हो या वहाँ विरामचिन्ह हों। चित्र काव्य की उन्होंने निंदा की है—"यह तो गँवारों के हेतु किया जाता है।"

ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष जोर पकड़ रहा था। खड़ीबोली का समर्थन करना हर प्रगतिशील लेखक का कर्तव्य था। खड़ीबोली गद्य और साधारण बोलचाल की भाषा थी; उसे छोड़कर ब्रजभाषा में कविता करना पुरानी रूढ़ियों को प्रश्रय देना था। मिश्रबंधुओं ने लिखा था—"उपर्युक्त भाषाओं में ब्रज-भाषा को लोग सब से मनोहर कहते हैं, पर हमारा मत इसके विरुद्ध है।···ब्रजभाषा ललित अवश्य है, पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उसके अतिरिक्त खड़ी या अन्य किसी बोली में उतना लालित्य आ ही नहीं सकता है। हमारा तो यह मत है कि जैसी भाषा पठित समाज में बोली जाती हो, उसी का व्यवहार काव्य में भी होना चाहिये, और ऐसी भाषा विशेप रूप में खड़ी बोली ही कही जा सकती है। अतः किसी भाषा की अपेक्षा खड़ी बोली में कविता करना हम अच्छा ससभते हैं।"

बुंदेलखंड के जनजीवन के चित्रकार

स्काट के उपायासों के बारे में कहा गया है कि उनके सबसे सुन्दर भाग वे हैं जहाँ उन्होंने हाईलैण्ड के निवासियों का चित्रण किया है। बीते युग का स्वप्न तो एक स्वप्न है। पाठकों के आगे उसे सच करने के लिये उसके साथ कुछ वर्तमान की सचाई भी होनी चाहिये। वाल्टर स्काट ने हाईलैण्ड की पुरानी कथाओं के साथ अपने समय के लोगों के चित्र ऐसे मिला दिये है कि उन कथाओं पर पाठकों को विश्वास हो जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों पर सचाई की छाप डालने के लिये जगह का भौगोलिक ज्ञान तथा वहाँ के रहने वालों से जानकारी होनी ही चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि स्काट के सब से सुन्दर उपन्यास वे हैं जिनका स्काटलैंड से सम्बन्ध है। बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यासों में भी अधिक सफल वे हैं जिनका बंगाल से सम्बन्ध है। स्काट की ही भाँति अपनी कथाओं की रंगभूमि से निकट परिचय श्री वृंदावनलाल वर्मा को है। वर्मा जी वकील हैं; स्काट से मिलने वाली एक बात यह भी है। शिकार से उन्हें विशेष प्रेम है। शिकार का समय ही शायद उनकी साहित्य-रचना का भी समय होता है। अपने इस सैलानीपन के कारण उन्हें बुंदेलखण्ड के वन-पर्वतों का बहुत ही अच्छा ज्ञान है। बुंदेलखंड में पुराने किलों की भरमार है और उन सभी के साथ एक न एक कथा जुड़ी हुई है। वर्मा जी को अपने उपन्यासों के लिए साधारण लोगों में कही जाने वाली कथाओं से बहुत सी सामग्री मिली हैं। वह बुन्देलखंड की साधारण जनता को निकट से जानते हैं, यह कोई भी उनके उपन्यास पढ़कर कह देगा।

बुन्देलखंड की प्रकृति का उनके ऊपर जो प्रभाव पड़ा है, उसके बारे में उन्होंने 'साहित्य-संदेश' में इस प्रकार लिखा था—

"आप कभी बुन्देलखंड के भीतरी स्थानों में घूमे हों तो आपको स्मरण होगा कि हमारा यह दरिद्र खंड कितना विभूतिमय है। हम लोगों के पास पैसे नहीं हैं, परन्तु हम लोग फिर भी फागें और राछरें गाते हैं, अपनी झीलों और नदी-नालों के किनारे नाचते हैं और अपनी रँगीली कल्पनाओं में मस्त हो जाते हैं। ये ही नदिया-नाले—या नदी-नाले—झीलें और बुन्देलखंड के पर्वत-वेष्टित शस्यश्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं।" वर्माजी के सभी उपन्यासों में प्रकृति के सजीव और सुन्दर चित्र मिलते हैं। 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़कुंडार' में सचाई की जो छाप पाठक के हृदय पर पड़ती है, उसका कारण प्रकृति का यह सजीव वर्णन है। वर्मा जी में भावुकता है इसलिये कभी-कभी उनके प्रकृति-वर्णन में कविता कुछ अधिक आ जाती है जितनी न आनी चाहिये। परन्तु ऐसा कम होता है। आश्चर्य, भय, मोह आदि के भाव जैसे उनकी कथा उकसाती है, वैसे ही भाव उनके प्रकृति-वर्णन में भी मिलते है। वर्माजी में चित्रकार की दृष्टि है और उन्होंने 'गढ़कुंडार' में उसका अच्छी तरह उपयोग किया है।

प्रकृति के साथ ही उनका साधारण जनता से परिचय भी असाधरण है। उनका मन जनता के हृदय से निकले गीतों और उसकी कथा-कहानियों में रम गया है। जैसा कि उन्होंने 'साहित्य-संदेश' वाले पत्र में लिखा है—"हमारे यहाँ हाल में एक 'ईश्वरी' कवि हुआ है। उसका नाम भी यही था। उसकी फागें प्रसिद्ध हैं। गाड़ीवानों, चरवाहों और मल्लाहों से लेकर राजा-महाराजा लोग तक उसकी फागों को झूम-झूमकर गाते हैं। बिहारी के दोहों की तरह उसकी फागें भी छोटी छोटी सी हैं। बहुत सरल भाषा में हैं। ओज और रस से ओत-प्रोत। प्रत्येक फाग किसी मनोभाव का एक सम्पूर्ण चित्र।" इस गाने-बजाने के सिवा बुन्देलखंड के किसानों में हास-परिहास-प्रेम भी खूब है। अवध के किसान देखने में उनसे अधिक सभ्य लगते है। यहाँ के किसानों का रहन सहन, बोली-बानी बहुत कुछ बुन्देलखंड से अलग है। वहाँ के किसानों के घर भोंड़े और छोटे होते हैं। वे कितने पिछड़े हुए हैं, यह उनकी

बैलगाड़ियाँ देखकर समझा जा सकता है। उनकी दरिद्रता का अंत नहीं है, फिर भी उनके हृदय में हास-परिहास के लिए शक्ति बाकी रह गई है। किसी विदेशी लेखक ने लिखा था कि चीनी किसानों की भाँति हिन्दुस्तान के किसानों में हास्य-प्रियता नहीं है। यह बात कम-से-कम बुन्देलखंड के किसानों पर लागू नहीं होतीं। वर्माजी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में जहाँ साधारण श्रेणी के पात्र लाये हैं वहाँ उन्होंने यह हास्य-प्रेम उभारकर दिखाया है। उनकी बातचीत उन्होंने कहीं कहीं बुंदेलखंडी में ही दी है। इससे कथा में सचाई की झलक तो आ ही गई है, पाठक को वह सरसता और मिठास भी मिल जाती है जो उसे सभ्य लोगों की बोली में नहीं मिलती। वर्माजी इस दिहाती बोली का उपयोग जहाँ-तहाँ ही करते हैं, यदि वह अधिक मात्रा में हो तो इसमें सन्देह नहीं कि उनके उपन्यासों की रोचकता और भी बढ़ जाय। वैसे वर्माजी की अपनी भाषा सीधी और हृदय पर चोट करने वाली होती है। उनके उपन्यास पढ़ने से ही मालूम होता है, इन्हें बड़ी तेजी से लिखा गया होगा। इससे कहीं-कहीं भाषा वैसी मँजी नहीं है, जैसी चाहिये। परन्तु इससे एक लाभ यह है कि उसमें एक स्वाभाविक प्रवाह और गति है जो दूसरे लेखकों में कम मिलती है।

बहुत से नये लेखकों के प्रतिकूल वर्माजी को कथा कहना आता है। उनके उपन्यासों की कथाएँ रोचक हैं, और वे कथाएँ अधिकतर त्याग बलिदान और वीरता की कथाएँ हैं। नवयुवकों के हृदयों को वे सहज ही अपनी ओर खींच लेती हैं। परन्तु वर्माजी को बीते युग पर अन्ध श्रद्धा नहीं है। उन्होंने समाज में फैली उन कुरीतियों का चित्रण भी किया है जिनसे न जाने कितना निर्दोष रक्त बहा है और जिन्होंने समाज को शिथिल और निर्बल बना दिया है। इस बात में उनके सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में एकता है।

बुन्देलखण्ड के गावों में किसानों का जीवन एक ही ढर्रे पर चला आता है। मध्यकाल की बहुत सी बातें वहाँ अब भी मिलती हैं, इसीलिये यदि अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग निकाल दिये जायँ, तो वर्माजी के सामा-

है। हर समयके अलग-अलग बेचनेवाले हैं और अलग-अलग उनके खरीदार हैं। तुम जिसका समय चाहो जान सकते हो, उसीके अनुसार तुम्हें मूल्य चुकता करना पड़ेगा।'

रिक्शेवाला चकित होकर कार्डिलोके लम्बे व्याख्यानको सुनता रहा। फिर उसने एक ठण्डी साँस ली और कहा—'अनोखे व्यापारी, मैंने तुम्हारे हज़ारों समयोंकी मूल्यवान् प्रदर्शनी देखी और यह भी जाना कि हर व्यक्तिके समयका मूल्य अलग होता है। इस दुनियामें मैं ही एक अकेला आदमी हूँ जिसके समयका कोई मूल्य नहीं है। मेरे समयका मूल्य मुझपर बैठी हुई सवारीसे लगता है। कभी मैं लोगोंको छूटती ट्रेन पकड़नेके लिए स्टेशन पहुँचाता हूँ, कभी भोले प्रेमियोंको निरुद्देश्य चाँदनीकी सैर कराता हूँ और कभी थके, टूटे हुए मजदूरोंको उनकी कोठरीमें डाल आता हूँ। हर बार मेरे समयका मूल्य बदलता रहता है। जब मेरे पास कोई सवारी नहीं होती और मैं इधर-उधर भटकता रहता हूँ तब मेरे पास समयका कोई मूल्य नहीं होता। मेरे पास यह घड़ी जो तुम देखते हो, मेरे बापकी है जो तेलकी खानमें काम करता था। मैं यह घड़ी तुम्हारे पास छोड़े जाता हूँ। इतने बड़े संसारमें अगर कोई ऐसा निकले जो इन मूल्यवान् व्यक्तियोंके बीच मुझे भी पूछे तो तुम उससे दाम न लेना बल्कि मेरी ओरसे आभार-प्रकाशके रूपमें यह पच्चीस सेंट उसे दे देना जो आज दिनभरकी मेरी कमाई है।'

ऐसा कहकर रिक्शेवालेने दूकानपर अपनी घड़ी और पच्चीस सेंट रख दिये और चलता हुआ। कार्डिलोको पहली बार मालूम हुआ कि समयके इस लाभदायक व्यापारमें सब पाना-ही-पाना नहीं, कहीं कुछ देना भी है।

सांस्कृतिक समन्वय के अग्रदूत : महाकवि रवीन्द्रनाथ

मैं जब इण्टरमीडिएट में पढ़ता था तब अपने सहपाठियों में मेरी भेंट एक मराठा युवक से हुई जिन्हें साहित्य से विशेष अनुराग था। मैं उनसे मराठी सीखना चाहता था, परन्तु हुआ यह कि बँगला सीखने लगा। वह अच्छी बँगला जानते थे और बँगला का बहुत सा साहित्य उन्होंने पढ़ा था। अपने इस साहित्य-प्रेम के कारण इण्टर पास करने में उन्हें ५, ६ वर्ष लगे, और मेरे सौभाग्य से वह तब तक इसी क्लास में रुके रहे जब तक उनसे मेरी भेंट न हो गयी। हम मराठी और हिन्दी जानने वालों के लिए बँगला समानरूप से सरल पड़ती थी। भारतीय भाषाओं में वैसे भी बहुत बड़ी समानता है; श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसे और भी बढ़ाया है। उनकी रचनाओं में जो सांस्कृतिक समन्वय हमें मिलता है, उससे कम महत्वपूर्ण यह भाषागत समन्वय नहीं है।

गुरुकुल कांगड़ी के उपाधि-वितरण के अवसर के लिए अपने भाषण में उन्होंने लिखा था कि हम राष्ट्रीयता की घोषणा करते हुए भी एक दूसरे को जानते पहचानते नहीं हैं और न जानने पहचानने की चेष्टा ही करते हैं। बिना इस जान-पहचान के राष्ट्रीयता का विकास कैसे हो सकता है ? जो बात धर्म और सम्प्रदायों के लिए सच है, वही बहुत कुछ हमारे साहित्यों के लिए भी ठीक है। अपनी भाषाओं और साहित्यों के बीच हमने दीवालें (tariff walls) खड़ी कर रखी हैं जिससे पारस्परिक आदान-प्रदान में बाधा पड़ती है अथवा हम चेष्टा करते हैं कि सारा साहित्यिक व्यापार हमारे ही हाथों में रहे। यूरोप के व्यापारियों का अनुकरण हम भाषा और साहित्य में भी करना चाहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस भेद-भाव को दूर करके एक दूसरे के निकट

आने का आदेश दिया है। उनके इस सन्देश को मानना और उसे कार्य रूप में परिणत करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।

श्री रवीन्द्रनाथ का जीवन सांस्कृतिक समन्वय के प्रयास में बीता है। संस्कृत में उपनिषद्, हिन्दी में सन्त साहित्य तथा अंग्रेजी में रोमाण्टिक कवियों की मानवधारा से उन्होंने अपने साहित्य को मधुर बनाया है। भारतवर्ष के प्रति ब्रिटिश शासकों का व्यवहार देखकर पूर्व और पश्चिम की सभ्यता के मिलने की उनकी आशा मन्द पड़ गयी है। यूरोप का संघर्ष मनुष्यता के विकास में बाधा डाल रहा है और इसीलिए उन्हें यूरोप से भविष्य के रचनात्मक कार्य के लिए आशा नहीं है। यदि हमारे देश को इस विकास में, आगे के रचनात्मक कार्य में सहायक होना है तो उसे अपनी एकता को पहचानना होगा। इस एकता की पहचान के लिए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का साहित्य हमारी सहायता करेगा। उसे पढ़ कर हम भारतवासियों की विशेषताओं को पहचान सकेंगे। जैसे-जैसे हम एक दूसरे के साहित्य को निकट से देखेंगे, वैसे वैसे विषमता दूर होगी और समानता बढ़ेगी। हम अपने आपको एक ही भारतीयता के सूत्र में गुँथा हुआ पायेंगे। श्री रवीन्द्रनाथ ने अपना जीवन इस एकता और समानता के भाव को बढ़ाने में लगाया है। उन पर श्रद्धा प्रकट करने की सबसे उचित प्रणाली यही है कि हम उस कार्य को और आगे बढ़ायें। कवि ने यूरोप में जैसे सांस्कृतिक एकता देखी है, वैसे ही हम भारतवर्ष में एक भारतीय संस्कृति का विकास करें। और यह संस्कृति मनुष्य के विकास में अधिक सहायक हो, कवि ने इसके लिए साधना की है। एक सिख गुरु के मुख से उन्होंने अपनी ही बात कही है—

आमार जीवने जीवन लभिया जाग रे सकल देश !

सारे देश का जागरण तभी सम्भव है जब हम कवि की साधना को अपना लें और देश को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करें। मेरी समझ में यही उनके प्रति उचित श्रद्धा है, उनका समादर है और उनके साहित्य से अनुराग है।

१९४१

कवि विक्तर ह्यू गो

हिन्दी के पाठक विक्तर ह्यू गो के नाम से भली-भाँति परिचित हैं। उनके उपन्यासों ने यूरोप में वह नये मानववादी उपन्यासों की परम्परा आरम्भ की जिसे तोल्स्तोय और तुर्गनेव जैसे लेखकों ने विकसित और पुष्ट किया। उपन्यासकार के साथ वह फ्रान्स के महान् कवि भी हैं जिनका फ्रान्सीसी वैसे ही सम्मान करते हैं जैसे अंग्रेज शेक्सपियर का। १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में उन्होंने पुरानी रूढ़ियों को तोड़कर नये रोमाण्टिक साहित्य की नींव डाली। "ले मिज़ेराब्ल" के पाठक जानते हैं कि यह नवीन परम्परा कितनी शक्तिशाली थी। उनकी कविताओं की छाप १९ वीं सदी की फ्रांसीसी कविता पर ही नहीं पड़ी, वरन् इंगलैण्ड और अन्य देशों के भी क्रान्तिकारी कवियों ने उससे प्रेरणा प्राप्त करके सजीव साहित्य की रचना की है।

ह्यू गो का जन्म एक पुराने स्पेनिश गांव में हुआ था। उनके पिता नैपोलियन की फौज में अफसर थे। माता ने ही उनका लालन-पालन किया और उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया था। पिता के विपरीत वह राजसत्ता की समर्थक थीं। ह्यू गो भी पहले प्रजातंत्र के विरोधी रहे। अनेक पुरानपंथी आलोचकों ने उनके राजनीतिक विचारों में असंगतियाँ दिखाई हैं, लेकिन नैपोलियन तृतीय के गद्दी पर बैठने के बाद से वह बराबर प्रजातंत्र के दृढ़ समर्थक बने रहे, इसमें सन्देह नहीं। बीस साल तक वह फ्रान्स से बाहर प्रवासी का जीवन बिताते रहे क्योंकि उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक उनके देश में सम्राट् का स्वेच्छाचारी शासन रहेगा तक तक वे उसमें पैर न देंगे। १८७० में वह फिर फ्रान्स लौटे और जनता ने उनका ऐसे स्वागत किया, जैसे स्वर्ग से कोई देवता आया हो। "ले शातीमाँ" में उनकी तीव्र व्यंग्यपूर्ण राजनीतिक

कविताएँ हैं; "ला लेजाँद द सियेक्ल" में उन्होंने जनसाधारण के बारे में मर्मस्पर्शी रचनाएँ की हैं। "ले कोन्ताम्प्लासियों" में उनका अनुपम गीति-काव्य है। इन काव्य-पुस्तकों का महत्व उनके उपन्यासों से कम नहीं है। कला की दृष्टि से उनकी रचनाओं में बहुत सी खामियाँ दिखायी गयी हैं, लेकिन उनकी सभी कृतियों पर उनके उद्धत क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की छाप हैं। उनकी सफल वर्णन शैली और प्रवाहपूर्ण भाषा पतझर के पत्तों की तरह द्रुतवेग से पाठक को बलात् अपने साथ बहा ले चलती है। उनमें एक महान् कवि का वैचित्र्य भी है; यदि वह मॉस्को से लौटती हुई नैपोलियन की फ़ौज का महानाटकीय चित्रण कर सकते हैं, तो उसी कुशलता से एक आनन्द-विभोर पितामह के रूप में छोटे से बच्चे की निर्दोष मुस्कान का भी। हर महाकवि के समान ह्यूगो भी अनुवादक के लिए एक विकट समस्या हैं। फ्रेञ्च भाषा का पूर्ण भण्डार उनके सामने खुला हुआ है और शब्दों का ऐसा निपुण चयन फ्रान्सीसी साहित्य में भी कठिनता से मिलेगा। इसके साथ अन्य कवियों से अधिक छन्द का प्रवाह उनकी कविता के प्रभाव में सहायक होता है।

१९४५

कीट्स का काव्यादर्श

प्रत्येक कला की भाँति कविता में भी कीट्स रसोत्कर्ष चाहता है; उसमें पढ़ने वाले के हृदय में आनन्द के उद्रेक करने की शक्ति होनी चाहिए। जितना ही जो कविता आनन्द देगी, उतनी ही उत्कृष्ट समझी जायगी। कविता का सबसे बड़ा गुण होना चाहिए स्वाभाविकता। मार-मार कर ज़बर्दस्ती दिमाग़ से निकाली हुई न होनी चाहिए। कीट्स के अनुसार जिस प्रकार पेड़ में नई कोपलें फूटती हैं, उसी प्रकार कवि-हृदय से कविता निकलनी चाहिए। पढ़ने वाला सोचे कि वह भी वही बात सोचा करता था, पर अब तक उसे स्पष्ट न जान पाया था। यह कहकर भी कीट्स कविता में पाठक को आश्चर्य से हठात् चमस्कृत कर देने वाले भावों के समावेश का विरोध नहीं करता। भाव आश्चर्य-उत्पादन करने वाले हों, पर उनके व्यक्त करने का ढंग स्वाभाविक होना चाहिए— "Poetry should surprise by a fine excess." कविता जिस आश्चर्य का सृजन करती है, वह अत्यन्त सूक्ष्म कोटि का है। रसोद्रेक का अन्त असंतोष में न होना चाहिए। मन पर एक आनन्ददायिनी शांति छा जाय, जैसी किसी महान् नाटककार का नाटक देख या पढ़ लेने पर प्राप्त होती है।

कवि से आशा की जाती है कि वह सत्य और सुन्दर का चित्रण करे; संसार में जिन्हें हम अशिव और असत्य कहकर पुकारते हैं, उनका क्या हो? कीट्स के मन में इस विषय की कोई खींच-तान न थी। कवि को सृजन करने में आनन्द आता है; स्थूल वस्तुओं को देखकर वह अपने कल्पना-चित्र बनाता है। बुरे और भले, पाप और पुण्य, सत्य और असत्य के चित्रण में उसे समान आनन्द आता है। कवि का कोई व्यक्तित्व नहीं होता। शिव और अशिव, दोनों में पैठकर वह उनकी

आत्मा को टटोलता है । यहाँ पर कीट्स के सह-सामयिक शेली के कविता-संबंधी विचारों की ओर दृष्टि डालने पर कीट्स के विचारों की स्पष्ट सत्यता ज्ञात होती है । शेली के अनुसार कवि को केवल आदर्श सत्य और सौंदर्य का चित्रण करना चाहिए । जो निष्कलंक सौंदर्य के जितना ही निकट पहुँचता है, वह उतना ही बड़ा कवि है । असत्य और पाप के चित्रण से कविता गिर जाती है । इसीलिये शेली की समझ में उसके नाटक प्रोमीथियस अनबाउन्ड (Prometheus Unbound) का नायक प्रोमीथियस मिल्टन के सैटन (Satan) की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है—क्योंकि उसमें सैटन के चरित्र की विभूतियों के होते हुए भी वे दुर्गुण नहीं, जिनके कारण सैटन का पतन होता है । चरित्र की दुर्बलताओं के चित्रण से भी पात्र का सौंदर्य बढ़ सकता है, तथा एक दुष्टात्मा के निर्माण में भी कवि को वैसा आनन्द आ सकता है, जैसा कि एक साधु के, यह शेली की समझ में बहुत काल तक न आया था ।

सत्य वही नहीं जिसका पार्थिव दृश्यमान अस्तित्व है । आत्मा को जिसकी अनुभूति हो, वही सत्य है । कवि वस्तु का सौन्दर्य-ज्ञान करके उसका सत्य जानता है । कीट्स जब तक स्वयं किसी पदार्थ के सौन्दर्य को नहीं पहचानता, तब तक उसे उसके सत्य का ज्ञान नहीं होता ।

साधारणतः जिस सौंदर्य के प्रति मनुष्य आकर्षित होता है, कीट्स जानता था, वह सत्य नहीं । वैज्ञानिक जिस प्रकार क्रम से प्रयोग करके एक परिणाम पर पहुँचता है, उसी प्रकार कवि अपने कल्पना-मार्ग पर धीरे-धीरे आगे बढ़ता है । अनेक कष्ट और दुःख उसके सामने आते हैं : उन पर विजयी होकर ही वह लक्ष्य तक पहुँच सकता है । सच्चा सौंदर्य दुःख की आँच में तपकर चमकता है, यह विचार उसकी कविता और पत्रों में विशेष रूप से वर्तमान है । हाईपीरिअन (Hyperion) में कविता का देवता अपोलो एक भयानक पीड़ा सहकर अपनी पूर्ण कान्ति में चमक उठता है, मानो कोई मनुष्य ऐहिक जीवन की मृत्यु-पीड़ा सहकर नव-जीवन में जगा हो ।

एक पत्र

अप्रैल के 'विशाल भारत' में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक छोटा सा लेख लिखा है हमारे गुमराह भाई'। यह गुमराह शब्द प्रयुक्त हुआ है हिन्दी के कवि निराला जी और पंत जी के लिए। यह पहला अवसर नहीं है जब वह श्रेष्ठ साहित्यिकों के लिये ऐसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करने चले हैं। उनकी कविता के मापदंड हैं श्री श्यामसुन्दर खत्री। उनके लिए चतुर्वेदी जी ने लिखा था कि उनकी कई कविताएं 'तो ऐसी हैं,' जो वर्तमान हिन्दी कवियों की अच्छी से अच्छी रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं।' शब्दों में संयम का आदर्श पेश करते आगे लिखा था, 'हिन्दी का दुर्भाग्य है कि जिन्हें कविता करनी चाहिए उन्हें अपने समय का सर्वोत्तम भाग क्लर्की में बिताना पड़ता है, और जिन्हें खुरपी लेकर घास खोदनी चाहिए, वे कविता-क्षेत्र को चरे जा रहे हैं।' आलोचना के लिए सभी को हक़ है लेकिन यह बात कहने का तरीक़ा देखिए!

उन्हीं के मुँह से सुन चुका हूं कि 'कविता वविता मैं समझता नहीं, लोग ऐसा कहते हैं'। अपने पक्ष समर्थन में लोगों की राय को जितना वह महत्व देते हैं उतना तर्कों को नहीं। इसलिए हिंदी कवियों को गुमराह साबित करने के लिए उन्होंने लेलिन से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक के मत उद्धृत किए हैं। राल्फ़ फॉक्स से दिए गए उद्धरण के अनुसार लेलिन वैज्ञानिक ग्रन्थों को छोड़कर और सब ऐसा लिखता था जो एक मज़दूर भी समझ सके। आखिर ये वैज्ञानिक ग्रन्थ ही क्यों अपवाद-रूप रखे गए! मार्क्स की 'कैपिटल' मजदूर वर्ग की बाइबिल कही जाती है लेकिन पचासों अर्थशास्त्रियों के मत दिए जा सकते हैं कि उसे समझना बहुत ही मुश्किल है। कितने मज़दूर 'कैपिटल' पढ़ते हैं; या कितने उनके

नेता कम्यूनिस्ट ? लोग विज्ञान को अध्ययन की वस्तु मानते हैं परंतु कविता को दालभात समझते हैं। आप सिर्फ घर में रहते हैं इसलिए निर्माण कला पर मत देने के अधिकारी नहीं हो जाते; न इसी तरह शब्द सुनकर संगीत पर या चित्र देखकर चित्रकला पर। चूंकि हम बोल लेते हैं इसलिए समझते हैं कि कविता जो हमें अच्छी न लगे वह दो कौड़ी की !

यह सब होते हुए साहित्य में हमें सभी का मत सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए बशर्ते कि उन्होंने किसी लेखक की रचनाओं को पूरी तरह पढ़ने के बाद अपनी राय दी हो। चतुर्वेदी जी ने निराला और पंत की एक एक रचनाओं से उद्धरण देकर उनकी सभी रचनाओं के लिए राय क़ायम की है।

अन्य साहित्यों से अपरिचित होने के कारण और अपने साहित्य की ओर एक विद्यार्थी के बजाय एक मसीहा का दृष्टिकोण रखने के कारण श्री चतुर्वेदी जी हिंदी की नई धाराओं के विरोधी रहे हैं।

पंत जी और निराला जी की कविताओं के मुक़ाबिले जो उद्धरण दिए गए हैं उससे हिन्दी की प्रगति का अज्ञान सूचित होता है।

जहां जहां पड़ चुका है पानी, भरी हुई हैं वहां की झीलें,
और उसमें जाकर सुहागनें सबकी सब झपाझप नहा रही हैं।

यह दृश्य उनके लिए कितना भी मनमोहक हो—पर उसे हम अपना आदर्श नहीं बना सकते। आवेशपूर्ण भावोद्गार (रोमांटिक एफ्यूज़न) या कोरी भावुकता (चीप सेंटिमेंटेलिज्म) से संसार की कविता कितना आगे बढ़ आई है, यदि चतुर्वेदी जी यह जानते तो जोश आदि के पद्य उद्धृत न करते।

मैंने उनसे कहा था, 'आपने 'वर्तमान धर्म' पर इतना लिखा, निराला जी की 'देवी' और 'चतुरी चमार' भी पढ़ा ?' बोले, 'नहीं।' साहित्य में उनकी पढ़ाई ऐसी ही है। कविताओं के बारे में बातचीत होते जब उन्होंने उन्हें ऊटपटांग कहा तो मैंने पूछा कि कौन सी कविता आपकी समझ में नहीं आती ?' बोले, 'मैं तो कविता वविता समझता

नहीं, लोग ऐसा कहते हैं।' और अंत में उन्होंने यह शिक्षा भी दी कि हिंदी में निराला का पक्ष समर्थन करोगे तो बदनाम हो जाओगे !

हिंदी के दो श्रेष्ठ क्रान्तिकारी लेखकों उग्र और निराला का, किसी न किसी बिना पर, वह बराबर विरोध करते रहे हैं । मैंने उनसे तब भी कहा था, अब भी कहता हूँ, वह प्रतिभा को न पहचान कर सदा मिडि-यॉक्रिटी को श्रेय देते रहे हैं । साहित्य की उन्नति इसी मिडियॉक्रिटी के ऊपर उठने से होती है ।

जिन साहित्यिकों के कारण हम थोड़ा बहुत सर उठाने के योग्य हुए हैं, उन्हीं के सर को दबाने की चतुर्वेदी जी ने हमेशा कोशिश की है । उनकी कीर्ति हिंदी में इसलिए अवश्य रहेगी कि उन्होंने उग्र और निराला की मुख़ालिफ़त की है । उनके आलोचना-साहित्य में 'घासलेट' 'बौड़मपन' 'गुमराह' 'प्रलाप' आदि वे अलंकार हैं जिन्हें उन्होंने इन साहित्यिकों को भेंट किया है । ऐसे शब्दों का प्रयोग उन्हें वैसे संयमित उत्तर का अधिकारी नहीं बनाता जैसा इस पत्र में दिया गया है ।

१९३९

स्वदेशी भाषा और अहिंसावादी साहित्य

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अनेक पदाधिकारी इस बार अपनी असाहित्यिकता के कारण एक विशेषता लिये हैं। साहित्य में जितने भी जन अधिक संख्या में दिलचस्पी लें, हमें उससे प्रसन्न होना चाहिए। परन्तु ये मेधावी हिंदी-साहित्य के पास विद्यार्थी के रूप में नहीं आये। उसे जानने-पहचानने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने वाली अपनी प्रकृति के अनुसार उन्होंने हिन्दी-साहित्यिकों को तरह-तरह के उपदेश दिये हैं। यदि वे हमारे साहित्य का सहृदयता-पूर्वक अनुशीलन कर के उसकी त्रुटियाँ साहित्यिकों को बताते तो उनके कार्य पर सबको हर्ष होता। पर उनकी असाहित्यिकता और साहित्य के अज्ञान का घोष उनके उपदेश की मधुर वाणी से मेल नहीं खाता।

सम्मेलन के सभापति ने, शायद अपने पूर्व राष्ट्रपति होने का स्मरण करके, कहा है - "सुविधा के विचार से हिन्दी को राष्ट्रभाषा हमने माना है।" फिर इस सुविधा के मार्ग में जो अड़चनें आयें, उन्हें क्यों न हटाया जाय ? आप कहते हैं—"हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सिख बसते हैं और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे और तो भी वह हिंदी ही रहेगी।" जैसे कांग्रेस, राष्ट्र की एकता का प्रतीक, अपने भीतर सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि रखती है, वैसे हिन्दी तब तक राष्ट्रभाषा न होगी, जब तक उसमें सभी भाषाओं के प्रतिनिधि शब्द न होंगे। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री ब्रजलाल बियाणी ने इस बात को भली भाँति समझा है और उसे सबसे अधिक स्पष्ट रूप में कहा है—"हिन्दी-भाषा के प्रचार तथा सर्वप्रियता के लिए आवश्यक है कि उसका शब्दभाण्डार सब भाषाओं से लिये हुए शब्दों से भरा हो। हर एक प्रांतवासी में हिन्दी के लिए

ममत्त्व पैदा होने के लिए हिन्दी के शब्द-कोष में उसका भी हिस्सा होना आवश्यक है।" जब तक यह शब्द-कोष न बने, तब तक इस भाषा की कल्पना करना कठिन है। अभी अन्य प्रान्तों के भिन्न भाषा-भाषी हिंदी ही सीखते थे, अब वे उसके साथ थोड़ी-थोड़ी सभी प्रान्तीय भाषाएँ सीखेंगे। हिंदी बोलने वाले, जिन्हें तमिल, कन्नड़, बँगला, मराठी, गुजराती आदि का ज्ञान नहीं—कोश देखकर शुद्ध हिन्दी बोलेंगे। यह भाषा हिंदी होगी या और कुछ, इसे काका साहब श्री कालेलकर ने अच्छी तरह समझा है। इस भाषा का अपना नाम-करण करते हुए उन्होंने कहा है —"स्वदेशी भाषा में हम बोलेंगे।"

भाषा-संस्कार के साथ इन हिन्दी के शुभेच्छुकों को हमारे साहित्य की उन्नति का भी ध्यान है। राजनीतिक सुविधाओं के ही लिए हिंदी की आवश्यकता नहीं। बाबू राजेंद्रप्रसाद के अनुसार "राष्ट्र का प्राण साहित्य होता है, और उस साहित्य का निर्माणकर्ता समाज का बहुत बड़ा सेवक होता है।" तब हिन्दी-साहित्य की त्रुटियाँ दूर होनी ही चाहिए। काका कालेलकर के अनुसार आधुनिक साहित्य का पूर्व भाग दूसरों की नकल का फल है। "इस ज़माने का हमारा प्रारंभिक साहित्य अनुकरणरूप ही था और अनुकरण तो निष्प्राण ही हो सकता है।" "हमारे साहित्य" में किन-किन साहित्यों की गणना है नहीं मालूम; यदि हिन्दी की है तो उसके साथ अन्याय है। "इस ज़माने का हमारा प्रारंभिक साहित्य" एक ऐसा गोल वाक्य है कि समय ठीक से निर्धारित नहीं हो सकता। फिर भी भारतेन्दु से लेकर आज तक जो नये युग का जीवन है, उसमें उत्पन्न किसी भाग के साहित्य पर ऊपर का आक्षेप लागू नहीं होता। अन्य साहित्यिक जागृतियों की भाँति हमारे यहाँ बाहरी साहित्यों के संपर्क से विचारों में नवीनता आई है, पुरानी रूढ़ियों का ध्वंस और नई धाराओं का निर्माण हुआ है। यदि यह अनुकरण है तो कोई भी जीवित साहित्य उससे नहीं बचा।

"पिछले थोड़े वर्षों में हिंदी ने बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय साहित्यों से अपना साहित्य कम समृद्ध नहीं किया है। आदान-प्रदान में

हिन्दी सिद्ध हो चुकी है। हम हिन्दी को जो कुछ देते हैं, वह उसे संशोधित कर देश के कोने-कोने में पहुँचा देती है।" किसी नव जाग्रत भाषा के साहित्य की ऊँचाई जल्दी आँकना आसान नहीं। जो कृतियाँ शीघ्र प्रसिद्धि पाती हैं, वे बहुधा पाठकों की पूर्व-निश्चित धारणाओं के बहुत कुछ अनुकूल तथा कुछ-कुछ पुरानी रूढ़ियों का अवलंब लिये होती हैं। हिन्दी में अब भी इतने रूढ़िवादी हैं कि क्रांतिकारियों को उचित श्रेय नहीं मिला। जो हमारे यहाँ का वास्तविक मौलिक साहित्य है, उसकी समुचित छानबीन धीरे-धीरे ही संभव है। परंतु वैसा करना उसकी ओर से आँख मूँद कर राय देने से संभव नहीं; उसके लिए अध्ययन करना पड़ेगा।

हिन्दी-भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों के वहिष्कार के समान हमारे नेताओं ने हिन्दी-साहित्य में अश्लीलता का दुःस्वप्न भी देखा है। गाँधीजी का वश चले तो वह साहित्य-सम्मेलन से उस रस को त्याज्य ही मनवा दें। वश चले तो गांधीजी ब्रह्मचर्य द्वारा सबसे संतति-निग्रह करवा दें। परन्तु वश चले तो भी यह हानिकर होगा। समयानुकूल प्रकृति की पुकारों को न मानने से बुरा फल मिलता है। असाधारणों का नियम सब पर लागू नहीं हो सकता। यदि साहित्य का संपर्क जीवन से रहेगा तो उसमें शृंगारी वर्णन अवश्य आयेंगे। क्या हिन्दी, क्या संस्कृत, बड़े-बड़े संतों ने अपने साहित्य में जीवन का पूर्ण चित्र उतारने के लिए शृंगार का वहिष्कार नहीं किया। देखना केवल यह होता है कि यह शृंगार पतित मनोभावों का परिचायक तो नहीं है। हिन्दी के पुराने साहित्य के लिए यह आक्षेप अधिक सही हो सकता है। तब कवि जिस रस का वर्णन करता था, चाहता था कि उसी के अनुकूल आचरण करने के भाव पाठक या श्रोता के मन में उत्पन्न हों। आधुनिक साहित्य में कलात्मक आनंद की ओर अधिक ध्यान है। किसी खूनी का चित्रण करके कवि हमें खूनी बनने के लिए नहीं बुलाता। संसार के बड़े-से-बड़े साहित्यिकों ने पाप को अपना विषय बनाकर अद्भुत कृतियों को जन्म दिया है। अस्तु, यदि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक मनोभावों और आकर्षण-

प्रत्याकर्षण का स्वस्थ वर्णन हो तो वह साहित्य भी समाज को उठानेवाला होगा।

काका कालेलकरजी को साहित्य-नियंत्रण के संबंध में और किसी से कम चिन्ता नहीं। आज साहित्य पर न राजसत्ता का नियंत्रण है न धर्माचार्यों का। "जो लोग साहित्य का रस जानते हैं और समाज का हित चाहते हैं, इतिहास और आदर्श, दोनों की दृष्टि रखकर जो लोग समाज की प्रगति में मदद कर सकते हैं, ऐसे पुरुषों का ही नियंत्रण साहित्य पर रहना चाहिए। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे साहित्याचार्यों ने अपना यह कर्तव्य छोड़-सा दिया है और साहित्य-जगत् में मनमानी मचाने की ठान ली है।" हमें काका साहब से सहानुभूति प्रकट करने की आवश्यकता नहीं; हमारे यहाँ के आचार्य लोग अब भी अधिकांश प्यूरिटन प्रवृत्ति के हैं। यह सभी जानते हैं कि अश्लीलता का कहीं आभास पाते ही वे धरती सिर पर उठा लेते हैं। परंतु काकासाहब को इन पर विश्वास नहीं। उन्हें आशा है, एक दिन साहित्यिक शासन की बागडोर उनके हाथों में आयेगी; तब वह इन उच्छृंखल व्यक्तियों को गिन-गिनकर फाँसी पर लटकायेंगे।—"भारतीय साहित्य-परिषद् जब पूर्ण रूप से विकसित होगी, तब साहित्य-शुद्धि सँभालने की जिम्मेवारी कानून के या धर्मतंत्र के हाथों में नहीं रहेगी, साहित्य ही अपने क्षेत्र को सँभाल लेगा।"

आदर्श साहित्य-निर्माण के लिए गांधीजी, बाबू राजेंद्रप्रसाद, काका साहब आदि सभी ने उपदेश दिये हैं। इन्हें देख कर कोई अपरिचित यही समझेगा कि हिन्दी में एकदम पतित और समाज का अहित करनेवाला साहित्य रचा जा रहा है। इसका उत्तर एक लेख में देना संभव नहीं। साहित्यिकों के नाम गिनाने की अपेक्षा उनकी कृतियों का सुचारु विवेचन अधिक श्रेयस्कर होगा। तब तक अपने नेताओं की शुभ कामनाओं के लिए अनुगृहीत होते हुए हम यही आशा करते हैं कि यदि उनका हमारे साहित्य से कुछ दिन और संपर्क रहा तो वे उसमें अपने अनेक सिद्धांतों को कार्य रूप में परिणत पायेंगे। १९३६

भाषा और राष्ट्रीयता

इसी साल अभी अगस्त के महीने में श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ते में महाजाति-भवन का शिलान्यास करते हुए बताया है कि बंगाल ने भारत के नये अभ्युत्थान में किस प्रकार योग दिया है। बंगाली भाषा, साहित्य, कला और संगीत--सभी का उन्होंने उल्लेख किया था। इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अभिमान प्रकट किया कि विदेशी सभ्यता का स्वागत करने में बंगाल सर्वप्रथम था। अंग्रेजी समाचारपत्रों में उनका वाक्य इस प्रकार छपा था--"Bengal led India in welcoming European culture to her heart." योरप की सभ्यता अपनाने में बंगाल भारत का अग्रणी था। विदेशी सभ्यता विदेशी शासन के ही साथ हमारे देश में आई है। स्वाभाविक था कि राष्ट्र-प्रेमी व्यक्तियों ने विदेशी शासन के समान उस सभ्यता से भी अपने को दूर रक्खा। परन्तु बंगाल में ऐसे ख्यातनामा व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने उत्थान के लिए अंग्रेजी-शिक्षा को आवश्यक समझा। उस शिक्षा के प्रसार के साथ बंगाल के नये साहित्य का भी उद्भव हुआ। इसलिए अनेक बंगाली अपने साहित्य पर गर्व करते हुए उस शिक्षा पर भी गर्व करते हैं। फिर भी गुलामी-गुलामी है, उस पर अभिमान करना किसी को शोभा नहीं देता।

बंगाली विद्वानों के हृदय में विदेशी शिक्षा और सभ्यता के प्रति यह भावना कितनी दृढ़ता से घर कर गई है, इसका एक और प्रमाण देखिए। बंग-साहित्य-सम्मेलन के सभापति सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीति-कुमार चटर्जी ने इसी बात का उल्लेख कर के कहा था--"ऊनविंश शतके इंग्रेजेर अनुगामी बांगाली इंग्रेजी शिक्षाय भारतेर गुरुस्थानीय छिल।" और यही नहीं कि केवल घटनाचक्र में पढ़कर अँग्रेज के अनुगामी बंगाली को

अँग्रेजी-शिक्षा लेनी पड़ी हो, बंगाल के अन्यतम भाषातत्वविद् डा० चटर्जी ने उसी शिक्षा की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—"इंग्रेजी के बाद दिया अन्य कोन भाषा के ताहार स्थाने बसाइते गेले आमादेर मानसिक क्षति घटिवे।" इतना बढ़ा-चढ़ा अंगरेजी के प्रति इनका प्रेम हैं कि उस के स्थान पर अन्य किसी भाषा को रखने से मानसिक क्षति की संभावना है। ऐसे शब्द उसी व्यक्ति के मुँह से निकल सकते हैं, जिसकी परमुखापेक्षिता चरम सीमा को पहुँच चुकी हो।

१९३९

देवदास की समस्या

देवदास की समस्या देवदास और पारू के अतृप्त प्रेम की समस्या है; हमारे न-जाने कितने भावुक युवक देवदास में अपना प्रतिबिंब देखकर उसकी वेदना से संतोष लाभ करते हैं। उनके लिए देश और समाज की समस्याएँ ऐसे अतृप्त प्रेम के चित्रण में सीमित हैं। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में विभिन्न वर्गों के जिस शोषण, नये-नये प्रभावों से उनके परिवर्तन, और राष्ट्रीय आन्दोलन तथा किसान और इतर वर्गों के संघर्ष की जो विशद व्याख्या की है, एक युग के क्रांतिकारी इतिहास को ही जो अपनी कृतियों में बाँध दिया है, उसकी ओर वह आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहते। उनके गले में पड़ा हुआ भावुकता का पत्थर उन्हें किस अतल की ओर लिये जा रहा है, यह भूलकर वह दूसरों को ही अपने पाप के लिए दोषी ठहराते जाते हैं। यह कोई हिन्दी, बँगला और प्रेमचन्द, शरत्चन्द्र की बात नहीं है; अनेक साहित्यों में इनकी तरह के दो विभिन्न श्रेणियों के साहित्यिक मिलेंगे। वहाँ के जातीय उत्थान-पतन और साहित्यिक विकास का अध्ययन करने से हमारे देश के लिए शरच्चन्द्र और प्रेमचन्द के यथोचित महत्व का पता लग जायगा।

यथार्थ की कटुता मिटाने के लिए रहस्यवाद की 'अफीम का जो नशा दिया गया है, हम उसी में बेसुध पड़े रहना चाहते हैं; कोई जगाता भी है तो नशे में उसी को उल्टी-सीधी सुनाना शुरू कर देते हैं।

शरत् बाबू के साहित्य में व्यक्तिगत भावुकता का ऊहापोह है; राष्ट्र और समाज की विशद समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं गया। हिन्दी में उनकी अत्यधिक प्रसिद्धि का कारण यह रहा है कि अनेक मध्यवर्गीय युवक संग्राम से दूर जाकर जीवन की असफलताओं को बिसूर-बिसूरकर रोना पसंद करते हैं। जिन लोगों ने 'देवदास' फ़िल्म को

बार-बार देखकर आँसू बहाये हैं, उनकी मानसिक स्थिति का अध्ययन करके हम शरत् बाबू के प्रभाव को समझ सकते हैं। ऐसे लोग देवदास की असफलता में अपनी अतृप्त इच्छाओं का प्रतिबिंब देखते हैं और जिस निराशा और सर्वनाश के गर्त में वह गिरा हुआ है, उसी में अपने-आपको भी कल्पित करके एक अस्वस्थ आनंद से संतुष्ट होते हैं। शरच्चन्द्र के उपन्यासों में जो अतृप्ति और निराशा का चित्रण है, उसने मध्यवर्ग के पाठक को गद्गद् कर दिया है; परन्तु यह हृदय की दुर्बलता है, कोई अभिमान करने की वस्तु नहीं। इसके विपरीत हम प्रेमचंद में देश की विशद आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का चित्रण पाते हैं। जमींदारी उत्पीड़न, महाजनों का शोषण, परंपरा से चले आते अंधविश्वास और इन सबसे युद्ध करती हुई एक नई विद्रोही किसान-चेतना—इसका चित्रण प्रेमचंद ने किया है। समाज के निकृष्टतम अंग चमार और अछूत, उन पर निर्धन किसान, फिर कारिंदे, चपरासी और जमींदार, राजे-रईस, शहर के बाबू लोग, मध्यवर्ग के नौकरीपेशा लोग, व्यापारी, पूँजीपति, नये उद्योगधन्धों से उत्पन्न नया मजदूरवर्ग, अंग्रेज कर्मचारी, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई,—समाज का कौन-सा अंग प्रेमचंद ने चित्रित करने से छोड़ दिया है, उसे ढूँढ निकालना मुश्किल होगा। जीवन की विचित्र परिस्थितियों में पड़कर प्रेमचंद ने समाज के विभिन्न अङ्गों का समीप से अध्ययन किया था और उनके संघर्ष का उन्होंने चित्रण किया। असहयोग और लगानबन्दी के आन्दोलन को लेकर उन्होंने उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। उन्होंने दिखाया, व्यक्ति पर उसके चारों ओर के वातावरण का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति किस प्रकार उस संघर्ष को प्रगति देता और समाज की समस्याएँ सुलझाने का प्रयत्न करता है। बँगला में ही नहीं, अँगरेजी साहित्य में ऐसा एक उपन्यासकार न मिलेगा, जो प्रेमचंद की इस विशद चित्रकारी की तुलना में ठहर सके। उनकी समता रूसी क्रान्ति के पूर्ववर्ती लेखकों से ही की जा सकती है, जिन्होंने प्रेमचन्द की भाँति एक आदर्शवादी छाप लिये

हुए भी क्रांति के लिए सचेष्ट एक विशाल समाज के विभिन्न वर्गों का तुमुल संघर्ष चित्रित किया है। हमें राजनीतिक नेताओं से कहना है—शरच्चन्द्र की माँग करने से पहले प्रेमचंद की रचनाएँ पढ़िए और देखिए, उन्होंने जन-आन्दोलन का कैसा सजीव और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है और धन और सम्मान को गले लगाने वाले, ऊपर से त्याग का दुपट्टा ओढ़ने वाले नेताओं पर कैसे सुन्दर-सुन्दर व्यंग्य किये हैं।

१६३६

राजनीतिक नेता और हिन्दी

राजनीतिक नेता लोग साहित्य पढ़ेंगे, इसकी आशा करना व्यर्थ जान पड़ता है। फिर भी साहित्य राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। नेताओं की राजनीति गँदली होने पर उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ सकता है, विशेषकर जब थोड़ा-बहुत शासनाधिकार हाथ में होने से वे बालकों और नवयुवकों की शिक्षा के लिए उत्तरदायी भी हों। ऐसी दशा में शिक्षा और भाषा में हस्तक्षेप करने के पहले उन्हें साहित्य के विकास और उसकी मूलधारा का ज्ञान होना आवश्यक है। आज की भारतीय राजनीति समझौते पर निर्भर है। यह समझौता कभी India Act के लिए अंग्रेज सरकार से कुछ शर्तें मनवाकर होता है, कभी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन में बँटवारा करने के लिए श्रीजिन्ना से म० गांधी और श्री जवाहरलाल नेहरू की बातचीत के रूप में प्रकट होता है। हमने हिन्दी-साहित्य में समझौता करना नहीं सीखा। हम समझौता नहीं, एका करने में विश्वास रखते हैं और यह एका एक स्वतंत्र अविभाजित राष्ट्र की भूमि पर ही हो सकता है। जो प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता लेकर आगे बढ़ता है, वह राष्ट्रीयता का द्रोही है, उससे एक राष्ट्रप्रेमी समझौता कैसे कर सकता है ? इस उग्र राष्ट्रीयता की भावना में राजनीतिज्ञ हिन्दी-साहित्य से शिक्षा ले सकते हैं। हमारे साहित्य का उद्‌भव ही एक विदेशी साम्राज्यवाद के प्रतिविरोध से हुआ था और सदियों तक देश की भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिए हमारे साहित्यिकों ने इस विदेशी साम्राज्यवाद से मोर्चा लिया है। यह मोर्चा नये ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी जारी रहा है। इस दासता में भी हमने अँगरेजी को क्यों नहीं अपनाया ? इसलिए कि हमारी भाषा हमारी राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है। अरबी और फारसी

के विरुद्ध इसी तरह तुलसीदास और भूषण ने हिन्दी की पताका ऊँची रक्खी, इसलिए कि समाज के जीवित रहने का अर्थ हिन्दी का जीवित रहना भी था। यद्यपि हिन्दी का रूप बदलता रहा है, लेकिन उसकी एकता नष्ट नहीं हुई। गुलाम देशों की यह मनोवृत्ति रही है कि वे विदेशी संस्कृति और भाषा को जल्दी अपना लेते हैं क्योंकि उनका अपना सामाजिक जीवन नहीं के बराबर होता है। क्रान्ति के पूर्व के रूस में वहाँ के शिक्षित और धनी वर्गों में इसी प्रकार फ्रेंच भाषा का बोलबाला था। रूसी भाषा को लोग गँवारू और अर्थगांभीर्य से हीन समझते थे। यदि वहाँ के साहित्यिक इस कुत्सित मनोवृत्ति के सामने सिर झुका देते तो आज का रूसी साहित्य कहाँ होता? हमारे देश में भी अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग करके लोग अपनी शिक्षा का परिचय देना आवश्यक समझते हैं। जो बाबूवर्ग इंग्लिस्तानी में बातचीत करता है, वह इसलिए कि अपनी भाषा में विचार करने की उसमें अक्षमता है। उसकी भाषा तीन कौड़ी की होती है और भाव दो कौड़ी के। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कुछ लोगों ने अंगरेजी, अरबी, फारसी सभी से शब्द भर लेने की सलाह दी है। जहाँ नये-नये अर्थों के शब्द खोजने पड़ें, वहाँ संस्कृत से न लेकर उन्होंने अँगरेजी से लेने को कहा है। मानों अँगरेजी के पारिभाषिक शब्द ख़ुद उसके घर के हों, उसने उन्हें लैटिन और ग्रीक से उधार न लिया हो। ग्रीक और लैटिन के शब्द अँग्रेजी की चलनी में छनते हुए हिन्दी में आयें, उन्हें स्वीकार है; संस्कृत से हम शब्द लें, उन्हें स्वीकार नहीं।

जो भारत के जलवायु में पला है, उसे भारत की भाषा और संस्कृति अपनानी होगी, उसे भारत की ही महत्ता का स्वप्न देखना पड़ेगा। भारतीय भाषाओं को अभारतीय ढांचे में ढालने की चेष्टा पुरानी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का एक अवशिष्ट चिह्न है, हम उससे किसी प्रकार समझौता नहीं कर सकते। जिस तरह हम भारत की भूमि से अन्न-जल ग्रहण करते हैं, उसी तरह उसकी भाषा भी। जब हम देश से प्रेम करना सीखेंगे, तब उसकी भाषा से भी प्रेम करेंगे। न हम देश-प्रेम

में किसी से समझौता करना चाहते हैं, न भाषा-प्रेम में। देश-प्रेम और भाषा-प्रेम दो अलग वस्तुएँ नहीं, एक हैं।

१६३६

चलती कविता

हर एक युग में कुछ कविता ऐसी होती है जो उस युग के लिए बड़ी उपकारी होती है परन्तु वह साहित्य में बहुधा स्थान नहीं पाती। चलती कविता अनेक रसों की होती है परन्तु जिस कविता में व्यंग्य और हास्य होता है, वह चलती ही नहीं उड़ने लगती है। उच्च कोटि के साहित्य से दूर निर्धन जनता में ऐसी कविता का विशेष प्रचार होता है। बहुधा कवि भी ऐसी ही जनता से निकल आते हैं। ऐसा भी होता है कि अनेक महाकवि चलती कविता करते हैं परन्तु इतिहास लेखक और आलोचक उस चलती कविता को भूलकर उनकी बैठी कविता को आसमान पर चढ़ा देते हैं। इसमें दोष उतना कवियों का नहीं है जितना साहित्य का मूल्य आंकने वालों का। साहित्य की कसौटी पर सोने के गहनों की परख अच्छी होती है, तलवार-बल्लम को परखने के लिए बहुधा कसौटी ही नहीं होती। यदि कहें कि पुरुष के तलवार और बल्लम भी आभूषण हो सकते हैं तो गहनों के पारखी अपनी कसौटी उठा कर मारने को तैयार हो जायँगे। फिर भी तलवार-बल्लम की महत्ता इससे कम न होगी और जो समाज सोने के गहनों को ही परखता रहेगा, वह एक दिन उनसे भी हाथ धो बैठेगा।

हिन्दू मुसलमानों से एक बहुत सीधी बात पूछी गयी है :—

बाम्हन है तू बाम्हनि जाया।
और राह से क्यों नहीं आया॥
तुरुक है तू तुर्किनी जाया।
पेट में क्यों नहिं सुनति कराया॥

प्रश्न टेढ़ा है और शायद कुछ हृदयों में भाले की तरह ही लगे। कुछ लोग कहेंगे, क्या घासलेटी बात कही है। परन्तु बात चाहे घासलेटी ही

हो, है पते की। धर्म के साथ जो सीधा ईश्वर का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, हर एक धर्म वाले जो अपने मुँह ईश्वर के विशेष पुत्र बनते हैं, उस पर यह तीव्र आघात है। आप कह सकते हैं कि इसी बात को थोड़े और सभ्य ढंग से कहना चाहिए था परन्तु शठ बिना लठ के ठीक नहीं होता। जो इतना असभ्य है कि अपने आपको तो ईश्वर का सगा बेटा, और दूसरे को सौतेला भाई भी नहीं, समझता, वह सभ्य व्यवहार की क्यों आशा रखता है ? एक बात और है, ऊपर का प्रश्न पढ़े-लिखे नागरिकों से उतना नहीं है जितना अपढ़ अन्धविश्वासियों से, जो आपस में इससे अधिक अश्लील भाषा का प्रयोग करते हैं। वैसे तो एक लेख में ऐसे शब्दों का उल्लेख करना भी अपने ऊपर विपत्ति बुलाना है; परन्तु ये शब्द एक महाकवि के हैं जिन्हें 'हिन्दी नवरत्न' में स्थान मिला है। यदि श्रद्धेय मिश्र बन्धुओं की पुस्तक में ये शब्द छपे न देखे होते, तो उन्हें यहाँ लिखते हुए दो-चार बार आगा-पीछा जरूर सोचता।

हिन्दी साहित्य में कबीर का नाम एक रहस्यवादी के नाते है; धार्मिक कट्टरता पर उन्होंने जो प्रहार किये हैं, उन्हें हम भूल-सा जाते हैं। पिछले साहित्य से अपनी भावना के अनुसार हम सामग्री ग्रहण करते हैं। बहुत-सी बातें छोड़ जाते हैं, बहुत-सी नयी ढूँढ़ निकालते हैं। कुछ लोगों की भावना ऐसी होती है कि कविता में मायके और ससुराल की बातें पढ़ कर विशेष आनन्द आता है। अध्यात्मवाद की ऊँची-ऊँची बातें उन्हें इन छोटी-छोटी बातों में मिल जाती हैं। कबीर का मूल्य आंकते समय इन बातों को भुलाया नहीं जा सकता, न उन्हें भुलाया जाना चाहिए। फिर भी मनुष्य में अच्छाई-बुराई दोनों होती हैं; एक बात के कारण यदि हम किसी की बड़ाई करते हैं तो यह अर्थ नहीं कि हमें उसकी सभी बातें अच्छी लगती हैं। कबीर ने सबसे मार्के का काम यह किया कि अपनी कविता से लोगों को अन्धविश्वास से बहुत कुछ दूर ले गये। उनकी कविता में व्यंग्य और हास्य कूट-कूट कर भरा है और इस प्रकार की रचना के वे आचार्य-से हैं।

"कंकड़ पत्थर जोड़ कै मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय॥"

इसी तरह की उनकी न जाने कितनी मर्मबेधी उक्तियाँ हैं। हम अपने मर्म पर आघात नहीं होने देना चाहते, इसलिए कविता के इस रूप को शुद्ध साहित्य से दूर रखते हैं।

कवित्त-सवैया की परम्परा में हास्य रस की ऐसी रचनाएँ बहुत हुई हैं। यह अवश्य है कि जब कबीर की कोटि के कवि ऐसी कविता से दूर रहेंगे तो वह नीची कोटि की प्रतिभा के हाथों चली जायगी। इस परम्परा में नये अंग्रेजी पढ़े बाबू लोगों की ही खिल्ली विशेष उड़ाई गयी है। कवि-सम्मेलनों में इस प्रकार की रचना पढ़ने वाले दो-चार कवि अवश्य मिल जाते हैं। साधारण जनता से पूछा जाय या ताली बजाने और वाह-वाह से उनके मन की बात जानी जाय तो पता चलेगा कि हास्य की कविताओं से ही वह कवि सम्मेलन सफल हुआ। हास्य की कविता शेरों में भी होती है परन्तु कवित्त-सवैया में टिकाव ज्यादा होता है। विस्तार अधिक होने से सुनने वालों की उत्कंठा चौथी लाइन तक बढ़ती जाती है। स्वराज्य पार्टी पर एक उक्ति देखिए :—

"इनके जो विरुद्ध कहो कुछ भी,
बस दौड़ के भूँक के काटते हैं।
बनते न मिनिस्टर हैं तब भी,
भरता भरके घर पाटते हैं॥
यदि आज हैं तर्क तअल्लुक तो,
कल ही सहयोग निपाटते हैं।
सच पूछिये तो ये स्वराजी सभी,
कभी थूकते हैं, कभी चाटते हैं॥"

आप शायद फिर कहें—गंदी बात है। हम फिर उत्तर देंगे, बात पते की है। ऐसी कविता से जनता में जितना प्रचार होता है, उतना सौ व्याख्यानों से नहीं। यदि कविता को अलंकार शास्त्र से ही जाँचना है तो इसमें वे भरे हुए हैं। यदि कविता सुन्दर के साथ शिव भी है तो

इस रचना में शिव और सुन्दर दोनों गुण हैं। उपर्युक्त सवैया हितैषी जी का है परन्तु उनके रँगे-चुने जो दो कविता-संग्रह निकले हैं, उनमें यह नहीं मिलेगा। यह वही कसौटी पर गहने परखने वाली बात है। 'वेकाली' की पहली कविता देखिए—

"वैकाली !
वैकाली !
सृष्टि शरभ पर,
विस्तृत नभ पर
रवि निष्प्रभ पर
सब पर तुमने काली काली
चादर अपनी डाली
वैकाली !
वैकाली !"

सुनने वाला कहेगा—बस करो; इतने से ही समझ गये कैसी कविता है; उच्चकोटि की है, भाव अति सुन्दर, भाषा प्रांजल है। प्रशंसा करते हुए भी वास्तव में वह कविता आगे सुनना नहीं चाहता। परन्तु यदि गंदी चीजों से आप को विशेष प्रेम नहीं है तो नीचे की पंक्तियाँ पढ़ कर आप प्रशंसा भी करेंगे और आगे सुनना भी चाहेंगे। कानपुर के चुनाव में किसी सफेद दाढ़ी के प्रतिद्वन्द्वी पर यह गीत रचा गया था—

"हर एक बात में है कुछ अटकल छिपे हुए।
हर एक गाँठ में हैं बुरे बल छिपे हुए॥
निर्मल सफेदपोशी में हैं मल छिपे हुए।
दाढ़ी के बाल बाल में हैं छल छिपे हुए॥
इन्हें न बोट दीज्यो, अरे ओ मोरे भैया !"

किसी कारण पहले से ही न सुनने का निश्चय कर लिया हो तो दूसरी बात है नहीं तो आप आगे जरूर सुनना चाहेंगे। इस उद्धरण को हम भी और विस्तार से देना चाहते थे परन्तु क्या करें, आगे की पंक्तियां मिली ही नहीं।

हास्य में क्रोध और करुणा की भावना बहुधा मिली रहती है। भूषण की कविता में हास्य के साथ क्रोध भी रहता है, जैसे—'कढ़ि गई रैयत के उर की कसक सब मिटि गई ठसक तमाम तुरुकाने की।' कभी-कभी करुणा और हास्य ऐसे मिल जाते हैं जैसे बच्चों की एक आँख में आँसू और दूसरी में हँसी। भारतेन्दु बाबू ने अपने नाटकों में जो हास्य की कविताएं दी हैं, उनसे हँसी के साथ मन में और भाव भी जगते हैं। लोकगीतों के सहारे हास्य का पुट देकर बड़ी सुन्दर कविता की जा सकती है। भारतेन्दु के समय में ऐसी कविता बहुत हुई है। देश के लिए यह एक स्वास्थ्य का चिन्ह है कि भारतेन्दु जैसे कवि भी ऐसी चलती कविता करने में अपनी हेठी न समझते थे। अपने नाटकों में जो उन्होंने व्यंग्य के पद्य रचे हैं, साधारण जनता पर उनका प्रभाव अचूक है। गाँव की बोलियों में इस तरह की बहुत-सी कविता चला करती है जो किताब के पन्नों में नहीं छपती। श्री गौरीशंकर जी के "बुन्देलवैभव" संग्रह में ऐसी कुछ रचनाएँ मिलेंगी। गाँव के लोगों में अपनी परिस्थितियों पर हँसने की अद्भुत शक्ति होती है। ऐसी कविता खेत के नाज की तरह पुष्ट और स्वाभाविक होती है। सीतापुरी अवधी के कवि श्री बलभद्र दीक्षित "पढ़ीस" की कुछ रचनाएँ बहुत ही लोकप्रिय हुई हैं। उनका प्रचार गाँव में ही नहीं शहरों में भी है। उनकी सबसे अधिक लोकप्रिय कविताएँ वे हैं जिनमें व्यंग्य और हास्य है। नीचे की पंक्तियाँ देखिए। जैसे होमियोपैथी में ऊँची पोटेंसी की दवा देखने में साधारण परन्तु शक्ति में अद्भुत होती है, वैसे ही शब्द सरल हैं परन्तु व्यंग्य तीखा है। एक साधारण अँगरेजी शिक्षा में रँगे ग्रेजुएट का वर्णन है—

"अर्जी लिक्खिनि अँगरेजी मां,
घातयि पूँछयि चपरासिन ते।
धिरकालु पढ़ीस पढ़ीसी का,
लरिकउनू एम० ए० पास किहिनि॥"

यह बात ठीक है कि ऐसी कविताएँ एम० ए० में नही पढ़ाई जा सकतीं और कुछ लोग कविता करते समय इस बात का ध्यान रखते हैं

कि एम० ए० के विद्यार्थियों का भी हित हो। यह भी ठीक है कि दूसरे साहित्य की तुलना में आप अपने साहित्य से ऐसे उदाहरण देना पसंद न करेंगे। फिर भी ऐसी रचनाएँ जनता और साहित्य को पास रखती हैं, जनता का थोड़ा मनोरञ्जन हो जाता है और साहित्य भी जनता से जो पा सकता है पा जाता है। इसलिए ऐसी कविताओं का रचा जाना और उनका प्रचार होना बुरा नहीं है। 'कामायनी' और 'युगवाणी' अथवा 'ग्राम्या' का स्थान इन्हें देने की आवश्यकता नहीं। गाँव वालों पर दया करके उन्हें कुछ मनोरञ्जन के लिए देना ही चाहिए। 'ग्राम्या' से गाँव वालों का मनोरञ्जन हो तो और भी अच्छा—ऐसा मनोरञ्जन जो कवि को भी अभीष्ट हो—नहीं तो उन्हें कुछ ऐसी चीज देनी चाहिए जो गाँव के अधिक निकट हो।

१९४१

युग और साहित्य

श्रीशांतिप्रिय द्विवेदी छायावाद के प्रसिद्ध व्याख्याता रहे हैं। अब उन्होंने कुछ दिन से गान्धीवाद की व्याख्या भी आरम्भ की है। उनकी आलोचना का विकास बहुत कुछ पंतजी की कविता की तरह हुआ है परन्तु आलोचना पंतजी की कविता के साथ नहीं चल पाई। पुस्तक की भूमिका में द्विवेदीजी ने लिखा है कि वे अपने चारों ओर के वातावरण से लिखने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। वास्तव में वातावरण से प्रेरित होना बुरा नहीं है परन्तु द्विवेदीजी के लेखों से मालूम होता है कि वे प्रेरणा के साथ अपनी आलोचना की सामग्री भी वातावरण से ही पाते हैं। इसमें एक अच्छाई यह है कि द्विवेदीजी साधारण पाठकों की जानकारी को अपनी रचनाओं में अंकित करते हैं। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि साधारण पाठकों के विचार सदा सुलझे हुए नहीं होते, किवदन्तियों के समान प्रायः निराधार और परस्पर-विरोधी भी होते हैं। द्विवेदीजी ने साहित्यिकों में रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, प्रेमचन्द, प्रसाद, पंत, तथा महादेवी का लौटपौट कर नाम लिया है परन्तु बहुत-सा लिखने पर भी इनके बारे में द्विवेदीजी के मौलिक विचार क्या हैं, इसका पता नहीं चलता।

'साहित्य के विभिन्न युग' नामक लेख में इतिहास के अनुसार युग-विभाजन किया गया गया है, परन्तु दोनों का सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सका। ऐसा लगता है जैसे ऐतिहासिक कारण से परे भी साहित्य का निर्माण हो सकता हो। लिखा है: 'साहित्य में तो हम अपनी विगत संस्कृति का अनुभव करते हैं और इतिहास में जीवन की विकृति का।' यह भी एक विचित्र भावना है जो विकृति को संस्कृति समझती है।

द्विवेदीजी कुछ शब्दों का ऐसा मौलिक प्रयोग करते हैं कि पाठक भ्रम

में पड़ जाता है। जैसे 'जीवन क्लासिकल रहा, कला रोमेन्टिक होती गई।' कुछ वाक्य अर्थ में अटपटे से लगते हैं, जैसे 'द्विवेदी-युग का स्वास्थ्य मुख्यतः शारीरिक था। मध्य-युग में व्रज-भाषा के कवियों का स्वास्थ्य भी शारीरिक ही था, इसीलिए उनमें शारीरिक माधुर्य प्रकट हुआ।' इन शब्दों से द्विवेदी-युग को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। पुस्तक की आलोचना-शैली सर्वत्र ऐसी है कि पाठक का मन शब्द-जाल में उलझता जाता है। इतिहास की पृष्ठ-भूमि के साथ हम जो साहित्य समझना चाहते है, उससे वंचित रह जाते हैं।

समाजवाद पर भी विचार प्रकट किये गये हैं। इसे व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही लिया गया है। द्विवेदी जी को यह भी आशा है कि यह पार्थिव समष्टिवाद 'कलियुग का अतिक्रम कर' आध्यात्मिक समष्टिवाद में जा मिलेगा, और इतिहास पुराण में परिणत हो जायगा। द्विवेदीजी के दृष्टिकोण को ऐतिहासिक न कहकर पौराणिक कहा जाए तो ज्यादा अच्छा होगा। पुराणों में जैसे दैवी-चमत्कारों में विश्वास दिखाया जाता है, वैसे ही शान्तिप्रिय जी को गान्धीवाद के चमत्कारों में विश्वास है। पता नहीं यह कलियुग क्या है जिसका अतिक्रम करके आध्यात्मिक समष्टिवाद फिर आ जाएगा। अपने पौराणिक दृष्टिकोण से शायद आलोचक को आज का समाजवाद कलियुग की देन जान पड़ता है। कुछ दिनों में कल्कि अवतार इसका नाश कर देगा और तब सतयुग में गान्धीवाद की प्रतिष्ठा होगी। "युग और साहित्य" के लेखक में यह बात वैसी ही है जैसे कोई पच्छिम को चले और समझे कि पूरब को जा रहा है।

तुलनात्मक आलोचना की मिसाल : 'यदि प्रेमचन्द जीवित होते तो वे ही हमारे साहित्य के गोर्की भी हो जाते, जब कि वे टालस्टाय होकर चले गये।' शरत् में प्रेमचन्द, प्रेमचन्द में शरत्, टालस्टाय में रवीन्द्र-नाथ और रवीन्द्रनाथ में गांधी—सबमें श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, कुछ ऐसा ही उलझा-सा चित्र पाठक के मन में बनता है। 'प्रसाद जी मध्ययुग के राजसंस्करण थे तो प्रेमचन्द प्रजासंस्करण।' शान्तिप्रियजी कवि हैं;

उनकी कविता आलोचना को दबा लेती है। कह सकते हैं कि इस पुस्तक से न युग समझ में आता है, न साहित्य। यह अलबत्ता है कि साधारण लोगों की बुद्धि का पारा कितना ऊँचा है, यह पुस्तक के थर्मामीटर से जाना जा सकता है। इस प्रकार इस पुस्तक का एक ऐतिहासिक महत्व अवश्य है।

१९४१

भाषा और राष्ट्रीयता

इसी साल अभी अगस्त के महीने में श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ते में महाजाति भवन का शिलान्यास करते हुए बताया है कि बंगाल ने भारतवर्ष के नये अभ्युत्थान में किस प्रकार योग दिया है। बंगाली भाषा, साहित्य, कला और संगीत—सभी का उन्होंने उल्लेख किया। इसके साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अभिमान प्रकट किया कि विदेशी सभ्यता का स्वागत करने में बंगाल सर्वप्रथम था। अँगरेजी समाचार पत्रों में उनका वाक्य इस प्रकार छपा था—"Bengal led India in welcoming European culture to her heart." योरप की सभ्यता अपनाने में बंगाल भारत का अग्रणी था। विदेशी सभ्यता विदेशी शासन के ही साथ हमारे देश में आई है। स्वाभाविक था कि राष्ट्र-प्रेमी व्यक्तियों ने विदेशी शासन के समान उस सभ्यता से भी अपने आपको दूर रक्खा। परन्तु बंगाल में ऐसे ख्यातनामा व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने उत्थान के लिए अँगरेजी शिक्षा को आवश्यक समझा। उस शिक्षा के प्रसार के साथ बंगाल के नये साहित्य का भी उद्भव हुआ। इसलिए अनेक बंगाली अपने साहित्य पर गर्व करते हुए उस शिक्षा पर भी गर्व करते हैं। फिर भी गुलामी गुलामी है, उस पर अभिमान करना किसी को शोभा नहीं देता।

बंगाली विद्वानों के हृदय में विदेशी शिक्षा और सभ्यता के प्रति यह भावना कितनी दृढ़ता से घर कर गई है, इसका एक और प्रमाण देखिए। बंग-साहित्य-सम्मेलन के सभापति सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी ने इसी बात का उल्लेख कर कहा था—"ऊनविंश शतके इंग्रेजेर अनुगामी बंगाली इंग्रेजी शिक्षाय भारतेर गुरुस्थानीय छिल।" और यही नहीं कि केवल घटनाचक्र में पड़कर अँगरेज के अनुगामी बंगाली

को अँगरेजी-शिक्षा लेनी पड़ी हो, बंगाल के अन्यतम भाषातत्त्वविद् डा० चटर्जी ने उसी शिक्षा की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—"इंग्रेजी के बाद दिया अन्य कोन भाषा के ताहार स्थाने बसाइते गेले आमादेर मानसिक क्षति घटिबे।" इतना बढ़ा-चढ़ा अँगरेजी के प्रति इनका प्रेम है कि उसके स्थान पर अन्य किसी भाषा को रखने से मानसिक क्षति की संभावना है। ऐसे शब्द उसी व्यक्ति के मुँह से निकल सकते हैं जिसकी परमुखापेक्षिता चरम सीमा को पहुँच चुकी हो।

१६३६

छायावाद और रहस्यवाद

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय की इस पुस्तक के 'प्राक्कथन' में श्री नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने 'अक्लमन्दों को इशारा काफी' वाली नीति बर्ती है। उन्होंने लिखा है—'पांडेयजी की गणना ऐसे आलोचकों में की जायगी जिनमें विश्लेषण और व्याख्या की अपेक्षा अनुभूति और भावग्रहण की नैसर्गिक शक्ति हुआ करती है।' तर्क-पूर्ण व्याख्या की कमी के कारण आलोचना भावुकतापूर्ण अपने आप हो जाती है। पांडेयजी तर्क का सहारा न लेते हों, सो बात नहीं है; वह तर्क खूब करते हैं परन्तु अपनी भावुकता में खोये हुए से। आवेश के कारण उनके शब्द एक दूसरे से टकराने लगते हैं और आलोचक की बुद्धि सानुप्रास शब्द-सौन्दर्य में खो जाती है।

भाषा के कुछ उदाहरण देना उचित होगा।

'अनुभूति में प्राणी की प्राण स्थिति सजलता और प्रज्ञाप्रस्थिति कोमलता अनुप्राणित रहती है; वह मानव-जीवन के अमरत्व-प्रद क्षणिक क्षणों की सबसे सुन्दर एवं कमनीय तथा सात्विक वाणी है।' पृ० ६-७

'प्रेम की भावना अपने सूक्ष्म शरीर में आध्यात्मिकता की चूनरी पहिनकर अन्त में अपने चिर सुन्दर से प्रेम करने लगती है किन्तु यह रहस्यवाद का विषय है छायावाद का नहीं।' पृष्ठ ३९

'यों तो अनेक वादों का प्रचार तथा प्रसार आज अनधिकारी लोग अपनी पशु-प्रवृति की कलित क्रीड़ा के प्रदर्शन के लिए कर रहे हैं किन्तु हमें यहाँ पर नये मनगढ़ेवाद प्रगतिवाद पर विचार करना है।' पृ० १०८।

यह पशु प्रवृति की कलित-क्रीड़ावाली आलोचना पांडेयजी की अपनी नहीं है; इसमें प्रथम सिद्धि प्राप्त करने वाले श्री इलाचन्द्र जोशी हैं।

अपने पहले निबन्ध 'साहित्य की सार्थकता' में पांडेयजी कला का उद्‌गम मनुष्य के भीतर छिपे, और अभिव्यक्ति के लिये व्याकुल, सत्य के एक रहस्यमय अंश को बताते हैं। अनुभूति से मनुष्य कलाकार बनता है। अनुभूति और कल्पना को पांडेयजी पर्यायवाची शब्द मान लेते हैं। सत्य और कल्पना में वह प्रायः विभेद नहीं करते। यदि हम कहें कि पांडेयजी काल्पनिक सत्य को ही वास्तविक सत्य मानते हैं, तो उनके साथ अन्याय न होगा। अपने 'सिंहावलोकन' में वह कहते हैं—'जिस वस्तु का अस्तित्व होता है उसी की कल्पना भी हो सकती है अन्यथा नहीं। कल्पना में केवल सत्य ही नहीं वरन् वह भी आ जाता है जो सत्य हो सकता है।' इन दोनों वाक्यों में थोड़ा-सा विरोध है। पहले से मालूम होता है कि हम उसी वस्तु की कल्पना कर सकते हैं जो 'है'; दूसरे से कल्पना में वे बातें भी आती हैं जो 'हो सकती हैं'। इस कल्पना को ही पांडेयजी काव्य का आधार मानते हैं; उसे ही वह सत्य समझते हैं। पांडेयजी के अनुसार आकाश की ओर ताकना सच्चे कवि का काम है; 'पृथ्वी पर चींटी, मटा, पशु सभी रहते तथा चलते हैं किन्तु अनन्त आकाश की ओर दृष्टिपात करना ही मानव की महानता है।' महानता के साथ गढ़े में गिरने की भी संभावना है, जैसे आकाश के नखत देखता ज्योतिषी दूसरों का भाग्य पढ़ते समय अपना भूल गया और कुएँ में गिर पड़ा।

पांडेयजी के अनुसार सृष्टि रचना में कोई प्रयोजन नहीं है; सृष्टि में भी तर्क का अभाव है। 'तर्क तो सामंजस्य से दूर विशृङ्खलता का ही पोषक है।' यह एक विचित्र तर्क है, शायद स्वयं भी विशृङ्खलता का पोषक। जहाँ तर्क के परे बातचीत होती है, वहाँ आलोचक और पाठक दोनों के लिये कठिनाई होती है।

पांडेयजी ने जीवन के आत्मिक तथा सात्विक तत्वों पर बहुत कुछ कहा है; इन सब तत्वों की परिणति 'कल्पना' में होती है। पांडेयजी दिखाना चाहते हैं कि छायावाद और छायावाद ही में जीवन के वास्तविक सत्य का दर्शन कराता है परंतु उनका ध्यान वास्तव में एक काल्पनिक सत्य की ओर ही रहता है। वह अपने पहले लेख में कहते हैं,'मनुष्य पार्थिव आवश्य-

कताओं की पूर्ति तथा सुख के साधनों के होते हुए भी जीवन से ऊब जाता है।" इसे आत्मिक असंतुष्टि कहते हैं और उसका समाधान 'कलात्मक सृष्टि' में बताते हैं। इस प्रकार की आत्मिक असंतुष्टि बहुधा उन्हीं को होती हैं जिनको पार्थिव सुखों की कमी नहीं होती और जिन पर स्विनबर्न का वचन लागू होता है-"Satiety from pleasure leads to perversity." यह प्रसन्नता की बात है कि पांडेयजी छायावाद के अंतर्गत हिंदी का बहुत थोड़ा साहित्य ला सके हैं। पुराने कवियों में भी उन्हें स्त्री-भक्तों से अधिक संतोष मिला है। रहस्यवाद की माधुर्य-भावना स्त्रैण है। पांडेयजी कहते हैं-'माधुर्य भाव की जैसी व्यंजना प्राचीन काल से आज तक स्त्री-भक्तों द्वारा हुई है वैसी पुरुषों द्वारा नहीं। पुरुषों के मुँह से वह एक नाटक-प्रणाली मात्र है, प्रतीत होती है।' इस प्रकार पुरुष तो जन्म से ही रहस्यवादी होने के अयोग्य है; फिर भी जो हो जाते हैं, वे धन्य हैं। रहस्यवाद की मूल भावना आत्म-समर्पण है और वह नारी का गुण है;—'शायद पुरुषों में, वैसा स्वाभाविक भोलापन, वैसी सुकुमार कोमलता तथा प्रेम की वैसी मार्मिकता नहीं आ सकती क्योंकि समर्पण नारी ही की मूल प्रकृति है।' इस प्रकार नारी के समर्पण में जीवन के सात्विक, आत्मिक, काल्पनिक आदि आदि सत्यों का अन्त होता है। 'समर्पण आत्मोपलब्धि है।' इस नारी की मूल प्रकृति को चाहे जितने बड़े नामों से पुकारा जाय परन्तु वह जीवन का एकांत सत्य नहीं बन सकती; यदि कोई पुरुष यह घोषित करे कि पुरुषार्थ भी सत्य है तो उस पर क्रोध न करना चाहिए। पांडेयजी कहते हैं—'कुछ लोगों की बर्बरता तो इतनी बढ़ गई है कि वे काव्य के कोमल अङ्गों की निन्दा भी कर बैठते हैं।' अवश्य यह असभ्यता है; नारी के प्रति पुरुष की उदार भावना होनी चाहिए; परन्तु इस उदारता से लाभ उठाकर यदि नारीत्व-उपासक नारी को पुरुष का आदर्श बना दें, तो प्रतिक्रिया अवश्यंभावी है। इस प्रकार के आदेशों को बार-बार भारतीय कहना भारतीयता का अपमान करना हैं।

पांडेयजी पार्थिव और अपार्थिव का भेद दिखाते हुए अपार्थिव को एक

विशेष भावना में सीमित कर देते हैं। 'पार्थिव तथा शारीरिक आवेगों को लेकर संसार में कभी भी महान कार्य नहीं हुए।' समर्पण के माधुर्य भाव से कौनसे बड़े कार्य हुए हैं? पांडेयजी जिसे अपार्थिव और आत्मिक कहते हैं, उसके अन्तर्गत पुरुषत्व-प्रधान भावनाएँ क्यों नहीं आ सकतीं? कोमलता से ही इतना प्रेम क्यों? परुषता की निन्दा विकास का चिह्न है या ह्रास का? कला और व्यक्तिवाद पर पांडेयजी ने जो कुछ लिखा है, उससे उनकी विचार-धारा पर और भी प्रकाश पड़ता है। उन्होंने लिखा है—'हमारे यहां के महर्षियों ने कला को भी व्यक्तिवादी बताया है।' (पृ० १४)। और जब महर्षि कह गये हैं तब व्यक्तिवाद के आगे समाजवाद कैसे चल सकता है? परन्तु इसमें सन्देह है कि महर्षियों ने कला को व्यक्तिवादी बताया है। कला और व्यक्तिवाद का सम्बन्ध दिखाने से 'कला-कला के लिए' वाले सिद्धान्त का अपने आप प्रतिपादन हो जाता है। 'हमें साहित्य का उद्देश्य साहित्य में ही समझना चाहिये। उपयोगिता की सीमा-रेखा में नहीं।' उपयोगिता का विरोध, साहित्य की दुहाई, आध्यात्मिका का पोषण—इन सब का अन्त भाग्यवाद में होता है। अपने पहले निबन्ध के अन्त में पांडेयजी ने जिस गीत को अपनी स्वीकृति के साथ उद्धृत किया है, उसका अन्तिम बन्द है—

> "मानव भाग्य पटल पर अंकित,
> न्याय नियति का जो चिर निश्चित।
> धो पायेंगे उसे तनिक भी नेताओं के आँसू के कण?"

आँसुओं से कुछ न होगा, चाहे वे नेताओं के हों, चाहे कवियों के; नेताओं और कवियों दोनों में ही कर्मण्यता चाहिये, वे अपना भाग्य आप बना सकें। छायावाद की वेदना का सम्बन्ध इसी भाग्यवाद और उसके पीछे छिपे हुए व्यक्तिवाद से है; इस वेदना में विश्व-मैत्री ढूँढ़ना भ्रम है। पांडेयजी ने ठीक लिखा है—'हमारा वर्तमान युग भी पराजित, पराधीन और निराश है, अस्तु इसकी काव्य-कला मी अपनी युग-भावना के अनुकूल अपनी विशेषताओं में सप्राण है।' यदि सप्राण की जगह निष्प्राण कर दिया जाता तो यह उक्ति छायावाद पर आंशिक रूप से लागू होती।

पांडेयजी देश की निर्धनता का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं,'हमारी अबला मातृ-शक्ति नित्य ही अपमानित हो रही हो,..... वहाँ के कवियों को रोने के सिवा और क्या सूझ सकता है ?' हमारी आध्यात्मिकता का यही रहस्य है।

१९४१

स्वदेशी भाषा और अहिंसावादी साहित्य

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अनेक पदाधिकारी इस बार अपनी असाहित्यिकता के कारण एक विशेषता लिये हैं। साहित्य में जितने भी जन अधिक संख्या में दिलचस्पी लें, हमें उससे प्रसन्न होना चाहिए। परन्तु ये मेधावी हिंदी-साहित्य के पास विद्यार्थी के रूप में नहीं आये। उसे जानने-पहचानने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने वाली अपनी प्रकृति के अनुसार उन्होंने हिंदी-साहित्यिकों को तरह-तरह के उपदेश दिये हैं। यदि वे हमारे साहित्य का सहृदयतापूर्वक अनुशीलन कर उसकी त्रुटियाँ साहित्यिकों को बताते तो उनके कार्य पर सबको हर्ष होता। पर उनकी असाहित्यिकता और साहित्य के अज्ञान का घोष उनके उपदेश की मधुर वाणी से मेल नहीं खाता।

सम्मेलन के सभापति ने, शायद अपने पूर्व राष्ट्रपति होने का स्मरण कर, कहा है—"सुविधा के विचार से हिन्दी को राष्ट्रभाषा हमने माना है।" फिर इस सुविधा के मार्ग में जो अड़चनें आयें, उन्हें क्यों न हटाया जाय ? आप कहते हैं—'हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख बसते हैं और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे और तो भी वह हिंदी ही रहेगी।' जैसे कांग्रेस, राष्ट्र की एकता का प्रतीक, अपने भीतर सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि रखती है, वैसे हिन्दी तब तक राष्ट्र-भाषा न होगी, जब तक उसमें सभी भाषाओं के प्रतिनिधि शब्द न होंगे। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्रीव्रजलाल वियाणी ने इस बात को भली-भाँति समझा है और उसे सबसे अधिक स्पष्ट रूप में कहा है—'हिंदी-भाषा के प्रचार तथा सर्वप्रियता के लिए आवश्यक है कि उसका शब्द-भांडार सब भाषाओं से लिये हुए शब्दों से भरा हो। हरएक प्रान्तवासी में हिन्दी के लिए ममत्व

पैदा होने के लिए हिन्दी के शब्द-कोश में उसका भी हिस्सा होना आवश्यक है।' जब तक यह शब्दकोश न बने, तब तक इस भाषा की कल्पना करना कठिन है। अभी अन्य प्रान्तों के भिन्न भाषा-भाषी हिंदी ही सीखते थे, अब वे उसके साथ थोड़ी-थोड़ी सभी प्रान्तीय भाषाएँ सीखेंगे। हिंदी बोलनेवाले, जिन्हें तमिल, कन्नड़, बँगला, मराठी, गुजराती आदि का ज्ञान नहीं—कोश देखकर शुद्ध हिन्दी बोलेंगे। यह भाषा हिंदी होगी या और कुछ, इसे काकासाहेब श्रीकालेलकर ने अच्छी तरह समझा है। इस भाषा का अपना नामकरण करते हुए उन्होंने कहा है—'स्वदेशी भाषा में हम बोलेंगे।'

भाषा-संस्कार के साथ इन हिंदी के शुभेच्छुकों को हमारे साहित्य की उन्नति का भी ध्यान है। राजनीतिक सुविधाओं के लिए हिन्दी की आवश्यकता नहीं। बाबू राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार 'राष्ट्र का प्राण साहित्य होता है और उस साहित्य का निर्माणकर्ता समाज का बहुत बड़ा सेवक होता है।' तब हिंदी-साहित्य की त्रुटियाँ दूर होनी ही चाहिए। काका कालेलकर के अनुसार आधुनिक साहित्य का पूर्व भाग दूसरों की नकल का फल है। "इस जमाने का हमारा प्रारंभिक साहित्य अनुकरण रूप ही था और अनुकरण तो निष्प्राण ही हो सकता है।" 'हमारे साहित्य' में किन किन साहित्यों की गणना है, नहीं मालूम; यदि हिन्दी की है तो उसके साथ अन्याय है। 'इस जमाने का हमारा प्रारंभिक साहित्य' एक ऐसा गोल वाक्य है कि समय ठीक से निर्धारित नहीं हो सकता। फिर भी भारतेन्दु से लेकर आज तक जो नये युग का जीवन है, उसमें उत्पन्न किसी भाग के साहित्य पर ऊपर का आक्षेप लागू नहीं होता। अन्य साहित्यिक जागृतियों की भाँति हमारे यहाँ बाहरी साहित्यों के संपर्क से विचारों में नवीनता आई है, पुरानी रूढ़ियों का ध्वंस और नई धाराओं का निर्माण हुआ है। यदि यह अनुकरण है तो कोई भी जीवित साहित्य उससे नहीं बचा।

'पिछले थोड़े वर्षों में हिन्दी ने बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय साहित्यों से अपना साहित्य कम समृद्ध नहीं किया है। आदान-

प्रदान में हिंदी सिद्ध हो चुकी है। हम हिंदी को जो कुछ देते हैं, वह उसे संशोधित कर देश के कोने-कोने में पहुँचा देती है।' किसी नवजाग्रत भाषा के साहित्य की ऊँचाई जल्दी आँकना आसान नहीं। जो कृतियाँ शीघ्र प्रसिद्धि पाती हैं, वे बहुधा पाठकों की पूर्व निश्चित धारणाओं के बहुत कुछ अनुकूल तथा कुछ-कुछ पुरानी रूढ़ियों का अवलंब लिये होती हैं। हिन्दी में अब भी इतने रूढ़िवादी हैं कि पक्के क्रांतिकारियों को उचित श्रेय या विज्ञापन नहीं मिला। जो हमारे यहाँ का वास्तविक मौलिक साहित्य है, उसकी समुचित छानबीन धीरे-धीरे ही संभव है। परन्तु वैसा करना उसकी ओर से आँख मूँद कर राय देने से संभव नहीं, उसके लिए अध्ययन करना पड़ेगा।

हिन्दी-भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों के वहिष्कार के समान हमारे नेताओं ने हिन्दी-साहित्य में अश्लीलता का दुःस्वप्न भी देखा है। गांधीजी का वश चले तो वह साहित्य-सम्मेलन से उस रस को त्याज्य ही मनवा दें। वश चले तो गांधीजी ब्रह्मचर्य द्वारा सबसे संतति-निग्रह करवा दें। परन्तु वश चले तो भी यह हानिकर होगा। समयानुकूल प्रकृति की पुकारों को न मानने से बुरा फल मिलता है। असाधारणों का नियम सब पर लागू नहीं हो सकता। यदि साहित्य का संपर्क जीवन से रहेगा तो उसमें शृंगारी वर्णन अवश्य आयेंगे। क्या हिन्दी, क्या संस्कृत, बड़े-बड़े सन्तों ने अपने साहित्य में जीवन का पूर्ण चित्र उतारने के लिए शृंगार का वहिष्कार नहीं किया। देखना केवल यह होता है कि यह शृंगार पतित मनोभावों का परिचायक तो नहीं है। हिन्दी के गुज़रे साहित्य के लिए यह आक्षेप सही हो सकता है। तब कवि जिस रस का वर्णन करता था, चाहता था कि उसी के अनुकूल आचरण करने के भाव पाठक या श्रोता के मन में उत्पन्न हों। आधुनिक साहित्य में कलात्मक आनन्द की ओर अधिक ध्यान है। किसी खूनी का चित्रण कर कवि हमें खूनी बनने के लिए नहीं कहता। संसार के बड़े से बड़े साहित्यिकों ने पाप को अपना विषय बनाकर अद्भुत कृतियों को जन्म दिया है। अस्तु, यदि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक मनोभावों और आकर्षण-

प्रत्याकर्षण का स्वस्थ वर्णन हो तो वह साहित्य भी समाज को उठाने वाला होगा।

काका कालेलकर जी को साहित्य-नियंत्रण के सम्बन्ध में और किसी से कम चिन्ता नहीं। आज साहित्य पर न राजसत्ता का नियंत्रण है न धर्माचार्यों का। "जो लोग साहित्य का रस जानते हैं और समाज का हित चाहते हैं, इतिहास और आदर्श, दोनों की दृष्टि रखकर जो लोग समाज की प्रगति में मदद कर सकते हैं, ऐसे पुरुषों का ही नियंत्रण साहित्य पर रहना चाहिए। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे साहित्याचार्यों ने अपना यह कर्तव्य छोड़-सा दिया है और साहित्य-जगत् में मनमानी मचाने की ठान ली है।" हमें काका साहेब से सहानुभूति प्रकट करने की आवश्यकता नहीं, हमारे यहाँ आचार्य लोग अब भी अधिकांश प्यूरिटन प्रवृत्ति के हैं। यह सभी जानते हैं कि अश्लीलता का कहीं आभास पाते ही वे धरती सिर पर उठा लेते हैं। परन्तु काका साहब को इन पर विश्वास नहीं। उन्हें आशा है, एक दिन साहित्यिक शासन की बागडोर उनके हाथों में आयेगी; तब वह इन उच्छृङ्खल व्यक्तियों को गिन-गिनकर फाँसी पर लटकायेंगे।—"भारतीय साहित्य-परिषद् जब पूर्ण रूप से विकसित होगी, तब साहित्य-शुद्धि सँभालने की ज़िम्मेवारी क़ानून के या धर्मतंत्र के हाथों में नहीं रहेगी, साहित्य ही अपने क्षेत्र को सँभाल लेगा।"

आदर्श साहित्य-निर्माण के लिए गाँधीजी, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, काका साहब आदि सभी ने उपदेश दिये हैं। इन्हें देखकर कोई अपरिचित यही समझेगा कि हिन्दी में एकदम पतित और समाज का अहित करने वाला साहित्य रचा जा रहा है। इसका उत्तर एक लेख में देना संभव नहीं। साहित्यिकों के नाम गिनाने की अपेक्षा उनकी कृतियों का सुचारु विवेचन अधिक श्रेयस्कर होगा। तब तक अपने नेताओं की शुभ कामनाओं के लिए अनुगृहीत होते हुए हम यही आशा करते हैं कि यदि उनका हमारे साहित्य से कुछ दिन और संपर्क रहा तो वे उसमें अपने अनेक सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत पायेंगे।

१६३६

दादा कामरेड

दादा कामरेड प्रधानतः हरीश और शैल की प्रेम कहानी है; शैल की प्रेम कहानियाँ अनेक हैं और हरीश की एक ही।

शैल की अपनी समस्याएँ अनेक हैं। बचपन से ही उसने प्रेमी हृदय पाया है और प्रेम को दबाना उसने नहीं सीखा। प्रेम को भावजगत् तक सीमित रखना भी उसे अच्छा नहीं लगता। पहले ही 'केस' में वह भयंकर बीमारी में मरते मरते बचती है। शैल अपनी समस्याओं के बारे में कहती है—"स्त्री की सबसे बड़ी मुसीबत तो यह है कि उसे सन्तान पैदा करनी है, इसीलिए पुरुष जमीन के टुकड़े की तरह उस पर मिल्कियत जमाने के लिए व्याकुल रहता है।" हरीश ने उत्तर दिया कि उसे वंश की रक्षा आदि के झगड़ों से छुट्टी है। शैल ने कहा कि जीवन में संतान और वंश-रक्षा के अतिरिक्त भी और बहुत कुछ है। हरीश ने कहा, और जो कुछ है, वह स्त्री पुरुष दोनों के लिए समान है। शैल ने कहा, "है तो, परन्तु स्त्री कमबख्त को तो तुरन्त सजा जो मिल जाती है।" इस सजा से बचने के लिए आगे बर्थकंट्रोल का कवच मिल जाता है परन्तु शैल को तो सजा मिल ही जाती है। महत्व की बात यह है कि शैल उसे सजा नहीं समझती। उसे तृप्ति मिलती है। सन्तान और वंशरक्षा के अतिरिक्त शैल को जीवन में क्या मिला, सो हम नहीं जानते परन्तु उपन्यास के अन्त में इन्हीं से उसकी साध पूरी होती है। तब नारी जीवन के स्वतन्त्र विकास में इस सन्तान और वंशरक्षा, जिससे शैल को इतनी तृप्ति मिलती है, का क्या स्थान है? लेखक ने इस बात को स्पष्ट नहीं किया।

न स्पष्ट करने का कारण समझ में आ सकता है। लेखक की सहानुभूति बहुत कुछ हरीश के साथ है। हरीश को तृप्ति होती है नारी को नंगे देखकर। वह जब सन्तानोत्पत्ति करता है अथवा ऐसा उत्पात करता

है जिसमें सन्तानोत्पत्ति का लक्ष्य रंच मात्र भी उसके सामने नहीं है तब वह अर्द्ध विक्षिप्त सा है। इस विक्षिप्त दशा में उत्पात करने के अनन्तर वह बेहोश सा होकर सो जाता है, परन्तु शैल को जो तृप्ति हुई है, उससे वह चुपचाप बैठ नहीं सकती। घर के सभी कामधन्धे करने में उसका मन लगता है। भूमिका में लेखक ने लिखा था कि सृजनवृत्ति भी एक मानवीय वृत्ति है। परन्तु इस वृत्ति का उपयोग करने के लिए हरीश को अर्द्ध विक्षिप्त जैसा क्यों दिखाया गया है ? जब वह अपने पूरे होश में है तब वह शैल को नंगा देखता है और उसे पूर्ण तृप्ति होती है। इस प्रकार नैतिक आचार की दृष्टि से भी हरीश का चरित्र विकृत मनोदशाओं का अधिक परिचय देता है, स्वस्थ 'सृजनवृत्ति' का कम।

शैल के नग्न सौंदर्य में हरीश को जो आकर्षण है, वह उस अवस्था का द्योतक है जिसे हम लड़कपन (adolescence) कहते हैं। नारी के प्रति एक विस्मय, एक जिज्ञासा का भाव ही उसमें प्रधान हैं, सृजनवृत्ति का नहीं। यह adolescence हरीश के राजनीतिक विचारों में भी है। पहले वह क्रान्तिकारी है, पीछे वह समाजवादी हो जाता है। अपना पहला मार्ग छोड़ने के लिए उसने अनेक तर्क दिये हैं। परन्तु इन सबका अन्त मन्सूरी में वहाँ होता है जव वह शैल का नग्न सौंदर्य देखता है। उसके विचार अपनी इच्छाओं को उचित सिद्ध करने के लिए काल्पनिक तर्क-मात्र जान पड़ते हैं। उपन्यास का सबसे कमजोर हिस्सा वही है जिसका सम्बन्ध मजदूरों की हड़ताल से है। शैल की प्रेम-कहानी में आत्मचरित जैसी जो सजीवता मिलती है, उसका यहाँ अभाव हैं। समाजवादी आदर्श की पूर्ति के लिए शेष कहानी कल्पना से गढ़ी हुई जान पड़ती है।

दादा कामरेड जो क्रान्तिकारी हैं, जहाँ तहाँ ही उपन्यास में दर्शन देते हैं। उनका सबसे अच्छा उपयोग यह है कि हरीश के सज़ा पाने पर वह गर्भवती शैल को उसके पिता के यहाँ से मुक्ति देकर अपने साथ ले चलते हैं।

शैल के प्रति शायद ही किसी को घृणा हो। अधिकांश पाठकों का रुख वही होगा जो दादा का है। परन्तु हरीश के प्रति शायद वे इतने

उदार न होंगे। कथा से स्पष्ट है कि शैल तृप्ति चाहती है; सोफे पर साथ बैठ कर, गोदी में लुढ़क कर, छाती पर सिर रखकर आदि-आदि तरीकों से वह बिना जाने अपने प्रिय में उस वृत्ति को जगाना चाहती है। इस कार्य में यथेष्ट विलम्ब होता है और हरीश का नैतिक आचार पतित, विकृत और अस्वस्थ सा लगता है।

लेखक ने तुर्गनेव के पिता-पुत्र के बारे में भूमिका में लिखा था कि यद्यपि उस पुस्तक को क्रान्तिकारियों से गालियाँ मिलीं, परन्तु "दस वर्ष बाद यही पुस्तक क्रान्तिकारी भावना की प्रतिनिधि समझी जाने लगी।"

क्रान्तिकारियों में जिनका जीवन हरीश की भाँति एक बन्द पात्र के समान है, उन्हें उससे सहानुभूति होगी। परन्तु जो जीवन के संघर्ष का चित्र देखना चाहेंगे, उन्हें निराश ही होना पड़ेगा। उन्हें ऐसा लगेगा कि बढ़े हुए युवक को अब भी अपने झँगूले से बहुत प्रेम है।

१९४०

एक प्रश्न

"शम्पा" में कवि नये विचार और उन नये विचारों के लिए नई भाषा ढूँढ़ता हुआ दिखाई देता है। एक ओर पुराने हिन्दू-वैभव की याद है तो दूसरी ओर कांग्रेस के जयगीत हैं; और एक कविता 'अमीनाबाद' के ठाट-बाट और वहाँ के भिखमङ्गों पर भी है। कुछ कविताओं का सम्बन्ध क्षत्रियमहासभा से है। कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह को यह स्पष्ट समझना होगा कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए, यानी यहाँ के ग़रीब किसान और मज़दूरों की आज़ादी के लिए कौन-सी शक्ति का सहारा उचित होगा। मेरी समझ में यह शक्ति क्षत्रियमहासभा के पास नहीं है, यह शक्ति किसान-मज़दूरों में ही मिलेगी, जिनके लिए हिन्दुस्तान हिन्दुओं का देश है या मुसलमानों का,—ऐसे प्रश्न कोई महत्व नहीं रखते। महत्त्व का प्रश्न यह है, हिन्दुस्तान किसान-मज़दूरों का देश है या राजाओं और ताल्लुक़दारों का? देश को सुखी बनाने का मतलब है, राजाओं का वैभव बढ़े या किसान-मज़दूर सुखी हों? किसान-मज़दूरों की मेहनत पर वैभव का जो महल बनता है, उसका रहस्य क्या कवि से छिपा है?

और भी प्रश्न है—

'दीन का यह छीनता है अन्न कौन?'

आँख वाले के लिए अन्न छीनने वाला कल्पना-लोक का निवासी नहीं है जो पहचाना न जा सके। अगर हिन्दुस्तान को स्वाधीन करना है, उसके गौरव और वैभव पर अभिमान करना है तो यह अन्न का छीनना बन्द करना होगा। हम यह कहकर चुप नहीं बैठ सकते कि 'नियति के पैरों तले यह माथ है', इसलिए नियति को माथे पर ठोकर लगाने का अधिकार है। हमारी अशिक्षा, निर्धनता, परवशता, पस्ती

ग्रौर बेबसी का नाम ही नियति है। वह बदली जा सकती है ग्रौर उसे हम बदलकर ही रहेंगे। जिसके हृदय को मनुष्यता छू भी गई हो, वह नियति के नाम को रोकर चुप नहीं बैठ सकता। कुँग्रर चन्द्रप्रकाशसिंह ने ग्रपने ग्रापको चुनौती दी है। 'देश को ग्राशा, न ग्रब ग्रवलम्ब रोष'—यह तो कायरों की उक्ति है। 'जगे करोड़-करोड़ दिलों में ग्राज़ादी की ग्राग'—इस ग्रावाज़ को ग्रौर बुलन्द करना होगा। कवि-जीवन की सफलता तभी है जब करोड़-करोड़ दिलों में ग्राज़ादी की ग्राग जल उठे, वह ग्राज़ादी जो हिन्दू या मुसलमान ताल्लुकदारों ग्रौर राजाग्रों की नहीं, हिन्दुस्तान के करोड़ों हिन्दू-मुसलमान मज़दूर-किसानों की है, जिनका एक ईमान हैं ग़रीबी ग्रौर जिनकी ग्राज़ादी का एक ही मतलब है, उनकी रोटी का छीनना बन्द हो।

१९४३

जीवन के गान

एक नरमुण्ड फोड़कर निकली कुछ टहनियाँ, कुछ पत्तियाँ और एक बड़ा-सा गुलाब जैसा फूल। नरमुण्ड के नीचे लिखा है 'सुमन' और उसके ऊपर 'जीवन के गान'। जैसे सुमन का महत्व चित्र में है, वैसे ही गीतों में।

गीतों की सूची के पहले एक छोटा-सा नोट है जिसमें बताया गया है कि पुस्तक की भूमिका नवीनजी लिखने वाले थे, परन्तु वे जेल चले गये, इसलिये वह न लिखी जा सकी। नोट में लिखा है, 'जीवन के गान बिना सुहाग के रह गई।' फिर पाठक से प्रश्न है: 'इस सिन्दूर-हीन सधवा का मान रखेंगे ?' नारी का मान रखना ही होता है, सधवा हो चाहे विधवा, सिन्दूरहीन हो चाहे सिन्दूरसहित। 'सुमन' जी अपनी पुस्तक से पाठक का इस प्रकार परिचय करायें, यह उन्हीं के योग्य है।

पुस्तक के आरम्भ में एक लम्बी भूमिका है, जिसका शीर्षक है, 'कुछ कहना आवश्यक है इसलिए'। यदि सचमुच कुछ कहना आवश्यक था–पाठक और कवि के लिए विचारों के महत्त्व के कारण—तो दूसरी बात है; यदि केवल रस्म पूरी करने को भूमिका लिखी गई तो बेकार है। आजकल अधिकतर भूमिकाएँ इस तरह शुरू होती है—मैं अपने बारे में क्या कहूँ, फिर भी कुछ कहना चाहिये, इसलिए पाठक को कृतार्थ करता हूँ—इत्यादि। 'सुमन' जी की भूमिका इस प्रकार की नहीं है, शीर्षक से चाहे जो ध्वनि निकलती हो। उसमें आधुनिक साहित्य पर कुछ विचार हैं और साहित्य-सिद्धान्तों पर भी बहुत कुछ कहा गया है। बहुत से प्रगतिशील कवियों को यहाँ अपना 'मैनिफेस्टो' मिल सकता है, जिसे वे अपनी भूमिकाओं में दे सकते हैं। भूमिका के पहले ही वाक्य में कवि ने आधुनिक साहित्य की तुलना दमा के मरीज़ के श्वास से की है जो

अनेक कारणों से अनुचित है। यह भूमिका खुद ही हाँफ-हाँफकर आगे बढ़ने का उदाहरण हो गई है। भूमिका में लिखी और बातों पर कुछ न कहकर मैं कवि के उस वाक्य को यहाँ देता हूँ जो उसने अपने बारे में लिखा है और जिससे मैं सहमत हूँ। 'अब तक तो यह एक गायक की स्वर-साधना मात्र थी, वास्तविक गायन की तो अब प्रतीक्षा करनी चाहिये।' इतना और कहना चाहता हूँ, कि प्रतीक्षा से निराश होने की संभावना बहुत कम है।

'जीवन के गान' में कवि ने अपने बारे में ही अधिक कहा है। गीतों में उसी के अन्तद्वंन्द का चित्र मिलता है; वे गीत उसकी हार-जीत और उसकी विजय कामना के गीत हैं। और कवियों की भाँति उनमें निराशा अथवा आत्मघात करके संसार से छुट्टी पाने की आशा नहीं है—यह प्रसन्नता की बात है। विजय की आशा और प्रगति की इच्छा में अभी अतिशयोक्ति है, जो धीरे-धीरे कम हो जायगी।

सुमनजी कवि-सम्मेलनों के एक सफल कवि हैं। यह सफलता पाना सहज नहीं। प्रेम और शृंगार की कविता गुनागुनाकर या मिनमिनाकर जनता को प्रभावित किया जा सकता है; जीवन के संघर्ष पर कविता पढ़कर लोगों को प्रभावित करना कठिन है। सुमनजी का काम भी कठिन है। वह बहुत कुछ अपना मार्ग अपने आप बना रहे हैं। वह जानते हैं कि सामाजिक संघर्ष से सम्बन्ध रखने वाली, सामाजिक जीवन को विकास की ओर ले जानेवाली कविता ही करनी चाहिये, इसलिये उन्हें कुछ समझाने की आवश्यकता नहीं है। कवि सम्मेलनों के संपर्क से वह कविता को प्रभावोत्पादक बनाना भी सीखेंगे।

'संघर्ष पथ पर जो मिले यह भी सही वह भी सही।'

यह एक स्वस्थ कवि की वाणी है; वह आगे बहुत कुछ कर सकता है। मध्यवर्ग के शिक्षित युवकों में जो द्वन्द्व मचा है, समाज के प्रति कर्तव्य और निजी स्वार्थ के बीच जो संघर्ष है, उसका चित्र 'जीवन के

गान' में मिलेगा। इस पुस्तक में अधिकांश नवयुवक अपनी ही बातें पायेंगे, इसलिए पुस्तक उन्हें प्रिय होनी चाहिये। 'सुमन' जी जीत की ओर हैं, हार की नहीं, इसलिए पुस्तक का प्रिय लगना बुरा भी नहीं है।

१९४१

सामयिकी

शान्तिप्रिय जी द्विवेदी की 'सामयिकी' में सामयिक समस्याओं पर चाहे वे राजनीति की हों, चाहे साहित्य की—प्रकाश ही नहीं डाला गया, उनका निदान भी प्रस्तुत किया गया है। इस युग की समस्याएँ कुछ तो सतह पर स्थूल दृष्टि से दिखने वाली हैं, कुछ पानी के भीतर हैं जो गहरी नजर डालने से ही पहचानी जा सकती हैं। वैसे ही इनके स्थूल और सूक्ष्म निदान भी हैं। परन्तु मूल समस्याएँ सूक्ष्म हैं और उनके निदान से ही स्थूल समस्याएँ भी सुलझाई जा सकती हैं। शान्तिप्रिय जी के अनुसार स्थूल समस्या "रूप और रुपये" की है जिसे समाजवाद सुलझाना चाहता है; सूक्ष्म और मूल समस्या अहंकार की है जिसे गांधीवाद ही सुलझा सकता है।

मूल समस्या इस प्रकार है, "आज सारी समस्याओं के मूल में स्त्री-पुरुष की समस्या ही प्रच्छन्न है। यह समस्या एक तरह से पशुता के विरुद्ध मानवता का संकेत है।" समाज में मानवता की प्रतिष्ठा तब होगी जब नारीत्व का सहज विकास होगा; नारी "अपना मौलिक विकास कर सकी तो पुनः उसी के द्वारा सच्चिदानन्द की शृङ्खला जुड़ेगी।" उस समय नारी "नर-निर्मित नरक को चेतना का स्वर्ग बनायेगी।"

अतः मूल समस्या यह सच्चिदानन्द की शृंखला जोड़ने की है। यह शृंखला कैसे जुड़ती है, इसका निदर्शन उन्होंने एक दूसरे लेख में श्री यशपाल के 'देशद्रोही' से कराया है। 'देशद्रोही' के नायक डाक्टर खन्ना में उपन्यास लेखक की प्रतिच्छवि देखते हुए शान्तिप्रिय जी कहते हैं—

"डाक्टर खन्ना के रूप में वे मानों स्वयं ही गृहिणी चन्दा की गोद में सिर रख कर नारी के उस समग्र रूप को सरल भाव से चाह सके हैं जिसे सम्बोधित कर कवि पन्त ने कहा है—'देवि, मा, सहचरि, प्राण'। इन समग्र रूपों में डाक्टर खन्ना का अथवा पुरुष का शिशुभाव ही प्रस्फुटित हो उठा है।"

अर्थात् डा० खन्ना में श्री यशपाल ही नहीं, समग्र पुरुष जाति की प्रतिच्छाया है। चन्दा की गोद में सिर रखकर सच्चिदानन्द की शृङ्खला यों जुड़ती है। शान्तिप्रिय जी ने आगाह भी कर दिया है—"ऐसे चरित्रों को हृदयंगम करने के लिये महत्तर मनोविज्ञान चाहिये।"

इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं अपने मनोविज्ञान पर जो प्रकाश डाला है, उससे "महत्तर मनोविज्ञान" को समझने में सहायता मिलेगी। कहते हैं—"मैं अभिशाप-पीड़ित युग का अतृप्त मानव हूँ। मृग जानता है मृगतृष्णा की माया को, फिर भी श्वासरुद्ध जीव की तरह जीवन्मृत हो जाने के बजाय वह जीवन का कुछ अभिनय कर लेता है—अपनी कलात्मक गतिभंगी के कारण। किन्तु मृगतृष्णा मेरा आपद्धर्म है, आन्तरिक धर्म नहीं। मेरे आन्तरिक धर्म के तीर्थ धाम हैं बदरीनाथ, मेरे आपद्धर्म की लीला-भूमि है मंसूरी। युग की भाषा में मेरा आन्तरिक धर्म है गांधीवाद, मेरा आपद्धर्म है सौन्दर्य-मण्डित ऐश्वर्यवाद; उसी का शोधित रूप है प्रगतिवाद।....... मैं अपने लक्ष्य के प्रति आत्मनिष्ठ हूँ। मृग हूँ, कनक-मृग नहीं।"

शान्तिप्रिय जी गांधीवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद, संस्कृति, विज्ञान आदि शब्दों को कौन सी व्यंजना प्रदान करते हैं, यह ऊपर के वाक्य पढ़े बिना हृदयंगम करना असंभव है। उन्होंने बड़ी ईमानदारी से अपने द्वन्द्व पर प्रकाश डाला है। "अतृप्ति" की पूर्ति के जितने साधन हैं, उन्हें वे समाजवाद, प्रगतिवाद, राजनीति, विज्ञान, पदार्थवाद आदि शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं। परन्तु "मैं अभिशाप पीड़ित युग का अतृप्त मानव हूँ", —इस वाक्य में अतृप्ति के प्रति एक क्षोभ और घृणा का भाव भी है, जिससे "अतृप्ति" एक अशुद्ध सी वस्तु बन जाती है। गांधीवाद, संस्कृति

आदि शब्द उसके अभाव के प्रतीक हैं। जब अतृप्ति और उसके अभाव में समझौता करके वह अपना मन समझाना चाहते हैं तो गांधीवाद, समाजवाद आदि में समझौता होता है। नहीं तो एक की अपेक्षा दूसरे को अशुद्ध कह कर वे उसकी निन्दा करते हैं।

इस 'महत्तर मनोविज्ञान' के घेरे के बाहर उनकी व्याख्याएँ अर्थ-शून्य हो जाती हैं। जड़-चेतन, राजनीति-संस्कृति आदि में वे जो तीव्र विरोध देखते हैं, वह निराधार ठहरता है। इस कल्पित विरोध के उदाहरण देखिये—

(१) "वस्तु विकार की ओर ले जाती है और चेतना संस्कार की ओर।"

(२) "मार्क्सवाद राजनीति का नव-निर्माण करता है; गाँधीवाद संस्कृति का।"

(३) "गान्धीवाद और समाजवाद में अन्तर संस्कृति और विज्ञान का है।" इत्यादि।

चन्दा की गोद में सिर रखकर जैसे खन्ना शिशु बन गया था, वैसे ही काल्पनिक तृप्ति की गोद में सिर रखे हुए शान्तिप्रिय जी राजनीति, विज्ञान, संस्कृति की शिशु-सुलभ व्याख्या कर रहे हैं। उपर्युक्त उद्धरणों में जिस विरोध की कल्पना की गई है; उसीके आधार पर वे साहित्यिकों और युगों को भी परख लेते हैं। उदाहरण—

(१) "भारतेन्दु से लेकर छायावाद तक का युग सांस्कृतिक है; प्रगतिशील युग राजनीतिक।"

(२) "वाल्मीकि के समय तक जीवन में लौकिकता आ गई थी, उस से पूर्व वेदों-उपनिषदों में जीवन-चिन्तन का एक विशेष सांस्कृतिक युग वृहत् पृष्ठभाग बन गया है।"

(३) "शुक्लजी का मनोविज्ञान पञ्चभूतात्मक है, अतएव उन्हें भाव-सत्य नहीं, वस्तु-सत्य अभिप्रेत है।" इत्यादि।

शुक्लजी ने 'काजर दे नहिं एरी सुहागिन आंगुरि तेरी कटैगी कटाछन।'—इस पंक्ति का मजाक बनाया था कि फल काटने के लिये उसके

कटाक्षों से काम लिया जा सकता है। शान्तिप्रियजी ने इस 'पञ्चभूतात्मक मनोविज्ञान' से असन्तुष्ट होकर अपने 'महत्तार मनोविज्ञान' का परिचय देते हुए लिखा है—"मधुर रति की ओर उनका झुकाव न होने के कारण इस परिहास में उनकी लाक्षणिकता चूक गई है।" यह प्रसन्नता की बात है कि शुक्लजी में जिस का अभाव रह गया था, शान्तिप्रियजी 'एक अतृप्त मानव' होते हुए भी उसकी पूर्ति कर रहे हैं।

उस अभाव की पूर्ति करते हुए शान्तिप्रियजी ने यत्र-तत्र जो अपनी शब्द रचना-शक्ति का परिचय दिया है, उसका वर्णन यहाँ नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये 'आइडिअलिस्टिक आलोचना' के लिये उन्होंने संक्षेप में 'आइडियल आलोचना' ही लिखा है। गद्य से एक सुन्दर शब्द 'गद्यिक' वनाया है और 'ऊर्मिल' तो हर जगह फेनिल हो रहा है।

उन्होंने जो मरीचिका के पीछे दौड़ने वाले मृग का वर्णन किया है कि श्वासरुद्ध जीव की तरह वह जीवन का कुछ अभिनय कर लेता है—अपनी कलात्मक गतिभंगी के कारण, वह उन पर पूरा लागू होता है।

मृग की कलात्मक गतिभंगी से दर्शक प्रसन्न हो सकते हैं परन्तु जिस मरीचिका के पीछे दौड़ कर वह इस मनोरञ्जक गतिभङ्गी का प्रदर्शन करता है, उससे न दर्शकों को कोई लाभ होता है, न स्वयं उसको। वैसे तो बहुत सा साहित्य मृगमरीचिका है।

१९४५

ब्राह्मण सावधान

सम्पूर्णानन्द जी ने बहुदेवोपासना का खण्डन किया है और उसकी जगह वैदिक देवों की पूजा और वैदिक धर्म के पालन का निर्देश किया है। 'पूर्वमाला' में इस सम्बन्ध के मूल लेख हैं; 'उत्तरमाला' में विरोधियों के तर्कों का उत्तर।

आरम्भ में उन्होंने बताया है कि विद्या को छिपा कर रखने की प्रवृत्ति से हमारी बहुत ज्यादा हानि हुई है। विद्या की रक्षा इस तरह की गई कि उसका लोप ही हो गया। वेदों का पठन-पाठन कम होता गया और उनकी जगह नए धर्म-ग्रन्थों की रचना होने लगी। गणेशजी के नाम पर वेद-मन्त्र पढ़े जाने लगे जिनका गणेशजी से कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दू घरों में सत्यनारायणजी की कथा होने लगी लेकिन किसी ने यह न देखा कि 'स्कन्द पुराणे' यह कथा है भी या नहीं। जनता के अन्धविश्वास से पुरोहित वर्ग ने खूब लाभ उठाया, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जनता की दशा दिन पर दिन खराब होती गई, इसका सारा दोष कलियुग पर मढ़ा गया। कलियुग को लेकर अपनी हीनता में एक दृढ़ विश्वास अभी तक जनता में फैला हुआ है। सम्पूर्णानन्दजी ने पूर्ण ओज के साथ लिखा है—"हम कलियुग में जन्म लेने वाले किसी भी अन्य युगवालों से किसी भी बात में कम नहीं है।" सम्भव है, सतयुग के भक्त इसे भी किसी कलयुगी नर की गर्वोक्ति ही समझें, फिर भी उन्हें संपूर्णानन्दजी के तर्कों का सामना करना चाहिए। अन्त में लेखक ने ब्राह्मणों से आर्य जाति का उद्धार करने की अपील की है और ऐसा न करने पर समाज का जो पतन होगा, उसकी चेतावनी भी दी है।

ब्राह्मणों में इस चेतावनी की जो प्रतिक्रिया हुई, उसकी झलक कुछ-कुछ 'उत्तरमाला' में मिलती है।

सम्पूर्णानन्दजी ने यह पुस्तिका ब्राह्मणों को लक्ष्य करके इसलिए लिखी है कि वह उन्हें समाज का जन्मसिद्ध नेता मानते हैं। वे कहते हैं—'आप इस समाज के जन्मना नेता हैं, इसका दिया खाते हैं, इसी के बनाए बड़े और पूज्य हैं। आपके कन्धों पर बहुत बड़ा दायित्व है। उसका बोझ आप दूसरों पर नहीं डाल सकते। आपके जागने से हिन्दू समाज का, भारतवर्ष का, समस्त विश्व का, कल्याण होगा।'

सवाल यह है कि किन ब्राह्मणों को सम्पूर्णानन्दजी जगा रहे हैं? पं० जवाहरलाल नेहरू, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, सर गिरजाशंकर वाजपेयी, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि सभी ब्राह्मण हैं। ये सब लोग अपने-अपने ढंग से समाज को जगाने में लगे हैं, क्या इनके वेद पढ़े बिना हिन्दू-समाज रसातल को चला जायगा? फिर जिस तरह समाज का दिया ये लोग खाते हैं, उस तरह और लोग सभी तो खाते हैं। इन्हीं के लिए यह विशेष रूप से क्यों कहा गया? अगर समाज का दिया खाने से मतलब मुफ्तखोरी से है, तो ब्राह्मणों में पुरोहितवर्ग की ओर ही लेखक का संकेत हो सकता है। किसी भी मुफ्तखोर वर्ग से यह आशा करना कि वह समाज का कल्याण करेगा, अपने आपको धोखा देना होगा।

फिर भी समाज में नए धर्म की स्थापना के लिये वे बार-बार ब्राह्मणों से क्यों अपील करते हैं? इसके दो कारण समझ में आते हैं। एक तो यह कि ब्राह्मणों को ही वह हिन्दू धर्म का स्रष्टा मानते हैं, इस लिये स्वभावतः पहले उन्हीं से अपील करते हैं। दूसरे ब्राह्मणों में उन्हें श्रद्धा है, वे वर्ण-व्यवस्था को आदर्श सामाजिक व्यवस्था मानते हैं इसलिये चाहते हैं, आज के गुमराह द्विजगण अपने पूर्व पुरुषों के गौरव का उद्धार करें। वास्तव में तीनों उच्च वर्ण मिलकर शूद्रों की कमाई खाते रहे हैं, पुरोहित वर्ग मिलो-भगत में शास्त्र-कर्ता भर था। क्षत्रिय अपनी तलवार से उसके धर्म का पालन कराने के लिए तैयार न रहते

तो उस शास्त्र को कोई सेंत में भी न पूछता। देश की परिस्थिति जिस तरह बदल रही है, उससे यह मिली-भगत टूटती जा रही है और अब चाहे जिसको जितना भी सावधान किया जाय, वह आदर्श वर्णव्यवस्था फिर नहीं लौट सकती।

एक बात समझ में नहीं आती कि हनूमान की जगह वरुण (वैदिक देवता) की उपासना होने लगी तो हिन्दुओं में नया जीवन कहाँ से आ जायगा? हम इस पर भले गर्व करलें कि प्राचीन आर्यों की तरह हम विशुद्ध देवताओं को ही पूजते हैं, लेकिन इससे जन-साधारण की दशा में क्या परिवर्तन होगा? जो परिवर्तन हो सकता था वह आर्यसमाज के प्रयत्नों से हो चुका। अब वैदिक और अवैदिक देवताओं में भेद करने का समय कहाँ रह गया है?

सम्पूर्णानन्दजी के लिए यह भेद महत्वपूर्ण है क्योंकि सच्चा धर्म और सच्चा ज्ञान तर्क से प्राप्त नहीं हो सकता; वह ईश्वरोक्त वेदों में ही है। उनका कहना है कि 'धर्म के स्वरूप को योगिजन ही ठीक-ठीक समझ सकते हैं'—और—'मैंने कभी नहीं कहा कि धर्म का पूर्ण ज्ञान या निर्णय तर्क से होता है।' इसीलिए वैदिक धर्म पर और वैदिक देवों की उपासना पर इतना जोर दिया गया है और वेदेतर देवों का त्याग करने का आग्रह किया गया है।

जहाँ तक पैसा कमाने का सम्बन्ध है, वह वैदिक और अवैदिक—दोनों ही तरह के देवताओं के नाम से कमाया जा सकता है। सम्पूर्णानन्दजी के तर्क की ध्वनि कुछ यह हो गई है कि पैसा कमाने के लिए अवैदिक देवताओं की सृष्टि की गई, मानों वैदिक देवताओं के नाम पर शुद्ध पुरोहित बिना पैसे के ही सब काम करा देते थे।

पौराणिक गाथाओं की चर्चा करते हुए सम्पूर्णानन्दजी भी इस सत्य को स्वकार करते हैं—'हमारी दुर्बलताओं और दुराकांक्षाओं को शक्तिमती बना कर देवलोक में बिठा दिया गया।'

यह सब कहने का यही मतलब है कि आज की समस्याएँ इतनी विषम हैं कि ब्राह्मणों को सावधान करने से या वैदिक धर्म के उद्धार

का प्रयत्न करने से वे नहीं सुलझ सकतीं।

उसके लिए समग्र मानव-समाज को चेताने की ज़रूरत है। इस पुस्तिका की चेतावनी आंशिक रूप में ही समाज को नई चेतना दे सकती है; उसे संगठित और सबल बनाने के लिये 'ब्राह्मण, सावधान' कहना काफ़ी नहीं है।

१९४५

अच्छी हिन्दी

दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक को तैयार करने में श्रीरामचन्द्र वर्मा ने अपनी सुदीर्घ साहित्य-सेवा और अनुभव से काम लिया है। हिन्दी के प्रयोगों पर यह अपने ढंग की पहली ठोस पुस्तक है। अशुद्ध हिन्दी के नमूने इकट्ठा करने में लेखक को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा और परिश्रम से अधिक कितने धीरज से उसने काम लिया होगा, यह पुस्तक पढ़कर ही जाना जा सकता है। हिन्दी-प्रयोगों के कोश की आवश्यकता होने पर अभी हमें इस 'अच्छी हिन्दी' से ही सन्तोष करना होगा। यह निर्विवाद है कि इस तरफ हिन्दी के आचार्यों और मार्गदर्शकों को जितना ध्यान देना चाहिये था, उतना उन्होंने नहीं दिया।

साहित्य-सम्मेलन के मंच से भू० पू० राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने हिन्दी शब्दों की हिज्जे का प्रश्न उठाया था। वर्माजी ने भी इस बात की चर्चा की है लेकिन हमारे सामने उसका कोई समाधान नहीं रक्खा। उन की पुस्तक में 'आवेगा', 'जावेगा', देखकर ऐसा लगता है कि 'खायेगा', 'पियेगा' के उदाहरण को वे प्रमाण नहीं मानते। ऐसी ही पच्चीसों बातें हैं जिनके बारे में अभी हिन्दीभाषी एकमत एक नहीं है। एकमत होने के लिये जरूरी है कि ऐसे विवादास्पद प्रयोग इकट्ठे किये जायँ, लेकिन अभी उस तरफ भी काम नहीं हुआ।

'भाषा की परिभाषा' और 'उत्तम रचना' के लक्षण बताने के बाद वर्माजी ने शब्द, अर्थ, वाक्य, क्रियाएँ, मुहावरे, लिंग, वचन, अन्य भाषाओं का प्रभाव—आदि-आदि कारणों से हिन्दी में जो विकृतियाँ पैदा हो गई हैं, उनकी मीमांसा की है। अन्त में 'हमारी आवश्यकताएँ' बताकर हिन्दी को और समृद्ध बनाने का आग्रह किया है।

यह स्वाभाविक है कि सभी पाठक वर्माजी के प्रयोग सम्बन्धी निर्णयों

से सहमत न होंगे। उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से कुछ तो अपवादस्वरूप हैं और हिन्दी लेखक साधारणतः उनका समर्थन न करेंगे। लेकिन कुछ ऐसे हैं जो अब हिन्दी के अपने हो गए हैं और जिन्हें निकालने का प्रयत्न करना पण्डिताऊ सनक से ज्यादा कुछ न होगा। 'प्रभावित', 'असफलता', 'बाढ़ पीड़ित', 'अछूतोद्धार', 'संगठित' आदि शब्दों का उद्धार हो चुका है। अब अछूत-अछूत की रट लगाने से कोई भी प्रभावित नहीं हो सकता। और बाबू गुलाबराय की असफलताएँ देखकर कोई भी विफलता अपनाने के लिए तैयार न होगा।

हिन्दी में क्या रहे, क्या न रहे, यह उसकी प्रकृति को पहचान कर ही बताया जा सकता है। और हिन्दी की प्रकृति क्या है, इस बारे में 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' छोड़कर दूसरी कसौटी नहीं है। वर्मा जी 'भूखहड़ताल' और 'पृष्ठभूमि' के बहिष्कार की सलाह देते हैं लेकिन scorched earth policy के लिए 'सर्वक्षार नीति' को 'बहुत सुन्दर' अनुवाद कहते हैं। हिन्दी पत्रों ने जितना 'घर फूँक नीति' को अपनाया, उतना इस विशुद्ध 'सर्वक्षार नीति' को नहीं।

इस तरह मुमकिन है कि अनेक पाठक और भाषा के विशेषज्ञ वर्माजी के सुझावों से सहमत न हों, फिर भी इस पुस्तक को केन्द्र बना कर उन्हें इस विषय की चर्चा करनी चाहिए। हिन्दी के विकास को देखते हुए यह काम अब से बीस साल पहले हो जाना चाहिए था। इस पुस्तक को आँख मूँद कर अपना लेने से या उससे उदासीन हो जाने से भी काम न चलेगा। इसे आधार बना कर हमें इस विषय की खोज पूरी करनीं चाहिये।

१९४५

कच्ची नींव

श्री शिवचन्द्र शर्मा ने ३०० पन्ने की अपनी लम्बी-चौड़ी पुस्तक 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' में जो उलझनें पैदा की हैं, वे संक्षेप में १० पन्नों में भी की जा सकती थीं। २०० पन्नों तक तो समाजवाद और साम्य-वाद की ही चर्चा चलती रही है। ५० पन्ने में प्रगतिवाद की रूपरेखा स्थिर की गई है और बाकी ५० पन्नों में हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। इस अंतिम खण्ड में दो लेख 'दिनकर' पर और एक-एक पंत, निराला, अंचल और भगवतीचरण वर्मा पर है।

समाजवाद और साम्यवाद का अंतर दिखाते हुए श्री शिवचन्द्रजी ने कई मनोरञ्जक बातें कही हैं। यह कहना कठिन है कि प्रगतिवाद को समझने में इनसे कहाँ तक सहायता मिलती है!

पुस्तक के अनेक स्थलों पर बुद्धिवाद और तर्क के खिलाफ आवाज उठाई गयी है, शायद इसलिये लेखक ने अपनी बातें बार बार दुहराने पर भी उन्हें सावित करने के लिये तर्क देना आवश्यक नहीं समझा।

"मार्क्स एक बौद्धिक व्यक्ति था, जिसके विचार जड़वादियों के लिए अनुकरणीय हो सकते हैं, चूँकि उनका जीवन से कम संबन्ध है।...... मार्क्स के विचारों से प्रगतिवाद प्रभावित है, अतः उसी के अनुरूप साहित्य का निर्माण चाहता है। उसी के दृष्टिकोण के आधार पर साहित्य को मापता है, उसका विश्लेषण करता है। फलतः साहित्य का भविष्य असुन्दर है।"

मार्क्स को एक तरफ बौद्धिक कहना और दूसरी तरफ उसे जड़वादी भी बताना यही साबित करता है कि लेखक की बुद्धि से ही दुश्मनी है। यदि बुद्धि और जड़ता—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं तो अवश्य मार्क्स के विचारों का जीवन से कम सम्बन्ध होगा। लेकिन जो आदमी अंग्रेजी

साम्राज्यवाद के खिलाफ हमारी असंख्य जनता के स्वाधीनता-संग्राम को साहित्य के दायरे से बाहर रखना चाहता है, उसके प्रभाव को अशुभ मानता है, वह पहले ही साबित कर देता है कि जीवन से खुद उसका कितना गहरा सम्बन्ध है। कमल के पत्ते पर जैसे पानी की बूँदे गिरकर ढुलक जाती हैं वैसे ही भारतीयता और जीवन की रट लगाने पर भी शिवचन्द्रजी की अध्यात्मवादी बुद्धि पर सामाजिक जीवन की बूदें ठहर नहीं पातीं।

प्रगतिवाद की तारीफ करते-करते आपने कुछ कहा भी तो यह कि उसका जीवन-साहित्य कला को प्रधानता नहीं देता ! इस दृष्टि से 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा' एक श्रेष्ठ 'प्रगतिशील' रचना अवश्य है ! ऐसे उलझे हुए वाक्य, भाषा के साथ ऐसा अत्याचार, तर्कहीन, असंयत विचार, स्याही-कागज और समय का ऐसा अपव्यय अन्यत्र दुर्लभ है। हिस्दुस्तानी मुहावरों का भारतीयकरण दर्शनीय है। 'आँखों की प्यास' के बदले 'चक्षु प्यास' कहना एक सिद्ध लेखक की ही सूझ हो सकती है। (नवयुवतियाँ खानों के सर्दार की चक्षु-प्यास तो बुझाती ही थीं।' पृष्ठ ४१) इसी तरह 'हृदय में विचारों का चहल कदमी लगना' भी खूब है। 'इस समय समक्ष उपस्थित व्यक्ति के हृदय में कौन-कौन विचार चहल कदमी लगा रहे हैं, इस सबको भाँपने की उनमें अपूर्व योग्यता है। माननीय अंतर्परिस्थितियों को वे अतिशीघ्र पकड़ लेते हैं।' (पृष्ठ ९०) अभी तक माननीय शब्द एम० एल० ए० कहलानेवालों के लिये सुरक्षित था। अब उसे अंतर्परिस्थितियों से जोड़कर लेखक ने 'माननीय' शब्द का ही मान-मर्दन कर दिया है।

शिवचन्द्र जी भावुक व्यक्ति हैं। भावुकता बुरी चीज नहीं, अगर एक दम तर्क का सहारा न छोड़ दे। उनमें दूसरों के निकट बैठ कर ज्ञान प्राप्त करने की निष्ठा भी है। परंतु यह निष्ठा अभी पूरी तरह उन्हें लक्ष्य तक नहीं पहुँचा पायी। उन्होंने अपने गुरु के बारे में उचित श्रद्धा के साथ लिखा है, 'बौद्धिक ज्ञानार्जन जो कुछ मैंने किया, उन्हीं के आश्रित होकर।' लेकिन इसके साथ एक दूसरा वाक्य भी वह लिख

गये हैं जिस पर पाठकों को शङ्का हो सकती है; 'भविष्य का समस्त बौद्धिक बल उन्हीं पर अवलम्बित है; विचारों की सुदृढ़ नींव उन्हीं की डाली हुई है।' (पृष्ठ-६१)। शिवचन्द्र जी अपनी कल्पना से रची हुई इस सुदृढ़ नींव पर जम कर बैठ गये हैं और अब टस से मस होने का नाम नहीं लेते। मेरा निवेदन है कि उन्हें इस नींव को फिर टटोलना चाहिये और देखना चाहिए कि वह उतनी ही सुदृढ़ है या नहीं जितनी कि वह उसे समझते हैं। मुझे भय है कि कच्ची मिट्टी की नींव उनके भार को वहन करने में असमर्थ होकर उन्हें लिये हुए नीचे न बैठ जाय। मैं उनसे एक दूसरी पुस्तक की आशा करता हूँ जिसमें उनके विचारों का 'रूप' और 'रेखा' दोनों ही स्पष्ट दिखायी दें। आशा है, उसमें वे राजनीति के प्रभाव को इतना अशुभ समझते हुए भी साहित्य-की पुस्तक में दो सौ पन्ने तक उसी की चर्चा न करते रहेंगे।

१६४७

चेतना और मन

पूर्वकाल के दर्शनकार और विचारक शब्दों की व्याख्या करके किसी निश्चित अर्थ में उनका प्रयोग करते थे। पंतजी भारतीय दर्शन की दुहाई देते नहीं थकते, लेकिन उनका जैसा शब्दों का प्रयोग भारतीय दर्शन में आज तक नहीं हुआ। भारतीय दर्शन से जिस चीज को वे सब से ज्यादा सीख सकते थे—यानी शब्दों के प्रयोग को, तर्कपद्धति को—उसी को उन्होंने सबसे ज्यादा दरकिनार किया है।

मन, अर्न्तमन, उपचेतन, अवचेतन, चेतना, मनश्चेतना, ज्योति, अंधकार, चिर, चिरंतन, विद्या, अविद्या, अंतर्जगत्, बहिर्जगत्, आत्मिक, आध्यात्मिक, द्वाभा, छायाभासविकल्प, निर्विकल्प, आत्मा, ईश्वर, प्राण, शक्ति, चिच्छक्ति, भाव और अभाव, नूतन और नवनूतन, अमर और चिर-अमर, कुंचित और ऋजुकुंचित, आदि आदि का ऐसा अनोखा प्रयोग किया है कि निःसन्देह उनकी कविता ऐसे उपचेतन से निकली जान पड़ती है जिसके अँधेरे में अभी तक चेतना कि किरणें प्रवेश ही नहीं कर पाईं !

यहाँ पाठक, केवल बानगी के तौर पर, 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' 'चेतना' और 'मन' के कुछ प्रयोग देखें—

(१) 'आज भाव की सृजन शक्तियाँ
उतर नहीं पाती हैं भू पर,
जो अन्तर्चेतना व्योम में
उमड़ रही देने जीवन वर !' (स्व० कि० पृ० २६)

(२) 'चेतना रुधिर लौ सी कंपित
जीवन जावक से पद रंजित' (उप० पृ० ३०)

(३) 'वह सौंदर्य चेतना का नीहार लोक चिर मोहन'
(उप० पृ० ३१)

(४) 'यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय
भू के चरणों पर बिखर-बिखर
शत स्नेहोच्छ्वसित तरंगों की
बाँहों में लेती भू को भर !' (उप० पृ० ४५)

(५) 'स्वर्ण रजत की धूलि से भरा निखिल दिगंतर,
मनश्चेतनाचूर्ण उड़ रहा हो ज्यों भास्वर !'
(उप० पृ० ५३)

(६) 'दुग्ध धार सी दिव्य चेतना बरसा झर झर
स्वप्नजड़ित करता वह भू को स्वर्जीवन भर!''
(उप० पृ० ६४)

(७) कविता का शीर्षक 'हरीतिमा'। नीचे
-ब्रैकेट में लिखा है 'प्राण'। टेक है--
'ओ हरित भरित घन अँधकार !'
(इसका एक काम यह भी है--)
'जड़ चेतन को करते विकसित
जग जग में भर नव शक्ति ज्वार!'
(उप० पृ० ७०)

(८) 'तन के मन में कहीं अंतरित
आत्मा का मन है चिर ज्योतित'।
(उप० पृ० ७३)

(९) 'ओ नीलधार अति दुर्निवार !
युग युग की विश्व चेतना तुम
उच्छ्वसित उरोजों का उभार !' (उप० पृ० ८५)

(१०) 'भर देगा भूखी धरती को अन्तर्जीवन प्लावन,
मनुष्यत्व को करो समर्पित खंडित मन, कवलित तन !'
(उप० पृ० १२४)

(११)'जड़ चेतन से परे अगोचर
जीवन के हैं मूल सनातन

× × ×

तर्क बुद्धि अनुभूति, चेतना-अमृत में द्रवित !

(उप० पृ० १३३)

(१२) 'खुला गगन में आज मुक्त मन,
नीलि योनि में अब वह सुन्दर,
आसन में केवल उसका तन,
अंतरतम में स्थित अब अंतर !

× × ×

अतल अकूल चेतना सागर,
क्षुब्ध मात्र भय सलिल आवरण !'

(उप० पृ० १३५)

(१३) 'आत्मा का संचरण करे मन को आलोकित !

× × ×

मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित।

× × ×

जन मन के अणु से होगी चिच्छक्ति प्रवाहित !'

(उप० पृ० १४३)

(१४) 'ज्यों-ज्यों हुई चेतना जागृत,
प्रभु भी जग में हुए अवतरित।
अन्तर्मन में परिणत होकर,
हुआ प्रतिष्ठित सत्य चिरंतन।'

(उप० पृ० १५४)

(१५) 'छू चेतन के छोर शक्ति मिस,
जड़ मन का हट गया आवरण !'

(उप० पृ० १६९)

(१६) 'सलज किसलयों का धर आनन पर अवगुंठन,
स्वर्ग चेतना बनी लाज मदिरा पी मोहन !'

(उप० पृ० ५३)

(१७) 'तुम जननि, प्रीति की स्रोतस्विनि,
तुम दिव्यचेतना, दिव्य मना ।
× × ×
मुख पर हिरण्यमय अवगुंठन,
प्राणों का अर्पित तुमको मन ।'

(स्व० धू० पृ० ८५)

अन्तर्चेतना के आकाश में सृजन शक्तियाँ उमड़ रही हैं, लेकिन वे पृथ्वी पर नहीं उतर पातीं। चेतना धरती पर उतर आती है, इसलिये उसके पद जीवन-जावक से रँगे हुए हैं। फिर यह चेतना धरती छोड़कर नीहार लोक में चली जाती है और अपना रुधिर-लौ वाला रूप भूल जाती है। फिर आकाश से उतर कर मनश्चेतना पृथ्वी को अपनी बाँहों में भर लेती है !

इसके बाद यही मनश्चेतना चूर्ण बनकर दिगंतर में उड़ने भी लगती है। तब वह दुग्ध-धार बनती है और स्वर्गीय जीवन भरकर पृथ्वी को स्वप्न-जड़ित कर देती है ! उसकी दिव्यता इसी में है कि वह स्वप्न-जड़ित करती है। प्राणों का 'अन्धकार' जड़ और चेतना दोनों को विकसित करता है।

यह नया अन्धकार-दर्शन है जो मनुष्य को 'हरित भरित घन अन्धकार' दिखाता है। यह दर्शन काफी पुराना है क्योंकि इसी के आधार पर सावन में अंधे होकर हरा-हरा देखने की कहावत प्रचलित हुई थी।

अन्धकार की यही नीलधार युग-युग की विश्व-चेतना है जिसमें उरोजों का उभार भी दिखाई देने लगता है (सावन के अन्धे की हरियाली यही तो है !)। फिर इस अन्धकार-दर्शन से भूखी धरती को अन्तर्जीवन का अन्न देकर क्यों न शान्त किया जाय? कमी रहे तो चेतना का अमृत बनाइए और उसमें तर्क, बुद्धि और अनुभूति को कूट कपड़छान कर पी जाइए और जड़-चेतन से परे होकर सीधे 'मूल सनातन' तक पहुँच जाइये ! इस अवस्था में आपका 'अन्तर अन्तरतम' में स्थित हो जायगा और 'अतल अकूल चेतना सागर' लहराने लगेगा !

मन बहुत सारे हैं। एक तन का मन है, एक आत्मा का मन है। एक मन का मन भी जरूर होगा ! तन के मन में पैठकर आत्मा का मन चमकता रहता है। फिर गगन में कोई मन खुल जाता है। लेकिन अफसोस, मुक्त होने पर भी उसका युग समाप्त हो जाता है और चेतना का युग शुरू हो जाता है, तथापि 'चिच्छक्ति' मन के अणु से ही प्रवाहित होगी। चेतना के जागने पर प्रभु संसार में अवतार लेते हैं और अन्तर्मन में डुबकी लगाकर परम सत्य बन जाते हैं !

अन्तर्मन न हो, तो जड़ मन भी चेतना के छोर छू आता है और उससे उसका आवरण हट जाता है। यह आवरण—यानी अज्ञान का पर्दा मन पर ही नहीं है; उस चेतना पर भी है जिसे छूने से मन का पर्दा हट गया था। आखिर अन्धकार-दर्शन है, न ? अज्ञान से सत्य न मिले तो बात क्या ! इसलिये स्वर्ण चेतना किसलयों का घूँघट करके लाज की मदिरा पी जाती है। लाज शरम पी जाने के लिए निर्लज्जता चाहिये, लेकिन पन्तजी की स्वर्ण-चेतना पत्तों की आड़ में बड़े सलज्ज भाव से मदिरा-पान का काम पूरा करती है। पुनः यह दिव्य चेतना जननि-रूप धरकर अपने मुँह पर किसलयों के बदले हिरण्मय अवगुंठन डाल लेती है !

१६४२

चिरकलावाद

प्रगतिशील आलोचकों पर यह दोष लगाया जाता है कि वे कला की उपेक्षा करते हैं और साहित्य को केवल समाज-शास्त्र की कसौटी पर परखने की कोशिश करते हैं। पन्तजी जैसे कला-प्रेमी और कुशल शब्द-शिल्पी के साथ ऐसी गलती करना अक्षम्य अपराध होगा। पन्तजी यदि शब्द-शिल्पी नहीं तो कुछ नहीं और उनपर लिखी गई आलोचना अगर उनके शब्द-शिल्प से ही शुरू नहीं होती तो वह आलोचना कहलाने की हकदार नहीं।

सवाल सिर्फ यह है कि कहाँ से शुरू किया जाय।

सबसे पहले उस शब्द को लीजिए जो 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में इतनी बार आया है जितने इनमें पन्ने हैं। दरअसल यह शब्द औसतन हर पन्ने में दो बार आता है, इसलिए १६६ और १७७ पन्नों के जोड़ को दुगना करने से आपको कुछ सही अन्दाज हो सकेगा।

यह शब्द ऐसे काम का है कि जहाँ लाइन छोटी पड़ती हो, बड़ी पड़ती हो, घटती हो, बढ़ती हो, ओजपूर्ण ज्यादा हो गयी हो या ओज-हीन होगयी हो, दो अक्षरों—और वह भी दो लघु अक्षरों के इस शब्द—को बिठा दीजिए, बस कास बन जायगा। काव्य का नया-नया अभ्यास करने वालों के लिए तो यह शब्द रामबाण है।

यह शब्द छायावाद का चिर-परिचित, पन्तजी का चिर-प्रिय शब्द 'चिर' है। इसके प्रयोग की कुछ गिनी-चुनी मिसालें देना ही यहाँ संभव होगा—

'चिर अधखुले उरोजों पर जलते थे उडुगण'

(स्व० कि० पृ० ५८)।

इस पंक्ति में 'चिर' शब्द न रखने से यह खतरा था कि आँचल सर-

कने से उडुगण उड़ जायँगे !

'योग्य नहीं कुछ भेंट; आप चिर मैथिलीशरण'

(स्व० कि० पृ० १३६)

'योग्य भेंट' न होने पर कवि ने अपना परम प्रिय शब्द 'चिर' भेंट करके उनका परम सम्मान किया है। अब अगर मैथिलीशरणजी के आराध्यदेव राजा रामचन्द्र को भेंट चढ़ाना हो, तो किस भेंट से काम लिया जाय ? देखिए—

'राम नाम प्रभु से भी बढ़कर
बना आज जनमन का ईश्वर,
अखिल सृष्टि का सार तत्व वह,
स्वर्ग मुक्ति सोपान चिर अमर !'

अमर के मरने का कोई खतरा था, तो पन्तजी ने चिर का सहारा देकर अमर को चिर अमर बना दिया है। इसमें कोई दोष भी नहीं। गोस्वामी तुलसीदास सीताजी के लिए कह गये हैं—'सुन्दरता कहं सुन्दर करई'।

तब पंतजी 'अमर' को 'चिर अमर' क्यों नहीं कर सकते ? नीचे की पंक्ति को सदोष भले माना जा सकता है—

'कुंभकर्ण-सी दानव निद्रा
सोने को चिर गई ज्यों उचट।'

इस तरह के प्रयोगों को भारतीय शास्त्रकारों ने ग्राम्यदोष कहा है और हम भारतीयता के साथ हैं।

'देवों के हैं ईश चिर शरण'

(स्व० कि० पृ० १७०)

—इस पंक्ति में मैथिली शब्द का छूट जाना कुछ अखरता है। पर्यायवाचियों के साथ यह शब्द खूब जमकर बैठता है—

'जो अनन्त अक्षय चिर कारण' (स्व० कि० पृ० १७४)
'जो ध्रुव राम अमर चिर अक्षर' (ऊपर के पृष्ठ पर)

राम के साथ ऐसे हजार विशेषण आ जायँ तो सहस्र नाम का पाठ

ही होगा; धर्म की विजय से काव्य की पराजय सँभल जायगी।

इसीसे मिलता-जुलता एक और शब्द है जो एक मात्रा बड़ा होने पर भी पंक्तियों में बड़ी नाटकीयता उत्पन्न करता है। भूत और भविष्य को वह वर्तमान से बांध देता है; परोक्ष को प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष को परोक्ष भी कर देता है। प्राकृत जनों का बिगाड़ा हुआ यह 'अद्य' का चिर-प्रचलित गद्यरूप 'आज' है।

'चिर' शब्द रहस्यवादी है तो 'आज' यथार्थवादी है। 'चिर' आज-कल-परसों के फेर से छुड़ाकर शाश्वतवाद की ओर ले जाता है, तो 'आज' प्रत्येक क्रिया के समय का हिसाब देकर आपको रोज़नामचे के यथार्थवाद की ओर ले जाता है। कुछ नमूने देखिए—

'आज चेतना के प्लावन-सा
निखर रहा रजतातप सुन्दर' (स्व० कि० पृ० ५)।

पुनः इसी कविता में---

'आज सत्य की बेला बहती
स्वप्नों के पुलिनों के ऊपर !'

एक ही दिन में दो काम हुए—सपनों पर सत्य बहा और चेतना जैसी धूप भी खिली। इससे साबित है कि पहली दो लाइनें दिन में लिखी गई थीं और बाद वाली दोनों रात में।

दूसरे दिन धूप और सपने दोनों गायब हो गये। नयी चेतना के अणु विस्फोट से मानों हीरोशिमा नगर तबाह हो गया; पन्त जी लिखते हैं—

'आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित, (उप० पृ० १४)।

अवाँछित और उपेक्षित होने की बात पाठकों को और कई पन्नों में भी दर्ज मिलेगी। प्रकाश के साथ छाया की तरह यह उपेक्षित का भाव स्वर्ण-किरणों की चेतना का सदा अनुकरण करता है।

अगली कविता में ऊपर वाले जीवनोदधि का रूप वदल गया है। इसलिए—

'आज उदधि के नीलांचल में बँधे निखिल देशान्तर'
(उप० पृ० १७)।

और भी—

'आज तड़ित् के पद नूपुर में ध्वनित विश्व संभाषण'।

पुनः—

'आज वनस्पति पशु जग को कर सकता मानव वर्धित'।

पुनः पुनः—

'दिशाकाल के परिणय् का रे मानव आज पुरोहित'!

ये सब घटनाएँ एक ही पन्ने पर हुई हैं (पृ० १७ पर), इसलिये इस दिन को पंत जी के कवि-जीवन का 'रेडलेटरडे' कहना चाहिये। फिर भी कुछ काम बाकी रह गये थे—

'हमें विश्व संस्कृति रे भूपर करनी आज प्रतिष्ठित'
(पृ० १६)।

दिशा-काल के परिणय में विश्वसंस्कृति छूट गयी थी; उसकी प्रतिष्ठा के लिए डायरी में नोट लिखकर—और यह आतुरता कि आज ही उसे प्रतिष्ठित करना है—पंत जी ने अपने विश्व-संस्कृति-प्रेम का परिचय दिया है।

अब 'निश्चित' और 'विपश्चित' पर आइये। ये दोनों शब्द, शकार-चकार-युक्त, तुकों की कमी को शान से पूरी करते हुए, पंक्तियों को अर्थ-गाँभीर्य से भी भर देते हैं—

'जीव नियति मनुजों पशुओं की भी कृतार्थ हो निश्चित'
(उप० पृ० १८)

यहाँ पर 'निश्चित' शब्द बता रहा है कि मनुष्यों और पशुओं का भाग्य अवश्य कृतार्थ होगा। इसके साथ 'निश्चित' ऊपर वाली पंक्ति के 'कल्पित' के साथ अकल्पित तुक-रूप में जमा हुआ है। और भी—

'सब मिल उसको छिन्न भिन्न कर सकते थे यह निश्चित'
(उप० पृ० ७७)

यहाँ 'निश्चित' ने अगली पंक्ति के 'शोषित' का साथ दिया है—

ऐसे शोषित का जिसे साथ की तुक भी न मिल रही थी !

लेकिन निश्चय ही 'निश्चिय' पूर्ण रूप से तब निखरता है जब वह 'विपश्चित' के साथ आता है, जैसे इन पंक्तियों में—

'रंग नहीं चढ़ता जिस पर वह यती व्रती है निश्चित,
समिध-पाणि में प्रश्न पूछता तुमको मान विपश्चित !'

'विपश्चित' के बाद का आश्चर्य चिह्न पन्तजी का ही लगाया हुआ है। 'निश्चित' का ऐसा जोड़ीदार मिलने पर आश्चर्य चिह्न का लगना उचित भी है। किमाश्चर्यमतः परम् !*

'निश्चित' का साथ छूटने पर 'विपश्चित' 'तिरस्कृत' का साथ देता है और इस दशा में 'मूढ़' बनकर रह जाता है।
यथा—

'धनी दीन, भोगी त्यागी, औ' मूढ़ विपश्चित !'
(उप० पृ० १२२)

आगे चल कर तो बेचारा 'चित' ही आया है–
'देश देश के विविध विपश्चित राजकर्म में हों सक्रिय चित !'
(उप० पृ० १३६)

इसी प्रकार स्मित, व्रतति, समदिग्, परात्पर, मादन आदि शब्दों के बार-बार प्रयोग से काव्य सौन्दर्य में विशेष वृद्धि हुई है। इन तत्समों के जोड़ का एक प्राकृत शब्द भी पंतजी ने साहसपूर्वक अपनी पंक्तियों में बिठा दिया है जिसके लिए वे अभिनंदनीय हैं। यह शब्द है 'जनी'–

'मधुर अप्सरा बनी जनी अब,
कुल प्रदीप से ज्योतित कर घर !'
(स्व० कि० पृ० ११७)

'बनी' के साथ 'जनी' और बनी-ठनी हो गई है—अनुप्रास के कारण ! और भी—

'नव कुमार का पकड़ मृदुल कर,
टहला रही जनी आँगन पर'।
(उप० पृ० १२०)

जगजीवन ऐसा है कि ये अप्सराएँ और जनी भी 'नयनकलहों' में पड़ जाती हैं। नयन-कलहों की सजीव चित्रमयता प्रशंसनीय है।

(स्व० कि० पृ० १४२ पर)

यह दुर्भाग्य का विषय है कि 'कल्पना' को स्त्रीवाचक मानने के बाद संस्कृत के आचार्यों ने वही व्यवहार 'शब्द' के साथ नहीं किया। पुरुष-वाचक शब्दों के भार से कोमल पंक्तियाँ तुक की सीमा तक न पहुँच कर बीच ही में टूटकर मुक्त छन्द बन जातीं, यदि कवि-कौशल अनेक शब्दों का नारी संज्ञा देकर कोमल पंक्तियों की रक्षा न कर लेता। कोमलता के इस कौशल में पन्तजी ने कमाल किया है—

'भाव सत्य बोली मुख मटका
बोली वस्तु सत्य मुँह बिचका'

(स्वर्ण-धूलि, पृ० ९)।

इन पंक्तियों में 'सत्य' के नारी-वाचक होने से मटकाने और बिच-काने की क्रियाएँ सार्थक हो गई हैं।

इसी तरह 'डर' ('छोड़ मध्य युग की डर' उप० पृ० १५४), 'तन' (मोहवासना की तन'—उप०, पृ० १४६), 'शिखर' ('सौधों की स्वर्ण शिखर'—स्व० कि० पृ० २८) 'मर्मर' ('बन की मर्मर क्या गाएगी ?' — स्व० कि० पृ० १५७) आदि शब्दों का भी रूप बदल दिया गया है। कभी-कभी कुछ शब्द उभय पोशाकों में भी सामने आते (या आती) हैं। जैसे यही 'मर्मर'—

'अह कराहता होगा मर्मर।'

(स्व० कि० पृ० १७२)

उभयवेशों की सार्थकता इस बात में है कि स्त्री का गाना अच्छा लगता है और पुरुष का कराहना। इसी प्रकार सत्य—

'अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत।'

(स्व० कि० पृ० ६२)

कवियों का निरंकुश होना प्रसिद्ध है। लेकिन निरंकुश होने में किस चीज के अंकुश की तरफ इशारा है ? अधिकतर व्याकरण की तरफ,

लेकिन इस तरह की निरंकुशता साधारण कवियों के लिये है। महाकवि लोग तो आल राउंड चैम्पियन होते हैं। 'नव स्वर गति लय ताल छन्द नव'—वे सभी को अपनी मौलिकता से नवीन कर देते हैं।

लय की उठा-बैठी देखिये—

'ओ अरुण ज्वाल, चिर तरुण ज्वाल !
मद से मंजरित कनक रसाल !'

(स्व० कि० पृ० ३०)

स्वर-लिपि के अभाव में दूसरी पंक्ति का ध्वनि-सौंदर्य समझना असम्भव है। इसी प्रकार—

'भावी रहित नित्य तिरोहित,
हानि-लाभ जीवन-मरण रचित।'

(३ प० पृ० १७०)।

एक गीत की टेक इस प्रकार है—

'विरह मिलन, प्रेयसि, प्रभव मिलन।'

(३ प० पृ० १७३)।

निःसन्देह, ऐसी पंक्तियाँ भी सैकड़ों हैं जिनमें यह उठा-बैठी नहीं है। दरअसल गति-भंग, लयभंग या यतिभंग तो विचित्रता और चमत्कार के लिये होता है। पन्तजी जब चाहते है तब एकदम सरल और सपाट लाइनें भी लिख लेते हैं। जैसे ये लाइनें—

'अगर न ऊँचे होते दादा,
कब का ऊँट तुम्हें खा जाता।'

(स्व० धू० पृ० ५६)।

यह सरलता, सुबोधता और मनोहारी सपाटता उनकी पहले की रचनाओं में कम आ पाई है।

ऐसे ही दो पंक्तियों के जोड़े में 'मोहम्मद' और 'अहम्मद' की तुकें भी सराहनीय हैं। कोई यह न समझे कि मोहम्मद के भाई अहमद को पन्तजी ने मधुर स्वरपात से डेढ़ मकारयुक्त करके अहम्मद बना दिया है। यह मद शुद्ध संस्कृत से आया है और उसके पहले उतना ही शुद्ध

'अहम्' जुड़ा हुआ है।

(स्व० धू० पृ० ४४)।

ऊँट और मोहम्मद वाली पंक्तियाँ विदेशी वातावरण की गंध के कारण, मुमकिन है, कुछ भारतीयता के प्रेमियों को न रुचें। उन्हें 'स्वर्ण-किरण' की अन्तवाली इस तरह की पंक्तियाँ पढ़नी चाहियें, यानी उनका पाठ करना चाहिये—

'जय जय सीताराम, जयति जय,
जय लक्ष्मण, जय भरत शत्रुहन।'

ऐसी पंक्तियाँ पढ़कर किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि पन्त जी संसार से संन्यास लेने वाले हैं। इसके विपरीत 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' से लोगों को आश्वासन मिलना चाहिये कि 'पल्लव' का किशोर-कवि पुनः अपनी किशोरावस्था की ओर लौट रहा है। कुछ लोग 'ग्राम्या' आदि की ग्रामीण रचनाओं से हताश होकर 'हाय पल्लव' करने लगे थे; पंतजी ने उनकी आर्त-वाणी सुनकर 'पल्लव' और 'गुंजन' के मर्मर-संगीत (अथवा की मर्मरसंगीत) से उन्हें पुनः तृप्त कर दिया है। पहले लिखते थे—

'जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन।'

अब लिखते हैं—

'बरसो उर्वर जीवन के कण
बरसो हे घन!' (स्व० धू० पृ० ५१)

पहले लिखते थे—

'गन्ध मुग्ध हो अंध समीरण
लगा थिरकने बारंबार।'

अब लिखते हैं—

'आम्र मंजरित, मधुप गुञ्जरित,
गंध समीरण अंध संचरित।'

(स्व० धू० पृ० ७१)

पहले लिखते थे :—

'जब मिलते मौन नयन पलभर !'

अब उसी के जोड़ पर—

'अधर से मिलते मधुर अधर ।'

(स्व० कि० पृ० १०७)

पहले लिखते थे :—

'वात हत लतिका सी सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार ।'

अब लिखते हैं :—

'भूल फूलों के आलिंगन,
वातहत लतिका भूलुंठित ।'

(स्व० कि० पृ० १७)

पहले मन से कहते थे :—

'ढल रे ढल आतुर मन !
गल रे गल निष्ठुर मन ।'

अब अपनी 'निःस्वर वाणी' से कहते हैं :—

'नव जीवन सौदर्य में ढलो,
सृजन व्यथा गांभीर्य में गलो ।'

(स्व० धू० पृ० १०२)

इस तरह की आवृत्ति से प्रकट होता है कि स्वर्ण-चेतना से पन्तजी की काव्य-प्रतिभा इतनी अधिक समृद्ध हो गई है कि वह अपने ही उतारे हुए वस्त्रों को पहनने के लिये उत्कंठित है ।

पन्तजी अपने रोमिल, ऊर्मिल, रलमल, टलमल आदि शब्दों के लिए प्रसिद्ध हैं । ये भी अपनी उचित मात्रा में आपको इन पुस्तकों में मिल जायँगे । उदाहरण देने की जरूरत नहीं । लेकिन श्रेष्ठ शब्द-सौंदर्य तो वह है जहाँ भाव शब्दों की ध्वनि से मुखर हो उठें । जैसे वीणा के स्वरों का वर्णन किया जाय तो 'वीणा क्वण' 'कर्ण' और 'जन्हु के श्रवण' आदि शब्दों के प्रयोग से झाला बजने का भ्रम पैदा हो जाय

(स्व० कि० पृ० १४६)। इसके सिवा, जब ध्वनि का अनुकरण ही करना है, तब वीणा-सारंगी तक ही अपने को क्यों सीमित रक्खा जाय? पशु-पक्षियों की बोली का भी अनुकरण क्यों न किया जाय ? देखिये, एक साथ कितनी बोलियाँ सुनाई पड़ती हैं—

'दादुर टर टर करते, झिल्ली बजती झन-झन ,
म्याँउ म्याँउ रे मोर, पीउ पीउ चातक के गण ।'

(स्व० धू० पृ० ४६)

यहाँ पर टर-टर और झन-झन के साथ म्याँउ-म्याँउ ने जो समा बांध दिया है, वह छायावाद के तमाम हिमायतियों के लिये अनुकरणीय हैं। मोर का शब्द मुमकिन है, किसी ने दूसरे ढँग से सुना हो, लेकिन कवि-कंठ से होता हुआ वह किंचित् रूप परिवर्तन करके म्याँउ-म्याँउ बन गया है।

पुराने ज़माने में भक्तगण भगवान की प्राप्ति के लिए संसार छोड़ देते थे; बरसों तक जंगलों-पहाड़ों की खाक छानते थे। आधुनिक भक्त अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का समन्वय करते हैं। इसलिये यह जरूरी नहीं होता कि वह संसार छोड़कर वीतराग हो जायँ। वे उन मठाधीशों के समान हैं जिनके लिए सौंदर्योपासना और भगवदुपासना में कोई विरोध नहीं होता। पन्तजी भक्ति की रामनामी के नीचे कामशास्त्र की पोथी भी दबाये हैं। नारी के नख-शिख वर्णन से उन्होंने अपनी भक्ति को सरस बना लिया है। हिमालय के लिये वे कहते हैं—

'हे असीम आत्मानुभूति में,
लीन ज्योति शृंगों के भूभृत् !
घनीभूत अध्यातम तत्व से,
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत।' इत्यादि

(स्व० कि० पृ० १५)

यह आत्मानुभूति कितनी गंभीर, व्यापक और समन्वयवादी है, यह इससे प्रकट है कि गुफाओं में औषधियाँ जलकर स्वप्न-कक्ष दीपित करती हैं, ओसों के वन में स्तनहारों के मुक्ताफल मिलते हैं और एक विशेष

प्रकार की गन्ध से कवि की घ्राणेन्द्रिय पुलकित और कृतार्थ हो जाती है—

> 'छाया निभृत गुहाएँ उन्मद,
> रति की सौरभ से समुच्छ्वसित !'
>
> (स्व० कि० पृष्ठ १३)

घनीभूत अध्यात्मतत्व से ये ज्योति सरिताएँ प्रवाहित होती हैं !

'स्वर्ण निर्झर' में वह एक अप्सरा की कल्पना करते हैं 'जिसकी फूल देह को घेरे स्वर्ग लालसा गुंजित' रहती है। उसके एकाकी अंगों पर अनावृत लावण्य दिखाई देता है। उसके 'सुप्त स्वर्ण चक्रांगों-से सुकुमार उरोजों पर' 'शुभ्र सुधा के मेघों की जाली' उठती गिरती रहती है। (ऊपर के अनावृत लावण्य से कोई विरोध प्रकट न हो, इसलिये जाली का ही उल्लेख है।) 'कामना-शिखरों' जैसे 'उन दो रजत प्रीति कलशों पर' स्वर्ण शिराएँ दिखाई देती हैं। उसकी सुन्दर नाभि 'ज्योति भँवर' सी है, तदुपरान्त—

> 'स्वर्ण वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक सर में !'
>
> (स्व० कि० पृ० ३२)

वाष्पघन में विलीन होकर कवि-कल्पना ऐसी विह्वल होती है कि उसे अप्सरा के स्वर में 'आत्मा के नभकी' 'रजत शान्ति' सुनाई देने लगती है।

लताओं जैसी बाँहें 'आलिंगन भरने को अति कोमल पुलकों से कल्पित' हैं। 'स्वर्णिम निर्झर सी रति सुख की जंघाओं पर पेशल'जीवन की ज्वाला अपना 'दीपन' शीतल करती है !

कोई दूसरा कवि यही लिखता तो अश्लीलता की गुहार के मारे भारतीयता-प्रेमी सम्पादकों को हिचकियाँ आने लगतीं। लेकिन जो कवि अहिंसावादी है, पं० जवाहरलाल नेहरू को उपचेतन-वीर मानता है, दीन दुखियों को त्यागमय जीवन का उपदेश देता है, उसके लिए यह सब क्षम्य ही नहीं हैं, वरन् कामशास्त्र वाली भारतीय परम्परा का पालन करने के लिए वह बधाई का पात्र भी है।

ऊपर का नखशिख कुछ ज्यादा खुला हुआ लगे तो पन्तजी दूसरी कविताओं में गोपन भाव से कहते हैं—

'वह कैसी थी,
अब न बता पाऊँगा
वह जैसी थी।'

(स्वर्ण किरण, पृष्ठ ३८)

न बताने से अधिक हानि भी नहीं क्योंकि यह, वह और वे सब एक ही कल्पना-लोक की वासिनी, समान रूप से 'अदृश्य, अस्पृश्य, अजात' हैं।

सुदृश्य, सुस्पृश्य, सुजात न होने से कवि को प्रकृति में बारंबार नारी के रूप की कल्पना करके मन का दीपन शान्त करना पड़ता है। ऊषा 'वक्षोजों पर' स्वर्ण कलश रक्खे हुए (पानी भरने का नया तरीका निकाल कर) 'विश्वोदय पर' आती है। उस 'दिव्य चेतना की ऊषा' के आने पर—

'वसुधा के उरोज शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता की जांघों से सरका लहरा रेशम सा जल।'

(स्व० कि० पृष्ठ ५१)

इन सब क्रियाओं के कारण ही ऊषा की चेतना दिव्य कही गयी है। अन्यत्र—

'सीप छटा सा उदर, नाभि मुक्ताफल सी स्मित,
पुष्प पुलिन जघनों पर चिर लालसा तरंगित'!

(उप० पृष्ठ ५६)

मानना पड़ेगा कि 'चिर' शब्द का प्रयोग यहाँ भयानक रूप से सार्थक हुआ है। यदि साधारण लालसा होती तो कभी उसकी लहरों के शान्त होने का दिन आ ही जाता। यह तो मध्यवर्गीय युवक कवि की अतृप्त वासना है—प्रौढ़ वय में अधिक वीभत्स हो उठने वाली दमित काम-चेतना—जो 'पल्लव', 'गुंजन' काल के अन्य प्रदेश छोड़कर अब 'पुष्प पुलिन जघनों' में ही लालसा को चिर-तरंगित देखती है। आगे भी

लिखा है—

'कांचन सी तप ज्वलित कामना,
ढली सघन जघनों में दीपित।
बनी कठोर कुसुम कोमलता,
श्रोणिभार में ही चिर पुंजित।'

(स्व० कि० पृष्ठ ११५)

प्रभु की प्रार्थना के दोनों मतलब हो सकते हैं, लालसा की इन तरंगों से उबार दे; और यह भी कि उन पुष्प-पुलिनों तक कवि को पहुँचा दे।

प्रकृति से आगे बढ़कर यह नख-शिख प्रतीकों में भी खिलता है। भक्ति की कनक जैसी देह चन्दन जैसी सुगन्धित है और—

'गैरिक श्रृंगों से उरोज थे अश्रु माल स्मित!'

(उप० पृष्ठ ६१)

स्मित यहाँ कैसा सहायक हुआ है।

'सत्य' (यहाँ पर पुलिंग) के जघनों पर सिर धरे मुक्ति लेटी है और मुक्ति के खुले वक्षोजों पर सत्य हाथ रखे हुए है। भारतीय भक्त की साधना को कैसा वरदान मिला है!

'अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर
लेटी थी वह दामिनि सी रुचि गौर कलेवर;
गगन भंग से लहराए मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर!'

(उप० पृष्ठ ६३)।

इस प्रकार 'चिर स्वर्ग चेतना' प्रतिष्ठित हुई और इस धरती के दुख, दैन्य, ताप, शाप कौओं की तरह अन्धकार में विलीन हो गये।

पन्तजी ने सत्य ही कहा है—

'चकित नहीं कामिनी दामिनी करती किसके लोचन!'

(स्व० कि० पृष्ठ १०८)

भले ही वह कामिनी भक्ति या मुक्ति ही क्यों न हो!

'स्वर्ण धूलि' की अनेक कविताओं में पन्तजी ने यह भक्ति-मुक्ति का

स्वाँग छोड़कर सीधे-सीधे अपनी मर्म-व्यथा कह डाली है। जब वह कहते हैं--

'हृदय दहन रे हृदय दहन,
प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन !
यह सुलगेगी, होगी न सहन ।' (पृ० ६५)

तब यह पता लगाने में किसी को देर न लगेगी कि उनका स्वर सच्चा है। वे सत्य कहते हैं---

'अब भीतर संशय का तम है
बाहर मृगतृष्णा का भ्रम है,
क्या यह नवजीवन उपक्रम है,
होगी पुनः शिला चेतन
बरसो हे घन ।'

(स्व० धू० पृ० ५२)

अवश्य बरसो। रामनामी भिगोकर बगल में दबी हुई कामशास्त्र की पोथी को भी तर कर दो। चेतन-उपचेतन ने मृगतृष्णा का जो भ्रम पैदा कर दिया है, (मृगतृष्णा स्वयं भ्रम है, उस भ्रम का भ्रम तो महाभ्रामक होगा !), उसे दूर करके बालू के बदले जल से मृग की तृष्णा शान्त कर दो ! १६४८

पशुवाद

एक राजा के तीन लड़के थे। एक कांग्रेसी हो गया; दूसरा कम्युनिस्ट और तीसरा क्रान्तिकारी (आतंकवादी)। कांग्रेसी ने अंत में काँग्रेस छोड़ दी क्योंकि वह नगर काँग्रेस का सभापति न चुना गया। क्रान्तिकारी मुखबिरी के लिए राजी हुआ; फिर विचार बदले और अपनी प्रेमिका के हाथ से जहर लेकर खा लिया। कम्युनिस्ट, पुलिस के पीछे पड़ने पर, हिन्दुस्तान छोड़ कर बाहर चला गया। तीनों के बाप राजा साहब अपने राजत्व में और भी महान् होकर पर्दा गिरने के वक्त अकेले स्टेज पर खड़े रहे।

इन तीनों पात्रों के सहारे श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में राष्ट्रीय आन्दोलन, आतंकवाद और मजदूर आन्दोलन पर जो विचार प्रकट किए हैं और लगे हाथ हिन्दी लेखकों को भी जो लपेट लिया है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है।

वर्मा जी सन् ३० के आन्दोलन का चित्रण कर रहे हैं। उस आंदोलन के दृश्य अभी हजारों पाठकों को याद होंगे। प्रेमचन्द की कोई मामूली कहानी उठा लीजिए। उसमें आप जनता के उत्साह और संघर्ष की जैसी सच्ची तस्वीर पायेंगे, वैसी इस मोटे पोथे में कहीं आपको न मिलेगी। भारतीयता का राग अलापने के बावजूद श्री भगवतीचरण वर्मा को उस आन्दोलन के सभी नेता स्वार्थी और जनता रुपयों के बल खरीदी हुई भेड़-बकरी जैसी ही नजर आई है। सरकार का मुकाबला करने के लिए आदमी नहीं मिलते, इसलिए दयानाथ इस नतीजे पर पहुँचता है कि "देश अभी स्वतंत्र होने के लिए तैयार नहीं है।" मार्कण्डेय—जो अहिंसा का सबसे बड़ा उपदेशक है—यह सुझाव पेश करता है कि लोगों को "जेल जाने के काम पर नौकर" रखा जाय (पृष्ठ २४)।

मार्कण्डेय इतिहास की दुहाई देकर कहता है कि सारी दुनिया में ऐसा ही होता है,"और इसलिए अगर कांग्रेस मजबूरी की हालत में तनख्वाह देकर लड़ने के लिए सिपाही रखती है तो इसमें हर्ज ही क्या है ?" (पृ० २५)। यह प्रस्ताव बहुमत से पास भी हो जाता है।

जिन सैकड़ों देश प्रेमियों ने लाठियों के वार सहे, जिन पर पुलिस ने घोड़े दौड़ाए, जिन्होंने जेल में अनेक यातनाएँ सहीं, उनके त्याग और बलिदान पर श्री भगवतीचरण वर्मा की यह टिप्पणी है।

रामभरोसे कह रहा है—"गिरफ्तार होने के लिए आदमियों की कमी नहीं है, हजार दो हजार जितने आदमी चाहें गिरफ्तार होने के लिए तैयार हैं।" दयानाथ ताज्जुब करता है कि इतने आदमी कहाँ से मिल गए और लाला रामकिशोर जवाब देते हैं—"इसमें ताज्जुब की क्या बात है ? हिन्दुस्तान में गरीबों और बेकारों की कमी नहीं, उनको रुपये दो और स्वयंसेवक बनाओ।"

बात स्वयंसेवकों की ही नहीं है। लेखक की दृष्टि में 'जनता' एक घृणित वस्तु का नाम है जिससे सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्तियों को दूर रहना चाहिए। यह एक ऐसा मसला है जिस पर उपन्यास के सभी पात्र एकमत हैं। देखिए पहले तीनों सन्तानों के पिता पं० रामनाथ तिवारी क्या कहते हैं—"और जनता ? यह अपढ़, मूर्ख और कंगाल जनता ? किसी के भी बरगलाने में यह जनता आ सकती है। इसके माने यह हैं कि जो जितना ही मक्कार, चालाक और बेईमान होगा वही इनका प्रतिनिधि बन सकेगा। और इनका प्रतिनिधि बन कर शासन कर सकेगा !"

(पृष्ठ ५२)।

बिल्कुल यही तर्क उपन्यास के आदर्श अहिंसावादी पात्र मार्कण्डेय से भी सुन लीजिए। कहता है---"तुम्हारा यह बहुमत वास्तव में अल्पमत है क्योंकि यह बहुमत केवल साधन है, कर्ता नहीं है। कर्ता कुछ थोड़े से इने गिने लोग हैं जिन्हें 'नेता' कहा जाता है, बहुमत इन्हीं थोड़े-से नेताओं के इशारों पर भेड़-बकरियों की तरह चलता है।"

(पृष्ठ ३५०)

इस तरह बहुमत का मजाक उड़ाने का उद्देश्य क्या है ? इसका एक ही उद्देश्य हो सकता है कि जनता को भेड़-बकरी की संज्ञा देकर अल्पमत में आस्था पैदा की जाय।

कांग्रेसी दयानाथ कहता है—"में वास्तव में अनुभव करता हूँ कि अधिकाँश मनुष्य ऐसे नहीं हैं जिनके साथ मैं बराबरी से मिल सकूँ। उनमें बेईमानी है, उनमें बेवकूफी है, उनमें संस्कृति, शिष्टता, और सभ्यता का अभाव है।" (पृष्ठ ४६१)

एक बार आगे भी वह कहता है--"मैंने यह नहीं सोचा था कि इन पशुओं के साथ काम करने के लिए स्वयं पशु बन जाना पड़ेगा।"

(पृ० ५१६)

और पात्रों के मुँह से भी हिन्दुस्तान की जनता को मूर्ख, भेड़-बकरी, कीड़े वगैरह कहलाया गया है लेकिन किसी को भ्रम न रह जाय इसलिए लेखक ने खुद भी कलकत्ते के मजदूरों के बारे में अपनी राय जाहिर कर दी है। मजदूर मशीनें चलाते हैं–"भावना हीन, चेतना हीन।" काम से लौटने पर ताड़ी शराब पीकर वे अपने बीबी बच्चों को पीटते हैं या एक कोने में पड़कर सो जाते हैं। (पृष्ठ ६१)। उनमें कहीं भी मानवीय चेतना, आजादी से जीवन बिताने की आकांक्षा, संगठन करने और लड़ने की क्षमता श्री भगवतीचरण को नहीं दिखाई देती। यहाँ तो जड़ता का ही दूसरा नाम जनता है। उसके आजाद होने की कहीं भी संभावना नहीं दिखाई गई। बल्कि मनोविज्ञान से यह पेशबन्दी भी कर दी गई है कि अगर यह 'भावनाहीन, चेतनाहीन' समुदाय कभी क्रान्ति कर भी बैठे तो उससे शोषण का अन्त न होगा।

अहिंसावादी मार्कण्डेय क्रान्ति के खिलाफ यह अनमोल तर्क पेश करता है—"इन बूर्जुआ लोगों को मिटाने के बाद मिटाने वाले लोग शोषक बन जाँयगे और मिटने वाले उत्पीड़ित बन जायँगे, मनोविज्ञान तो यह कहता है। आखिर उत्पीड़न है क्या ? सबल का निर्बल से बेजा फायदा उठाने की कोशिश करना। मारनेवाला सबल है। मारा जाने वाला निर्बल है।" (पृष्ठ ३५०)

कैसी सुघर दलील है। निर्बल पूँजीपतियों की रक्षा करने के लिए कैसी तीव्र संवेदना है। जब तक क्रान्ति नहीं होती, तब तक तो जनता भेड़-बकरी है ही। उसे हम छक कर गाली देंगे। जब क्रान्ति से वह पुरानी व्यवस्था को उलट देगी, तब हम उसे शोषक कहेंगे और मनोविज्ञान से सिद्ध कर देंगे कि इसका फल भूतपूर्व शोषितों के लिए अच्छा न होगा। आखिर समाज में शोषकों और शोषितों के अलावा और कोई तीसरा तो हो नहीं सकता। यह मनोविज्ञान की किसी भी पोथी में नहीं लिखा है कि मानव-समाज शोषणहीन भी हो सकता है। इसलिए यह हाय-हत्या क्यों ? सभी रास्ते टेढ़े-मेढ़े है। फिर बरगद की छाँह में चुपचाप बैठकर क्यों न सुस्ताया जाय ?

देश के नौजवानों और विद्यार्थियों पर श्री भगवतीचरण को इससे ज्यादा आस्था नहीं है। क्रान्तिकारिणी प्रतिभा कहती है—"हमारे देश के नवयुवक नपुंसक और कायर हैं; न उनमें साहस है और न उनमें स्वाभिमान है।" (पृ० ७२)

स्वयं क्रान्तिकारी नेताओं का मनोबल टूटा हुआ है, उनकी गिनती हत्यारों और डाकुओं के साथ की गई है। पं० रामनाथ कहते हैं कि उनमें "चरित्र का अभाव" है क्योंकि "क्रान्तिकारी युद्ध नहीं करता—वह हत्या करता—है !" (पृष्ठ २२०), बिलकुल वही दलील जो अंग्रेज साम्राज्यवादी दिया करते थे और जिसे बाबू भगवतीचरण ने ज्यों का त्यों उतार लिया है। क्रान्तिकारिणी वीणा इस बात का जवाब नहीं देती, उल्टा पं० रामनाथ से पूछती है "ठीक क्या है ?"

दूसरा आतंकवादी नेता प्रभाकर उर्फ मनमोहन अपने जीवन को कृत्रिम बतलाता है। वह कहता है कि "मेरी आत्मा संकुचित हो गई है। और रही वीरता……वहाँ भी……" (पृष्ठ २७५)। यानी लेखक ने खुद आतंकवादियों से वही बातें कहलाई हैं, जिन्हें पं० रामनाथ तिवारी—सामन्तवाद के प्रतिनिधि—कह चुके हैं। आगे चलकर मनमोहन कहता है कि हम छिपकर काम करते हैं, यह इसलिए कि डरते हैं। डरना कायरता है। और भी—"हमारी जिन्दगी सच्ची नहीं, सीधी

नहीं। हमारा अस्तित्व एक भयानक झूठ है।" वह समझता है कि आतंकवादी कार्यों से मनुष्यता का पतन होता है। (पृ० २७६--७)।

श्री भगवतीचरण ने क्रान्तिकारियों के मुँह से ऐसी बातें बारंबार कहलाई हैं, जिससे आपको विश्वास हो जाय कि उनके बारे में अंग्रेजों की कही हुई बातें बिल्कुल सच हैं।

मनमोहन कहता है—"मैं भाग रहा हूँ! कायर की भाँति।" (पृ० २६३)।

—"मेरा अस्तित्व एक भयानक झूठ है।" (पृ० २६३) मनमोहन की आत्मा जितनी गिरी हुई दिखाई गई है, उतनी ही कुरूप उसकी आकृति भी हो जाती है। उपन्यासकार अपने शब्दों में लिखता है—"और उन्होंने देखा कि उस मुस्कराहट से मनमोहन का चेहरा एकाएक बहुत भायनक रूप से विकृत हो गया है, मनमोहन की उस महाकुरूप मुसकराहट से झगड़ू सिहर उठे।" (पृष्ठ ३३५)

और भी—"उस समय रामसिंह ने देखा कि उनके सामने मनुष्य नहीं खड़ा है, एक महा कुरूप दानव खड़ा है। मनमोहन मुसकरा रहा था और उसके हाथ में पिस्तौल थी।" (पृष्ठ ३७३)

इस कुरूपता से पुलिस सुपरिटेन्डेन्ट श्यामनाथ तथा ताल्लुकेदार रामनाथ की सुरूप मुस्कराहट की तुलना कीजिए तो आपको मालूम हो जायगा कि किसे देखकर लेखक का रोम-रोम सिहर उठता है।

जब मनमोहन मरने लगता है तब आप जानते हैं, वह अपने साथी प्रभानाथ से क्या प्रतिज्ञा कराता है? वह कहता है—"तुम मुझे वचन दो कि तुम इस क्रान्ति के मार्ग से हट जाओगे—मुझे वचन दो!" और प्रभा उसे तुरन्त वचन भी दे देता है। (पृष्ठ ३६०)

इसी तरह मजदूर आन्दोलन पर, मजदूर संगठनकर्ताओं पर कीचड़ उछाला गया है। उनकी राजनीति पर सीधा हमला न करके उनके चरित्र को कलंकित करके मजदूर आन्दोलन के प्रति अविश्वास पैदा करने की कोशिश की गई है। उपन्यास में एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो मजदूरों में काम भी करता हो और जिसकी तरफ लेखक की

सहानुभूति भी हो। ब्रह्मदत्त रुपये खा जाता है और इतना असंस्कृत है कि कांग्रेसी दयानाथ उससे बात तक नहीं कर सकता। उमानाथ पुलिस को घूस देता है; चन्दे का रुपया खा जाना नैतिक ठहराता है। विदेश से रुपया लेना भी न्यायपूर्ण ठहराता है। वह अपनी पहली स्त्री को छोड़ देता है और विदेश से एक दूसरी पत्नी - और वह भी बर्लिन कम्युनिस्ट पार्टी की सेक्रेटरी!--ले आता है। यह जर्मन नारी इतनी सभ्य है कि चाँदी के सिगरेट केस के पीछे मॉरीसन का मुंह नोंच लेती है। मॉरीसन एक पड़ोस की बिल्ली बन्द करके रुपया ठगता है।

यह सब अलिफलैला इसीलिए कि मजदूर-संगठन से लोगों का विश्वास उठ जाय और वे इसे लफंगों और उठाईगीरों का काम समझने लगें। उमानाथ के मुँह से बहुत अजीब-गरीब बातें कहलाई गई हैं। वह मजदूर आन्दोलन की बढ़ती के लिए यह जरूरी नहीं समझता कि हिन्दुस्तान आजाद भी हो। यही नहीं, जब तक आजादी की लड़ाई चलती है, तब तक वह इस पक्ष में भी है कि मजदूर हड़तालें न करें! गोया इस हड़ताल-विरोधी नीति से खुश होकर ही अंग्रेज सरकार ने मेरठ षड़यंत्र का प्रसिद्ध मुकदमा चलाया था! मजदूरों को चुप बैठाने के साथ-साथ वह किसानों को भी उसी हालत में चुपचाप रहते देखना चाहता हैं। (पृष्ठ २६७)

श्री भगवतीचरण वर्मा को अपनी समझ से हिन्दी में उचित सम्मान नही मिला। कुछ दिन पहले तक अपनी किताबों की भूमिका में वह लिख दिया करते थे, मैं भी पांच सवारों में हूं या संसार के बड़े से बड़े उपन्यासों से इसकी तुलना कर लीजिए। एक जगह आपने खुलासा लिखा है कि "हिन्दी के साहित्यिकरों में इस तरह की बदतमीजी की बातचीत हो जाना बड़ी साधारण-सी बात थी"। (पृष्ठ० २६०)

रामेश्वर के मुँह से कहलाया है--"ये सब के सब घमण्डी, बदतमीज और बेवकूफ हैं" (पृष्ठ २५५)।

उनका चित्रण भी इस इरादे से किया गया है कि पाठक के मन में यही भावना पैदा हो।

उमानाथ से कहलाया गया है "हिन्दी साहित्यिकों का जमाव पागलों का जमाव है जिसमें हरेक आदमी अपनी कहता है, बिना सोचे समझे कहता है और गलत कहता है।....आज तक हमारे देश में सत्-साहित्य का सृजन नहीं हुआ, हो भी नहीं सकता था।" (पृ० २६१)

इस खीझ का सबब इसी उपन्यास में आप को मिल जायगा। आखिर हिन्दी संसार में सभी आदमी घमंडी, बदतमीज और बेवकूफ हों, ऐसा तो हो नहीं सकता। कम से कम एक आदमी – नाम लेने भर को तो—तमीजदार, अक्लमन्द और नम्र होना चाहिए। वह है जरूर लेकिन अफसोस, हिन्दी संसार ने उसे न कवि माना न उपन्यासकार। उसका नाम कुछ भी रक्खा जाय, आप पहचानने में गलती न करेंगे।

मुलाकात कीजिए—"श्री देवीप्रसाद नाटे से आदमी थे, एकहरे बदन के। इनकी गणना हिन्दी के सफल कवियों तथा उपन्यासकारों में होती थी। पर हिन्दी के आलोचक न इन्हें कवि मानने को तैयार थे और न उपन्यासकार।" (पृ० २३८)

अब अगर श्री देवीप्रसाद को अपनी सफलता घोषित करने के लिये समूचे हिन्दी साहित्य पर कीचड़ उछालना पड़ा हो तो क्या आश्चर्य !

"टेढ़े मेढ़े रास्ते" में हिन्दी साहित्यकारों की ऐसी ही टेढ़ी मेढ़ी तस्वीरें भरी पड़ी हैं। जैसे लेखक को आजाद और भगतसिंह की परम्परा में चोर-डाकू और कायर ही दिखाई देते हैं, वैसे ही उसे प्रेमचन्द और प्रसाद की परंपरा में सब बदतमीज ही दिखाई पड़ते हैं। जिन्दगी की तस्वीरें इतनी टेढ़ी-मेढ़ी होकर, इतनी भद्दी और बेडौल होकर लेखक के सामने क्यों आती हैं ? इसलिए कि अब निगाह ही ऐसी बन गई है कि साफ-सुथरा और सुडौल कुछ दिखाई नहीं देता। इस किताब में कुरूपता, कायरता, निराशा अन्धकार वगैरह का इतनी बार जिक्र आता है कि वे लेखक के दिमाग पर साफ़ छाई हुई दिखाई देती हैं। किसी एक पात्र की कायरता और निराशा समझ में आ सकती हैं, लेकिन यहाँ तो सभी एक ही दिमाग की झलक लिए आते हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा की दृष्टि में पशुता भी मानवता का अनि-

वार्य और प्रधान अंग है।

—प्रभानाथ कहता है, "ने मैं देवता हूँ, न मनुष्य ! मैं केवल पशु हूँ" ! (पृ० ९२)

—उमानाथ कहता है : "हम हिन्दुस्तानियों में पशुता पूरी तरह भरी हुई है। इसी पशुता से प्रेरित होकर हम सब यह कर डालते हैं।" (पृ० १७६)

—सुपरिंटेंडेंट पुलिस भी यही कहता है:"ये स्त्री-पुरुष—ये सबके सब पशु हैं—और पशुओं में कोई भेदभाव नहीं होता।" (पृ० २११)

—पं० रामनाथ तिवारी कहते हैं : "विषमता ही प्रकृति का नियम है। हम सब एक प्रकार की पाशविकता लिए हुए हैं, हम सबों में दूसरे को उत्पीड़ित करने की दबी हुई मनोवृत्ति है"। (पृ० २२१)

—अहिंसा का उपदेशक मार्कण्डेय कहता है : "हम सबों में पशुता है, वही पशुता जिसे हम हिंसा कहते हैं।" (पृ० ४५३)

इस पशुवाद को जान बूझकर एक महान् मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में पेश किया गया है। उसका उपयोग किसी मनोवैज्ञानिक उद्देश्य के लिए नहीं बल्कि विशुद्ध राजनीतिक उद्देश्य के लिए किया गया हैं,। वह उद्देश्य यह है कि मजदूर और किसान अपने संगठन से मौजूदा व्यवस्था को न बदलें। जब पूँजीपति और मजदूर दोनों में ही पशु वर्तमान हैं, तब पूँजीवाद को खत्म करने से मनुष्यता का विकास कैसे होगा ? समाज के तमाम लोगों की पाशविकता जहाँ की तहाँ रह जायगी। उल्टे मजदूर हिंसक और उत्पीड़क बन जाँयगे। इसलिए जरूरत है कि पूँजीवाद से लड़ना छोडकर हर आदमी अपने 'पशु' से लड़े; पूँजीपति भी लड़े और मजदूर भी लड़े और दोनों का पशु-विरोधी संयुक्त मोर्चा बन जाय। इसीलिए जब मार्कण्डेय इस फिलासफी पर स्पीच झाड़ता है तो "ऐसा मालूम होता था कि उसके पिता की आत्मा अपनी समस्त साधना और बलिदान के साथ उस पर आ गई थी।" (पृ० ४२२)

पिता के बदले यदि सेठ घनश्यामदास बिड़ला की आत्मा उस पर आ जाती तो स्पीच में ज्यादा फर्क न पड़ता।

पं० रामनाथ तिवारी का चरित्र देखने लायक है । वे उस तमाम कुरूपता और कायरता से दूर हैं जो लेखक को सारी दुनिया में छाई हुई जान पड़ती है । वे उसके आराध्य देव की तरह हैं, जिन्हें देखते उस की आँखें नहीं थकतीं । जिस तरह दयानाथ की बीबी अपने पति को "गौरवर्ण का एक वीर, हिमालय की भाँति अचल, मेघमाला की भाँति गंभीर" (पृ० १२६) देखती है, उसी तरह श्रीभगवतीचरण वर्मा ताल्लुकेदार रामनाथ को "छाती फुलाए हुए और अपना मस्तक ऊँचा किये हुए" "एक पाषाण मूर्ति की भाँति" (पृ० ३००) देखते हैं ।

मजाल है, यहां कुरूपता और पाशविकता की झलक भी आपको मिल जाय ।

मिल भी कैसे सकती है ? आखिर पं० रामनाथ तिवारी उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिससे श्री भगवतीचरण वर्मा का आध्यात्मिक संबंध जुड़ा हुआ है । उनकी नजर भविष्य की ओर नहीं है, ढहते हुए अतीत की ओर है, उस सामन्तवाद की ओर जो अपनी आखिरी साँसें गिन रहा है । उसी से उनके व्यक्तित्व का तार-तार बँधा हुआ है । वह खान्दान की शान, वह रुतबा, वह शासन का रोब-दाब—इनकी याद आते ही उनकी हृदय-वीणा के तार झंकृत हो उठते हैं । उनकी लेखनी यदि किसी का चित्र आँकते हुए पुलकित हो उठती है, तो ताल्लुकेदार पं० रामनाथ तिवारी का । लेखक की कल्पना जितना ही उनका ध्यान करती है, उनकी मूर्ति उतनी ही भव्य और विशाल होती जाती है । पृ ३ पर पाठक को बताया जाता है कि "पं० रामनाथ तिवारी अवध के एक छोटे-से ताल्लुकेदार थे ।" लेकिन पृ० ४९ तक पहुँचते-पहुँचते—"एक बहुत बड़ी रियासत का भार उनके कंधों पर लदा था । और वे अकेले थे ।"

इसी तरह पृ० ३ पर उपन्यासकार उनका परिचय देते हुए कहता है—"तिवारी जी सभ्य तथा सुसंस्कृत पुरुष थे, उन्हें सभ्य तथा पढ़े-लिखे लोगों का ही साथ पसन्द था । ग्रामीण जीवन में विद्वानों के संसर्ग का अभाव था । इस अभाव को उन्होंने उन्नाव आकर दूर किया था ।" लेकिन हिन्दुस्तान तो ठहरा पशुओं का देश; उसमें पढ़े-लिखे सभ्य

आदमी कहाँ ? इसलिए लेखक नें जोड़ दिया है कि उन्नाव में जिन विद्वानों का वे सत्संग करते थे, वे "कलक्टर, डिप्टि कलेक्टर आदि पढ़े-लिखे अफसर" थे।

तिवारी जी तो पशुवाद के महान् आचार्य हैं। पशुवाद और पढ़ना-लिखना कुछ विरोधी क्रियाएँ हैं। इसलिए लेखक ने पं० रामनाथ तिवारी से कहीं पढ़ने लिखने की चर्चा नहीं कराई। बल्कि आगे चल कर उनसे प्रभानाथ को यह उपदेश दिलाया है कि "यह विद्वत्ता, ये सिद्धान्त ! ये सब की सब धोखे की चीजें हैं।....ये सारे सिद्धान्त—यह सारी बुद्धि ! यही हमारे विनाश के कारण हैं।" (पृ० ३८)

पशुवाद के आचार्य के लिए यह जरूरी था कि वह तर्क और बुद्धि से ऊपर उठ जाय वर्ना उसकी भव्यता के बेरंग हो जाने का खतरा था। यह बात नहीं है कि तिवारी जी के अपने सिद्धान्त न हों। हैं, लेकिन उनका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। कहते हैं—"जीवन का नियम क्या है ? समर्थ की असमर्थ पर विजय ! अनादि काल से समर्थ असमर्थ पर शासन करता आया है और अनन्त काल तक शासन करता रहेगा। इसको तुम रोक कब सकते हो ?" (पृ० १४४)। अपने सामर्थ्य भर यह मनुष्य (या पशु) किसानों पर अत्याचार करता है; उसे उचित और न्यायपूर्ण ठहराता है। क्रोध में वीणा पर भी हाथ उठाने में वह नहीं झिझकता। फिर भी उसके चरित्रबल की महिमा गाते लेखक नहीं अघाता। यही नहीं, दूसरों से बराबर उनको सार्टिफिकेट भी दिलवाता जाता है, जिससे भव्यता में कमी न पड़ने पाए !

पृष्ठ ३ पर पहले परिचय में उनकी सभ्यता और संस्कृति की तारीफ की जाती है। पृ० ४२ पर फिर लेखक कहता है, "तिवारी जी शिक्षित व्यक्ति थे, और शिक्षित से कहीं अधिक सुसंस्कृत।" इसी तरह पृ० १३१ पर—"वे ताल्लुकेदार थे, शिक्षित थे और चरित्रवान थे।" अगर ताल्लुकेदारों को बाबू भगवतीचरण चरित्रवान होने का सार्टिफिकेट न दें तो इस बात पर विश्वास कौन करे ?

आतङ्कवादी मनमोहन उनके लिए कहता है—"काश कि हरेक

आदमी ऐसा ही बन सकता ।" (पृ० ३००)। आतङ्कवादी बेटा प्रभानाथ उनके चरणों पर गिर पड़ता है और कहता है—"आपने मुझे उचित रास्ता दिखला दिया ।" (पृ० ५०२)। लोग उनकी गाली सुनते हैं, फिर भी उनके पैर छूते जाते हैं। "न जाने क्यों, रामनाथ की गाली सुनने पर भी वीणा ने अनायास ही झुक कर रामनाथ के चरण की धूल अपने मस्तक पर लगा ली ।" (पृ० ५०३) जब वह पूजा-घर में बैठे होते हैं तो वीणा "अपना मस्तक देहली पर रखकर" प्रणाम करती है। (पृ० ५२०)

यह सब घिनौना व्यापार इसलिए कि अवध के महापतित ताल्लुक-दारों के प्रति पाठक में सहानुभूति पैदा की जाय। उपन्यास में कोई भी ऐसा पात्र श्री भगवतीचरण वर्मा को नहीं मिलता जिसके चरणों में वह अपनी श्रद्धा उड़ेल सकें। मजदूर आन्दोलन के संगठनकर्ताओं को उन्होंने जितना ओछा करके दिखाया है, उतना ही भव्य और महान् इन राजा साहब को दिखाया है। इससे जाहिर है कि सामन्तवाद की गुलामी उनकी नस-नस में भरी है। यह कला का व्यभिचार है, समाज की प्रगति को रोक कर पुरानी व्यवस्था को दीर्घजीवी बनाने का प्रयत्न है। अहिंसा पर लम्बे लम्बे व्याख्यान देना और जनता के आन्दोलन पर धूल फेंकना इसीलिए है कि पुराने समाज का टूटता हुआ ढाँचा किसी तरह जुड़ा रह जाय।

कौन नहीं जानता कि अवध की उर्वर धरती पर ताल्लुकेदारी व्यवस्था कोढ़ की तरह उसे विकृत किए हुए है। अंग्रेजों के पाले-पोसे हुए ग़दर के ये ग़द्दार आज भी जनता की छाती पर मूँग दल रहे हैं। कौन सा कुकर्म, कौन सा व्यभिचार, कौन सा पाप इनके नाम के साथ नहीं जुड़ा हुआ है ? फिर विद्वत्ता, संस्कृति और ताल्लुकेदार ! इनकी अपार मूर्खता की कहानियाँ आप किसी भी शहर, किसी भी गाँव में सुन सकते हैं। लेकिन इस तमाम पाशविकता की झलक भी आप को "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में न मिलेगी। उसे जान बूझकर छिपाया गया है जिससे जनता का क्रोध इस वर्ग के खिलाफ न उभरे। उसके बदले एक

पशु-दर्शन का निर्माण कर डाला गया है जिससे लोग भूल-भुलैया में पड़कर वर्ग-संघर्ष की सचाई को भूल जाँय।

रामनाथ का पशुवाद और मार्कण्डेय का अहिंसावाद एक ही दर्शन के दो पहलू हैं। रामनाथ अहिंसावाद की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं और उसकी श्रेष्ठता इसी में है कि वह इतना कठिन है। मार्कण्डेय पशुवाद को मानता है और चूँकि पशुवाद इतना प्रबल है, इसीलिए अहिंसावादी व्यक्ति की असाधारण साधना व्यर्थ हो जाती है! लेकिन मार्कण्डेय अच्छी तरह जानता है कि अहिंसा की तमाम दलीलें दिल को खुश करने को हैं; उनसे होना-हवाना कुछ नहीं है। उमानाथ के मुँह से मार्कण्डेय को "सिनिक" कहलाया गया है (पृ० ११२) जो दरअसल सही है। अहिंसा पर व्याख्यान देते समय पिता की आत्मा के आने के बावजूद वह है ऐसा "सिनिक" जो मानव समाज में किसी परिवर्तन की आशा नहीं करता। उमानाथ के सामने वह यही दलील देता है कि क्रान्ति के बाद मज़दूर वर्ग उत्पीड़क हो जायगा। यानी यह विधाता का लेख है कि जैसे बड़े पूँजीपतियों ने अपनी हुकूमत में समाज को गुलामी और शोषण के बन्धनों से जकड़ रक्खा है, वैसे ही मजदूर-वर्ग भी नये समाज में गुलामी और शोषण को कायम रक्खेगा। इस बात का सबूत देने के लिए वह सोवियत संघ पर वही झूठे आरोप लगाता है जिन्हें बीस साल से दुनिया के तमाम पूँजीवादी अखबार लगाते आए हैं। मार्कण्डेय के कम्युनिस्ट-विरोध और सोवियत-संघ पर झूठे आरोपों का मतलब साफ है—यह साबित कर देना कि मज़दूर वर्ग पूँजीपतियों की ही तरह निकम्मा है और वह आज से ज्यादा अच्छी व्यवस्था नहीं बना सकता।

"सिनिक" होने का मतलब है, अपनी निराशा को दार्शनिक रूप देकर उसमें रस लेना। अगर कोई आदमी नई विचारधारा लेकर आता है तो "सिनिक" उस पर सोच विचार करने के बदले पहले से ही "कुछ न होगा" मानकर उधर से मुँह फेर लेता है। देखिए, किस सफाई से मार्कण्डेय "कुछ न होगा" की फिलासफी आपके गले उतारना चाहता है। कहता है—"तुम्हें यह स्मरण रखना पड़ेगा कि दुनियाँ में तुम्हारी

ही भाँति हर एक आदमी का अपना निजी विश्वास है, अपनी निजी भावना है।" (पूँजीपति की भी है, ताल्लुकेदार की भी है, मजदूर की और किसान की भी है। और सब एक ही धरातल पर हैं।) "और यही तुम्हारा निजी विश्वास और निजी भावना दूसरों की नजर में पागलपन है क्योंकि दूसरों के विश्वास और दूसरों की भावनाएँ बिल्कुल दूसरे हैं। और इसलिए तुम्हारी बात ही बेकार हो जाती है, क्योंकि जिस अधिकार को तुम माँग रहे हो, वही अधिकार तुम्हें दूसरों को भी देना पड़ेगा।" (पृष्ठ ५६)

नतीजा यह निकला कि मजदूर को कोई हक नहीं है जो कहे कि पूँजीपति की विचारधारा यानी मुनाफा कमाने का अधिकार गलत है। अगर मजदूर अपनी भावना को सही मानता है तो वह पूँजीपति को भी वही अधिकार दे जिससे वह अपनी भावना पर अड़ा रहे। कैसा सुन्दर मानववाद है, जहाँ मजदूर और पूँजीपति एक घाट पानी पीते हैं, जहाँ दोनों वर्ग-भेद कायम रखते हुए मनुष्यता की खोज में तल्लीन हैं।

पं० रामनाथ तिवारी कहते हैं----"कार्ल मार्क्स ने लिखा और लेनिन ने किया, परिणाम ? रूस में भयानक रक्तपात ! और यहाँ गाँधी ने एक मत बतलाया और परिणाम ? जेल, गिरफ्तारियाँ ! पर वास्तव में क्या होना चाहिए जिससे सब सुखी हो सकें, जो सबों की उलझनों का हल हो ? कोई नहीं बतला सका। आखिर होगा क्या !" (पृष्ठ २२०)

कितनी पते की बातें कहीं हैं तिवारी जी ने ! और इन पर बाबू भगवतीचरण की अपने ही शब्दों में यह टिप्पणी है :

"और तिवारी जी के तर्क ? उनमें गंभीरता थी, उनमें ईमानदारी थी, उनमें सार था।" (पृ० २२०)

लेखक को जनसाधारण में पशुता दिखाई देती है; ताल्लुकदारों में उसे मनुष्यता के दर्शन होते हैं। ताल्लुकदारी मिट रही है; इसीलिये मनुष्यता भी मिट रही है ! उसकी मृत्यु पर आंसू बहाने वाले कलाकार श्री भगवतीचरण वर्मा से हमें पूर्ण सहानुभूति है।

१९४८

नया यथार्थवाद

अप्रैल १६३७ के हंस में स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने लिखा था,"हिंदी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ है। इन्हें यथार्थवाद और छाया-वाद कहते हैं।"

यथार्थवाद हिन्दी साहित्य के लिए कोई अनोखी वस्तु नहीं था। वास्तव में वह जातीय साहित्य के विकास की स्वाभाविक अगली मंजिल था। प्रसाद जी ने ही इसका संबन्ध भारतेन्दु युग के साहित्य से जोड़ा था। उन्होंने लिखा था, "श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ किया था।"

यथार्थवाद की विशेषताओं के बारे में प्रसादजी ने लिखा है, "यथार्थ-वाद की विशेषताओं में प्रधान है 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात'। इसमें स्वभावतः दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्तों के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।"

सामंती संस्कृति में किस तरह उच्च वर्गों की ही प्रतिष्ठा थी और किस तरह इतिहास ने उनकी प्रतिष्ठा को उतार दिया, इसका उल्लेख करते हुए प्रसाद जी ने लिखा है, "किन्तु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उप-स्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवंचनाओं ने पतन में और विवेक दम्भपूर्ण आडम्बरों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राज्य-सत्ता कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया था। और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान दिख-

लाई पड़ने लग गया। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन, और वेदना के अंश प्रचुरता में होते हैं।"

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद यह संघर्ष और तीखा हुआ। वेदना का स्रोत पुरानी, जर्जर सामन्ती समाज-व्यवस्था ही नहीं थी बल्कि सबसे अधिक विदेशी स्वामियों की गुलामी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यथार्थ के इस नए तत्व की ओर लोगों का ध्यान खींचा। अपने निबन्धों और कविताओं में उन्होंने अंग्रेजी राज्य में रहने वाले हिन्दुस्तानियों की दशा का मार्मिक वर्णन किया। राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अंग्रेजी राज्य और भारतीय रूढ़िवाद की आलोचना ही नहीं की, बल्कि यथार्थ जीवन को बदलने के लिए भारतीय जनता को संघर्ष करते हुए भी दिखलाया। सेवासदन में ही उन्होंने एक ऐसी नारी का चित्रण किया था जो प्रचलित रूढ़ियों से संतुष्ट नहीं है और उनके विरुद्ध विद्रोह करती है। प्रेमाश्रम के किसान अपने सम्मान और अधिकारों के लिए जान की बाज़ी लगा देते हैं। फिर भी इन उपन्यासों में सेवासदन और प्रेमाश्रम बनाकर समस्याओं के काल्पनिक समाधान पेश किए गए हैं। निर्मला और उसके बाद के उपन्यासों में प्रेमचंद ने यह समाधान शैली छोड़ दी थी। रंगभूमि और कर्मभूमि के किसान बिना समझौता किए हुए संघर्ष करते रहते हैं। निराला और प्रसाद ने जिस यथार्थवाद को विकसित किया, वह इसी तरह का समझौता न करने वाला यथार्थवाद था।

१९५१

प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ

सन् ३० के बाद हिन्दी-साहित्य में एक व्यापक और बुनियादी परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन अपने आप हुआ था, किसी संगठन द्वारा निर्देश देने पर या उससे संचालित होकर यह परिवर्तन नहीं हुआ। उन सभी लोगों के लिये जो हिन्दी साहित्य का विकास चाहते हैं, यह परिवर्तन ध्यान देने योग्य है।

यह परिवर्तन यथार्थवाद की ओर है।

प्रेमचन्द ने पहले महायुद्ध के समय ही 'सेवा सदन' लिखकर इस यथार्थवाद के लिये जमीन तैयार की थी। पहले महायुद्ध के बाद 'प्रेमाश्रम' लिखकर उन्होंने उस ज़मीन को मज़बूत किया था। सन '२० के असहयोग आन्दोलन के बाद उन्होंने 'रंगभूमि' आदि उपन्यासों में काल्पनिक समाधानों का रास्ता छोड़ कर अपने यथार्थवाद को पुष्ट किया था।

सन् ३० के बाद प्रेमचन्द ने इस यथार्थवाद की परम्परा को और आगे बढ़ाया। इस यथार्थवाद की एक विशेषता यह थी कि उसने अंग्रेजी राज में जनता की यथार्थ दशा का चित्रण करके स्वाधीनता-संग्राम को आगे बढ़ाने में मदद दी थी। उसकी दूसरी विशेषता यह थी कि स्वाधीनता-संग्राम में उसने किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका को उभार कर रखा था।

पूँजीवादी यथार्थवाद और जनवादी यथार्थवाद में यहीं भेद पड़ जाता है। सन् ३० के पहले और बाद को ऐसे अनेक लेखक रहे हैं जो साम्राज्य-विरोध के झंडे के नीचे चले हैं लेकिन असंगत रूप से। उन्होंने अंग्रेजी राज की तो निन्दा की लेकिन अंग्रेजी राज के मददगारों—सामन्ती ताकतों—के बारे में खामोश रहे। जो लोग अंग्रेजी

राज से मोलभाव करते रहे, उनकी नुक्ताचीनी उन्होंने नहीं की।

सन् ३० के लगभग हिन्दी-साहित्य में जिस नये जनवादी यथार्थवाद का विकास हुआ, वह अंग्रेजी राज के सामन्ती सहायकों का पर्दाफ़ाश करता है, वह साहित्य के साम्राज्यवाद-विरोधी पहलू को और मज़बूत करता है और जनता की भूमिका को आगे बढ़ाकर पेश करता है। साथ ही वह उन नेताओं की नुक्ताचीनी भी करता है जो अंग्रेजी राज से समझौता करना चाहते हैं, जो जनता से कहते कुछ हैं और जिनका अमल कुछ और होता है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में भारतीय किसान के देशी शोषकों का यथार्थ चित्र दिया। इसमें उन्होने रायसाहब जैसे नेताओं के दर्शन कराये जिनके वचन और कर्म में एकता नहीं है। 'प्रसाद' ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'तितली' में दिखाया कि ज़मींदार का हृदय-परिवर्तन होने से ज़मीन की समस्या हल नहीं हो सकती। तितली के मुँह से चकबन्दी जैसे ग्राम-सुधारों की नुक्ताचीनी कराके 'प्रसाद' ने उससे कहलाया कि भूमि-समस्या तभी हल होगी जब ज़मीन पर किसान का अधिकार होगा। 'प्रसाद' ने 'तितली' में यह भी दिखलाया कि जो अंग्रेज शासक भारतीय जनता का शोषण करते हैं, वही विलायत में अंग्रेज़ मज़दूरों का भी शोषण करते हैं।

'तितली' का प्रकाशन 'गोदान' से दो साल पहले हुआ था। हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में उसकी भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है।

सन् ३७ में प्रकाशित अपने एक लेख में 'प्रसाद' ने कहा था कि हिंदी में दो धाराएँ मुख्य हैं—एक तो छायावाद दूसरी यथार्थवाद। यथार्थवाद की धारा का सम्बन्ध उन्होंने भारतेन्दु की राष्ट्रीय परम्परा से जोड़ा था और यथार्थवाद की व्याख्या यह कह कर की थी कि वह साहित्य में साधारण मनुष्यों की असाधारणता प्रकट करता है।

'प्रसाद' की व्याख्या कितनी सही थी, यह 'निराला' के 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि रेखाचित्र देखकर समझ में आ जाता है। इन रेखाचित्रों में 'निराला' ने सचेत रूप से 'छोटे' आदमियों का बड़प्पन

दिखाया है। साथ ही बड़े ही कौशल से और व्यंग्यपूर्ण सुन्दर शैली में 'निराला' ने धर्म और राजनीति के उन ठेकेदारों की हक़ीकत बयान की है जो जनता को ठगते थे।

आलोचना के क्षेत्र में रीतिकालीन परम्परा का विरोध करके, साहित्य में लोकमंगल की भावना को एक कसौटी बनाकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस यथार्थवादी परम्परा की सहायता की।

सन् ३० के बाद ग्राम कविता में एक नया उभार आया। यह सबसे सफल और स्पष्ट रूप से बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' की अवधी कविताओं में देखने को मिला। उनका कविता-संग्रह 'चकल्लस' सन् ३३ में प्रकाशित हुआ, जिसने पचीसों नये कवियों को जनवादी साहित्य के मार्ग पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

ये सब घटनाएँ सन् ३६ से पहले की हैं। तब तक प्रगतिशील लेखक-संघ का जन्म न हुआ था। यथार्थवाद का यह विकास अपने आप हो रहा था। यह विकास रीतिकालीन परम्पराओं का विरोध करके और पूँजीवादी यथार्थवाद की सीमाएँ लाँघ कर हो रहा था। इससे ज़ाहिर होता है कि नये साहित्य का संगठित विकास करने के लिये ज़मीन तैयार थी।

सन् ३६ के बाद यह परम्परा और आगे बढ़ी। 'निराला' ने 'कुल्ली-भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' जैसे अनूठे रेखाचित्र दिये। पन्त ने 'रूपाभ' में कल्पनालोक से नीचे आकर ज़मीन पर पाँव रखने की घोषणा की। महादेवी वर्मा ने देहाती जीवन के सुन्दर रेखाचित्र लिखे। वृन्दावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र शर्मा, गिरजाकुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, सुमन आदि साहित्यकारों ने जनवादी यथार्थवाद की परम्परा को और आगे बढ़ाया।

आज दूसरे महायुद्ध के बाद, विश्व-शान्ति की ताकतों के अनुपम बटोर के समय, और भारत में जनवादी-आन्दोलन के शक्तिशाली उभार के दिनों में यथार्थवाद की यह धारा और भी प्रबल वेग से बढ़ रही है। यही सबब है कि प्रगति-विरोधी लेखक पहले से ज्यादा बौखला रहे हैं,

वे क्रोध में बदहवास होकर अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं, कोई योग और अध्यात्मवाद की दुहाई दे रहा है, तो कोई फ्रायड और काम-शास्त्र का सहारा ले रहा है, कोई अमरीकी 'व्यक्ति की स्वाधीनता' का नारा लगा रहा है तो कोई 'कला कला के लिये' की रट लगाकर साहित्य की गति रोक लेना चाहता है। लेकिन भारतेन्दु, प्रेमचन्द और निराला की राष्ट्रीय और जनवादी परंपरा दिनोंदिन शक्तिशाली होती हुई आगे बढ़ती ही जाती है।

फिर भी यह सत्य है कि हमारे साहित्य को जनता की जैसी सेवा करनी चाहिये और आज की गरीबी और बेकारी की हालत में भी जैसी सेवा वह कर सकता है, वह नहीं कर पा रहा है। प्रेमचन्द के बाद कथासाहित्य में किसानों और मज़दूरों का जैसा भरापूरा चित्रण होना चाहिये था, वह नहीं हुआ। कविता को जिस तरह जनता के कंठ में बस जाना चाहिये था, शुक्ल जी के बाद आलोचना को जिस तरह सामन्ती संस्कार खत्म करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर आगे बढ़ना चाहिये था, वह सब नहीं हुआ। इसके कारण जहाँ बाहरी परिस्थितियों में हैं—प्रकाशन में इजारेदारी बढ़ना, रद्दी विदेशी पुस्तकों की आमद, शिक्षापद्धति का सुधरने के बदले और बिगड़ना, आर्थिक संकट वगैरह–वहाँ उसके कारण हमारी अपनी समझ में भी हैं। यहां संक्षेप में उनका जिक्र करना असंगत न होगा।

(१) बहुत से लेखक अब भी यह समझते हैं कि जनता का चित्रण न करके, शहरी मध्यवर्ग के आस पास मँडरा कर वह महान् साहित्य रच सकते हैं। वे प्रेमचन्द को जातीय परंपरा का निर्माता नहीं समझते, बल्कि एक अद्भुत लेखक समझते हैं, जो एक बार किसी कारण से हो गया, लेकिन जिसकी परंपरा के आगे बढ़ने के मानों ऐतिहासिक कारण नहीं हैं। अगर देश की आबादी का बहुसंख्यक भाग साहित्य से बाहर रहेगा तो उससे साहित्य कमजोर ही होगा। वह दरअसल जनता की सेवा न कर सकेगा, वह प्रेमचन्द की परंपरा को आगे न बढ़ा सकेगा।

इसलिए साधारण जनता की तरफ़ से लेखकों की उदासीनता खत्म होनी चाहिये।

(२) जो लोग मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं, वे अक्सर सेक्स की समस्याओं में उलझ जाते हैं। वे मध्यवर्ग को देश की विशाल जनता से अलग करके देखते हैं। वे उन समस्याओं का चित्रण नहीं करते जिनसे किसानों और मज़दूरों की तरह मध्यवर्ग भी परेशान है।

इसलिये मध्यवर्ग का चित्रण यथार्थवादी ढंग से होना चाहिये; इस चित्रण का मतलब असफल प्रेम या सफल व्यभिचार का चित्रण न होना चाहिये।

(३) कुछ लेखक जनता का नाम तो लेते हैं, लेकिन ठोस चित्रों के बदले हवाई लफ़्फाजी करते हैं। उनकी रचनाओं में जनता अपने को पहचान नहीं पाती; उनमें उन वीरों के चित्र नहीं होते जिन्हें देख कर पाठक अपने जीवन को भी वैसा ही बनाने की कोशिश करें।

इसलिए साहित्य में हवाई लफ़्फ़ाजी बन्द करके जनता का ठोस चित्रण करना चाहिए।

(४) अनेक लेखक यह समझते हैं कि वे एकदम नए सिरे से एक नए साहित्य को जन्म देने जा रहे हैं। इसलिए वे पिछले साहित्य की तरफ अवज्ञा, उदासीनता और अज्ञान का रवैया अपनाते हैं। वे हिन्दी साहित्य की जातीय विशेषताओं को नहीं पहचानते और इसलिए उन्हें विकसित नहीं कर पाते।

इसलिए पिछले साहित्य की तरफ अवज्ञा का दृष्टिकोण न अपना कर उससे सीख कर आगे बढ़ने का दृष्टिकोण अपनाना लाभकारी होगा।

(५) "वैज्ञानिक" आलोचना के नाम पर मध्यकालीन हिंदी-साहित्य की भोंड़ी नुक्ताचीनी भी देखने में आती है। ऐसे लेखक साहित्य के रूप और विषयवस्तु में भेद नहीं कर पाते। शेक्सपियर में हैमलेट सामन्त कुल का दिखाई दिया, रामायण में राम राजा दशरथ के बेटे दिखाई दिये—बस, लेखक सामन्तवाद का पोषक करार दे दिया गया! ये

लोग साहित्य और समाज के विकासक्रम में धार्मिक रूपों के अन्दर छिपी हुई ऐतिहासिक विषयवस्तु नहीं पहचानते, इसलिये धार्मिक रूपों को ही मुख्य मानकर उन पर टूट पड़ते हैं और पिछले जनवादी लेखकों को प्रतिक्रियावादी करार दे देते हैं।

इसलिए प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए धार्मिक रूपों को ऐतिहासिक विषयवस्तु—जनवादी भाव-विचारों—से उलझा देने पर हम अपनी विरासत से ही हाथ नहीं धो बैठते, बल्कि उसे प्रतिक्रिया-वादियों को सौंप कर उनके हाथ भी मजबूत करते हैं। इस तरह की "वैज्ञानिक" आलोचना के बन्द होने में ही कल्याण है।

(६) अनेक लेखक कला के प्रति उदासीन रह कर साहित्य को प्रभा-वशाली बनने से रोकते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि लकड़ी का खिलौना बनाने के लिए भी थोड़ी बहुत शिक्षा की जरूरत होती है। साहित्य रचने के लिए भाषा सीखने, कहानी उपन्यास या पद्य रचना का कौशल सीखने की तरफ वह ध्यान नहीं देते। उनके अन्दर यह अराजकता की भावना काम करती है कि यह कौशल अपने आप आ जायगा। खास तौर से भाषा की तरफ लापरवाही हमारे प्रगतिशील लेखकों का आम दोष है। यह दोष दूर करके ही हम अपने साहित्य को प्रभावशाली बना सकेंगे।

(६) कला के नाम पर हमारे यहाँ तरह तरह के 'प्रयोग' हो रहे हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है कि इनके सामने सुन्दर कला के अच्छे नमूने रहे ही नहीं! ये प्रयोगवादी सज्जन कला की दुहाई देकर घोर कलाहीन रचनाएँ करते हैं और इस तरह हिन्दी साहित्य की कला-संबंधी परंपराओं को ठुकराते हैं। हमें लोकप्रिय कला चाहिये, चन्द प्रयोगवादियों की कलाहीन विकृतियाँ नहीं। लोकप्रिय कला के विकास के लिये हमारे पास सूर, तुलसी से लेकर प्रेमचन्द तक की पर्याप्त सामग्री मौजूद है।

(८) हमारे साहित्य का विकास हमेशा विचारधारा के संघर्ष द्वारा हुआ है। पिछले दिनों छायावादी कवियों ने जिस तरह रीतिकालीन परं-परा का विरोध किया था, वह इसका प्रमाण है। आज भी जो लोग

साहित्य को अध्यात्मवाद की तरफ खींच ले जाना चाहते है, जो कला के नाम पर निरुद्देश्य रचना का समर्थन करते हैं, जो प्राचीन विरासत के नाम पर साम्प्रदायिक प्रचार करते हैं, जो साहित्य में अश्लीलता और व्यभिचार के चित्र देकर लोगों को गुमराह करते हैं, उनका विरोध करके ही हमारा साहित्य आगे बढ़ सकता है।

(९) हिन्दुस्तान का प्राचीन इतिहास धर्मों के संघर्ष का इतिहास नहीं है, वह सुखी स्वाधीन जीवन के लिए जनता के संघर्षों का भी इतिहास है। अनेक लेखक ऐतिहासिक कथाओं के नामपर नस्लवाद का प्रचार करते हैं, रंगीन कामोत्तेजक चित्र खींचते हैं या साम्प्रदायिक प्रचार करते हैं। यह इतिहास को तोड़ना मरोड़ना है, जनता के वीरतापूर्ण इतिहास को ठुकराना है। सही दिशा की ओर निराला के 'प्रभावती', वृंदावन लाल वर्मा के 'लक्ष्मीबाई' आदि उपन्यास संकेत करते हैं। इतिहास से राष्ट्रीय स्वाधीनता और जनवादी जीवन के लिये संघर्षों की सामग्री लेकर हमारा साहित्य और भी प्रेरणादायक बन सकता है।

(१०) हिन्दी-साहित्य देश की सबसे बड़ी जाति हिंदी भाषी जाति का साहित्य है। वह भारतीय जनता के अन्तःकरण की वाणी है। उसने महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पूरी की है। भारतेन्दु के समय में ही उसने साम्राज्यवादी लुटेरों के युद्धों का पर्दाफाश किया था। दो विश्व-युद्धो के बीच प्रेमचन्द की वाणी—स्वाधीनता और शान्ति की वाणी—तमाम शोषकों और आतताइयों के लिये चुनौती रही है। हमारा साहित्य निरुद्देश्य साहित्य नहीं है। वह शान्ति, स्वाधीनता, जनतंत्र और जातीय संस्कृति का साहित्य है। सचेत रूप से संगठित होकर हमें उसकी इस सोद्देश्य परंपरा की रक्षा करनी चाहिये और यह भ्रम दूर करना चाहिए कि हर तरह का साहित्य जनता की सेवा करता है। हमें साहित्य के जातीय चरित्र की रक्षा करने और उसे पुष्ट करने के लिये हमेशा तत्पर रहना चाहिए।

१९५३

साहित्य की जातीय परम्परा और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद

साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की रक्षा संकुचित राष्ट्रवाद की भावनाओं से नहीं हो सकती। प्रेमचन्द और निराला जैसे साहित्यकारों ने अपने देश और साहित्य की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए दूसरों से सीखने-समझने और इस तरह अपने साहित्य को समृद्ध करने पर हमेशा जोर दिया है।

वास्तव में हमारी भाषाओं और संस्कृति की जनवादी परंपराओं को दबाया किसने है ? उनको दबाकर उन पर एक विदेशी भाषा और पश्चिम की गिरी हुई पूँजीवादी संस्कृति लादी किसने है ? यह काम ब्रिटिश साम्राज्य का है। इस साम्राज्यवाद से मुक्ति पाये बिना हमारी संस्कृति पूरी तरह फलफूल नहीं सकती। इसलिए जो लोग भी अपनी जातीय संस्कृति का विकास चाहते हैं, अपने साहित्य के जातीय चरित्र की रक्षा करना चाहते हैं, वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भी विरोध करते हैं।

इस ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके भाईबन्दों ने हिन्दुस्तान को ही गुलाम नहीं बनाया, एशिया और दुनिया के और देशों को भी गुलाम बनाया है, सिर्फ हमारी भाषा और संस्कृति को नहीं दबाया है, औरों की भाषा और संस्कृति को भी दबाया है। इसलिए दुनिया के साम्राज्यवाद के खिलाफ जो विभिन्न देशों की जनता लड़ती रही है, हमारी जनता भी उसी का एक हिस्सा है। हमारा स्वाधीनता-संग्राम विश्व-जनता के साम्राज्य-विरोधी संग्राम का एक हिस्सा है।

सन् १९१७ के पहले विश्व-साम्राज्यवाद ने दुनिया का अटूट घेरा डाल रखा था। साम्राज्यवादी ताकतें आपस में लड़ती थीं लेकिन जनता की लड़ाई के खिलाफ सब एक हो जाती थीं। सन् '१७ से इस घेरे को

रूस की महान् समाजवादी क्रान्ति ने तोड़ा। उस क्रान्ति में भारतीय जनता की सहानुभूति रूसी किसानों और मजदूरों के साथ थी। उस क्रान्ति ने यहाँ की जनता और साहित्यकारों को किस तरह प्रभावित किया, किस तरह स्वाधीनता और जनतन्त्र के लिये संघर्ष में आगे बढ़ने की प्रेरणा को और मजबूत किया, यह हम 'प्रेमाश्रम' जैसी रचनाओं में देख सकते हैं। कांग्रेस के नेताओं ने भी एक ज़माने में सोवियत रूस और सोवियत क्रान्ति का अभिनन्दन किया था। सोवियत रूस से मित्रता हमारी राष्ट्रीय और जनवादी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गयी है।

सोवियत क्रान्ति के तुरन्त बाद से ही साम्राज्यवादी प्रचारकों ने एक नया मन्त्र पढ़ना सीख लिया था। जिस गुलाम देश में भी आजादी के लिए लड़ाई होती थी, उसके लिए वे बोल्शेविकों को जिम्मेदार ठहराते थे। उन्होंने अपने उपनिवेशों की पराधीन जनता के सामने बोल्शेविज्म का हौवा खड़ा किया। उसे यह भय दिखाया कि अगर वह अंग्रेजी शिकंजे से मुक्ति चाहेगी तो वह हौवा उसे खा जायगा। गुलाम देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों को कुचलने के लिये उन्हें कम्युनिस्ट आन्दोलन, रूस के एजेण्टों का आन्दोलन वगैरह कहना फैशन हो गया। सन्' १९ में खुद अंग्रेजों ने पंजाब की जनता पर जो अत्याचार किए थे, उनके खिलाफ जब लोगों ने विरोध प्रदर्शित किया तो उन्होंने उसे भी बोल्शेविकों की करामात बतलाया। लेकिन हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-प्रेमी पत्रकारों ने इसका मुँहतोड़ जवाब दिया।

सोवियत-विरोधी प्रचार उपनिवेशों की जनता के खिलाफ साम्राज्यवादियों की कूटनीति और दमन का एक अंग है। उनकी कोशिश थी कि थोड़े से टोड़ियों की मदद से स्वाधीनता आन्दोलनों को कुचलें, स्वाधीनता आन्दोलन में दरार डालें, उसे दूसरे आन्दोलनों से मिलने न दें, सोवियत रूस की विजयी जनता से उसे प्रेरणा हासिल न करने दें और इस तरह अपनी लूट-खसोट और दमन के राज को बरकरार रखें। साम्राज्यवादी प्रचारकों ने हमारे साहित्यकारों को यह पाठ पढ़ाना शुरू किया कि अगर तुम लड़भिड़ कर जीत भी गये तो उससे फायदा क्या

होगा, देखो रूस में जनता लड़ी लेकिन वह तुमसे भी बदतर जिन्दगी बिता रही है, न उसे खाने-पहनने को है न आजादी मिली है। नतीजा यह कि ब्रिटिश कामनवेल्थ में चैन से बंसी बजाओ और आये दिन लाखों की तादाद में अकाल और महामारी के शिकार हो जाओ।

सोवियत-विरोधी प्रचार एक नक़ाब है, जिससे साम्राज्य-विरोधी अपने पाप और अनाचार को ढकते हैं। हिन्दुस्तान से वह कितनी दौलत लूट कर ले जा रहे हैं, यहाँ के कितने लाख नौजवानों का खून वह अपना साम्राज्य कायम करने और उसकी हिफ़ाजत करने में बहा चुके हैं, यह सब छिपाने में सोवियत-विरोध काम आता है। उपनिवेशों की जनता से साम्राज्यवादी कहते हैं, हमारा विरोध मत करो, हम तो तुम्हें आजादी देना चाहते हैं; विरोध करो सोवियत रूस का जो तुम्हारी आजादी छीनना चाहता है।

इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय, दोनों ही पैमानों पर चलने वाले स्वाधीनता-आन्दोलनों को कुचलने और उनमें फूट डालने में यह सोवियत-विरोधी प्रचार काम आता है। इसलिए जो लेखक इस प्रचार का पर्दाफाश करते हैं और सोवियत जनता से दोस्ती मज़बूत करते हैं, वे अपने देश की सेवा करते हैं, अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को मज़बूत बनाते हैं और तमाम दुनिया की साम्राज्य-विरोधी लड़ाई को आगे बढ़ाने में मदद देते हैं।

'महाजनी सभ्यता' नाम के प्रसिद्ध लेख में दुनिया भर के पूँजीवादी प्रचारकों की असलियत ज़ाहिर करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था— "महाजन इस नई लहर के प्रति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी, वह इन सब की घातक, गला घोंट देने वाली बताई जा रही है। उस पर नये नये लांछन लगाए जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंगों में रंगी जा रही हैं, कुत्सित-से-

कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से, जो पैसे वालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है; पर सचाई है, जो इस सारे अन्धकार को चीर कर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।"

प्रेमचन्द सच्चे देशभक्त थे, इसीलिए वह ऊँचे दर्जे के अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भी थे। वह अपनी जनता से प्रेम करते थे, इसलिए दूसरे देशों की जनता से उन्हें सहानुभूति थी। वह अपने देश में पराधीनता और अन्याय के खिलाफ़ लड़ते थे। इसलिए दूसरे देशों में पराधीनता और अन्याय पर विजय पाने वाली जनता का जी खोल कर अभिनन्दन भी करते थे। अपने जीवन-काल में निकलने वाले 'हंस' के आखिरी अङ्क में उन्होंने सोवियत-मैत्री हिन्दी लेखकों को वसीयत के तौर पर दी थी।

'महाजनी सभ्यता' नाम के लेख में एक देशभक्त की सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता, तमाम दुनिया की ग़रीब और कामकाजी जनता से उसका सच्चा भाईचारा ज़ाहिर होता है। प्रेमचन्द ने देखा था कि मनुष्य-समाज दो हिस्सों में बँटा हुआ है—"बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं।" प्रेमचन्द इन मरने खपने वालों के साथ थे, उनके साहित्यकार थे, इसलिए वह दुनिया में मेहनत करने वाली जनता के पहले समाजवादी राष्ट्र सोवियत रूस का जयघोष करने वाले साहित्यकार थे।

प्रेमचन्द इस बात से भयभीत नहीं थे कि सोवियत रूस की सभ्यता विदेशी है, इसलिए उससे हमारी जातीय संस्कृति नष्ट हो जायगी। वह दुनिया की महाजनी सभ्यता के मुकाबले में एक नयी संस्कृति का सूरज उगते देखकर खुश थे, क्योंकि उसने दूसरों को लूटने और गुलाम बनाने वाली सभ्यता के मुकाबले में लोगों के सामने एक नया आदर्श रखा था। सोवियत संस्कृति में उन्हें मानव-संस्कृति का अगला विकसित रूप दिखाई देता था। इसलिए उन्होंने लिखा था,—"जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों

के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति-भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे। जनसाधारण को बहकावेंगे, उसकी आँखों में धूल झोंकेंगे, पर जो सत्य है, एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।"

सन् ३६ के दिनों में यूरोप की फासिस्ट ताकतें सोवियत रूस पर हमला करके उसे गुलाम बनाने की तैयारी कर रही थीं। ये ताकतें न सिर्फ रूस की दुश्मन थीं बल्कि दुनिया के और देशों को भी गुलाम बनाना चाहती थीं। जापान चीन को हड़पना चाहता था, इटली अबीसीनिया को और हिटलर तमाम दुनिया को। प्रेमचन्द शान्ति चाहने वाले साहित्यकार थे। वह युद्ध की आग सुलगाने वाले फासिस्टों के साथ नहीं थे। प्रगतिशील साहित्य भी दुनिया में शान्ति और देशों में परस्पर समानता और भाईचारे का सिद्धान्त लेकर आगे बढ़ा। उसने दुनिया के शान्ति-प्रेमी लेखकों का साथ दिया। यह हिन्दी साहित्य की शान्ति-प्रेमी परम्परा के लिये कोई नयी चीज़ नहीं थी। भारतेन्दु-काल ही में हिन्दी लेखकों ने साम्राज्यवादी युद्धों की निन्दा की थी और अपनी आज़ादी के लिए अंग्रेजों से लड़ने वाले देशों की जनता का समर्थन किया था।

दूसरों की आज़ादी छीनने के लिए अंग्रेजों के छेड़े हुए युद्धों की निन्दा करते हुए "सारसुधानिधि" ने लिखा था—"ये महासमर यज्ञ अँगरेजों के निज उद्योग से ही हुआ है। इसी को कहते हैं, 'बैठे बैठे चुल्ल' देखिए, अँगरेज खासे सुख में बैठे हुए हैं, इनको किसी प्रकार का और किसी विषय का अभाव नहीं है, इनका धनमाल राज्य इतना है कि उसका अन्त नहीं है, पर तो भी एक जंगली की कुटी के लिए महासंग्राम का क्या प्रयोजन है? जुलू लोग बराबर से अँगरेजों के अनुगत थे। पर इन लोगों का लोभ ऐसा ही प्रबल हो गया है। और प्राधान्य का गर्व हो जाने के कारण औरों की स्वाधीनता और औरों का प्राधान्य इनका चक्षुशूल हो गया है······। इस महा-नरमेघ का कारण निः-

सन्देह एक-मात्र राजलोभ ही है। इस नर-हत्या का क्या पाप नहीं है ? यदि पाप है तो किसको पाप होगा ?"

इसी अन्तरराष्ट्रीयता को निबाहते हुए प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन ने विश्व-शान्ति और स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली जनता का साथ दिया था। इसलिए प्रगतिशील साहित्य न सिर्फ अपनी जनता के स्वाधीनता आन्दोलन का समर्थक था, वह साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए लड़ने वाले अन्य देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों का भी समर्थक था। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और देशों में परस्पर समानता और भाईचारे का समर्थक साहित्य है।

१९५२

भविष्य से भय

आज से लगभग पचास साल पहले रची हुई कविताओं की भूमिका में स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था—"कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है।" और—"कविता के लिए अपने देश की बात, अपने देश के भाव और अपने मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहाँ ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या, इससे उसे तुकबन्दी ही कहना ठीक है।"

गुप्तजी की कविता-पुस्तक की आलोचना करते हुए स्वर्गीय श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने लिखा था—"विशेष बात यह है कि यह कवि भारतवर्ष का कवि है, दुखी, भूखे-भारत का तुकबन्द है। दिल्लगी के दालान में, श्रद्धा-शोभा के शृंगार में, वा स्तुति के सुमनोराज्य में वह भारतवर्ष से भाग कर आकाश में नहीं टँग जाता।"

बालमुकुन्द गुप्त, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और उस समय के और बहुत से साहित्यकार कविता का सम्बन्ध देश की स्वाधीनता से जोड़ते थे। यह गुरुमन्त्र उन्हें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही मिला था। उन्हें यह भय नहीं था कि लोग उन्हें एकांगी कहेंगे और उनका साहित्य स्थायी न होगा। आधुनिक हिन्दी साहित्य में जितने भी यशस्वी कलाकार हुए हैं, किसी की भी रचनाएँ स्वाधीनता के प्रश्न पर तटस्थ नहीं हैं। किसी न किसी रूप में वे पराधीनता से क्षोभ और स्वाधीनता-प्राप्ति की आकांक्षा से अनुप्राणित हैं। भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द, निराला आदि महान् साहित्यकारों में जो शौर्य, जो ज़िन्दादिली और आज के लिए भी जो ताज़गी दिखाई देती है, उसका यही रहस्य है।

प्रगतिशील साहित्य के विरोधी परंपरा और भारतीय संस्कृति की बात अक्सर कहा करते हैं। इनके हिसाब से हिन्दी साहित्य की परंपरा

से स्वाधीनता-प्रेम ग़ायब है। इनके लिए भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्द और निराला या तो हिन्दू संस्कृति का उद्धार करने वाले थे, या सामयिक संघर्षों से दूर रहने वाले शुद्ध कला के उपासक थे। इसलिये इन प्रगति-विरोधी कलाकारों की रचनाओं में ऐसे अशाश्वत विषय नहीं मिलते जैसे भारत की जनता और उसका संघर्ष; उनको अव पुनर्जन्म, या फीरोज़ी ओठों पर बर्बाद जिन्दगी या लुढ़की हुई सुराही ज्यादा शाश्वत विषय मालूम होते हैं।

बालमुकुन्द गुप्त ने कर्ज़न के अत्याचार देखकर अपना अविस्मरणीय शिव शंभु का चिट्ठा लिखा था। क्या पैना व्यंग्य है, क्या सधी और बाँकी ज़बान है, क्या उत्कट देश-प्रेम है! लेकिन आज के प्रगति-विरोधी कलाकार कर्ज़न के उत्तराधिकारी माउंटबैटन, ऐटली या आइजनहोवर पर अपना रोष नहीं प्रकट करते; उनकी कला देश में एक सुखी स्वाधीन जनतंत्र कायम करने के लिए नहीं है। उनकी शब्द-शक्ति और कला हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य को कोसने में खर्च हो जाती है। वे भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में जमीन-आसमान एक कर देते हैं। लेकिन साम्राज्यवाद ने इस संस्कृति के साथ क्या क्या अनाचार किया है—खास कर जातीय संस्कृति को कैसे उसने हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों में बाँटा है, इस बारे में वे खामोश रहते हैं।

प्रेमचन्द्र ने सारा जीवन जनता की सेवा में बिताया। हिन्दुस्तान के किसानों का सुन्दर चित्रण करके उन्होंने हिन्दी-कथा-साहित्य को भारतीय कथा-साहित्य का सिरमौर बना दिया। लेकिन प्रगति-विरोधी साहित्यकार अपने उपन्यासों में जो गहरी अनुभूति दे रहे हैं, उसका संबंध किसानों के जीवन से नहीं है। उसका संबन्ध रीतिकालीन नायिकाभेद के नये संस्करण से है। चोली और साड़ियों के ये कलाकार चाहे जितनी मनोवैज्ञानिक गहराइयों की बात करें, वे शिकार हैं पतित सामन्ती संस्कृति के, जिसमें नारी केवल भोग की वस्तु है और "नायिका" के सिवा और कोई भी हैसियत नहीं रखती।

निराला ने "राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' में प्राचीन वीरों

के नये ओजपूर्ण चित्र दिये। उसने अपने प्रारंभिक जीवन में लिखा था "मेरा अन्तर वज्र कठोर" और वह वज्र की कठोरता उसने अपने काव्य प्रतीकों को भी दी थी। "अलका", "निरुपमा", "देवी", "चतुरी चमार" आदि में उसने जन-साधारण के चित्र खींचकर हिन्दी कथा-साहित्य के यथार्थवाद को और सशक्त किया था। आज भी वह करुणाद्रवित वाणी में पुकार उठता है—

"माँ ! अपने आलोक निखारो,
नर को नरक त्रास से वारो।"

रामराज्य के प्रचारकों की दादुरधुनि पर निराला का यह मेघमन्द्र स्वर युग को एक चुनौती की तरह सुनाई देता है—"नर को नरक त्रास से वारो।"

निराला के ओज, निराला की करुणा के उत्तराधिकारी ये प्रगति-विरोधी नहीं हैं। उनके लिये केवल एक वस्तु ओज पूर्ण है—मृत्यु। उसके भय से वे निरन्तर त्रस्त रहते हैं—अपने लिये, अपनी अर्द्ध सामंती व्यवस्था के लिए, अपनी "शाश्वत" रचनाओं के लिये। उनकी करुणा का एक विषय है—वे स्वयम्। अर्थात् वे स्वयं दयनीय हैं, कभी प्रेयसी से शिकायत करते हैं, कभी किसी "जनतन्त्र" के अमरीकी रक्षक से।

प्रगतिविरोधी इस बात की बड़ी शिकायत करते हैं कि प्रगतिशील लेखकों में दलगत भावना है। लेकिन कौन नहीं जानता कि जिस जमाने में काँग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध कर रही थी, हिन्दी के अनेक लेखक उसके साथ थे। आज उस दल ने साम्राज्य-विरोधी परम्परा छोड़ कर दूसरा रास्ता अपनाया है। इसमें कसूर प्रगतिशील लेखकों का नहीं है। काँग्रेस अगर जनता की संस्था न रहकर अब पदाधिकारियों की संस्था बन गयी है, तो इसमें दोष किसका है ? प्रगतिशील साहित्य के विरोधी जनता से इस बात को छिपाते हैं कि वे स्वयं ऐसे दलों के साथ हैं जिन पर से जनता की आस्था मिट रही है। वे इसका गुस्सा उतारते हैं प्रगतिशील लेखकों पर। लेकिन यह समय ऐसा है कि हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-आन्दोलन की बागडोर पूँजीपति वर्ग और काँग्रेसी नेतृत्व के

हाथ से छूट गयी है। उसी के अनुरूप साहित्य के क्षेत्र में प्रतिक्रियावादियों की साख उठती जा रही है। नित्यप्रति प्रगतिशील साहित्य को कोसने का यही कारण है। उन्हें भविष्य से डर लग रहा है।

१९५३

संकीर्णतावाद

जनता के बढ़ते हुए असंतोष से कुछ महान् कलाकार बुरी तरह डर गये हैं। उनके लिए प्रगतिशीलता के सिद्धान्त तब तक ठीक थे जब तक जनता खुद उन्हें अमल में लाने के लिए आगे नहीं बढ़ रही थी। लेकिन आज इस जनजागरण को देखकर उनके हृदय में उत्साह नहीं होता बल्कि पस्ती छा जाती है। मुहर्रमी सूरत बनाकर वे चारों तरफ निराशा का राज्य देखते हैं और जनता के प्रति अपनी विश्वासघाती उदासीनता को वे असंबद्ध वाक्यों से ढँक रखना चाहते हैं।

संकीर्णतावाद किसे कहते हैं? अपनी सांस्कृतिक विरासत को भुला देना, अपने साहित्य की जनवादी परंपरा से इन्कार करना, जनता के जीवन-संघर्ष से उदासीन होना—यही सब संकीर्णतावाद है। जो साधारण जनता की जिंदगी में सौंदर्य नहीं देखता, उसके लिए प्रेमचंद ने कहा था, "यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है।" सौंदर्य का स्रोत जनता है। समाज में उदीयमान और मरणशील तत्वों के सतत संघर्ष से बाहर सौंदर्य की सत्ता नहीं है। जो प्राणवान है, उदीयमान है, उसी का गुण है सुन्दरता। जो मरणशील तत्त्वों में सौंदर्य देखते हैं, उनकी संकीर्ण दृष्टि उन वर्गों का अनुकरण करती है जो दूसरों को सताते हैं और जिनका पतन आरंभ हो गया है। हिन्दी-साहित्य की विशेषताओं में उसकी एक विशेषता जनता की तरफदारी, जनता से निकट संपर्क भी है। भारतेन्दु ने "कविवचन-सुधा" में लेखकों से हिन्दी और ग्रामीण भाषा में भी जनता के लिए साहित्य रचने को कहा था। बालमुकुन्द गुप्त के लिए पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने ठीक लिखा था कि "यह कवि भारतवर्ष का कवि है, दुखी, भूखे भारत का तुकबंद है।" प्रेमचन्द्र ने लिखा था कि उनकी श्रेष्ठतम कृतियों का ध्येय भी स्वाधीनता-प्राप्ति होगा।

जनता का पक्ष लेने का सिद्धांत हमारे साहित्य की जातीय परंपरा बन गया है। उसे पैरों से ठुकराना ही संकीर्णतावाद है।

लाख गरीबी और बदहाली के बावजूद हिन्दी-साहित्य में व्यंग्य और जिंदादिली की कमी नहीं रही। यह जिन्दादिली शैली की विशेषता भी है या इसका मनुष्य के जीवन से भी संबंध है ?

हिन्दी लेखकों में व्यंग्य—और हिंदी में व्यंग्य-लेखकों की कैसी शानदार परंपरा है ! भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमचंद, प्रसाद (हाँ, प्रसाद; "तितली" में बीरू बाबू का चित्रण मिसाल के लिए काफी है), निराला, अमृतलाल नागर, बलभद्र दीक्षित पढ़ीस, नागार्जुन, शंकर शैलेन्द्र आदि, आदि-- इन लेखकों का व्यंग्य अन्याय और अत्याचार के प्रति क्षोभ और घृणा से पैदा हुआ है। यह व्यंग्यपूर्ण शैली हमारी विरासत का हिस्सा है। यह उन लोगों की रचना है जो जनता से उदासीन नहीं रहते, नफरत नहीं करते, उसके साथ हँसते हैं, उसकी राह के रोड़ों को व्यंग्य की ठोकर से साफ कर देते है। जिन्हें जनता में विश्वास नहीं, जो तटस्थतावाद के हामी हैं, उनकी शैली देख लीजिये; उन्ही की तरह बेदम, पस्त और निकम्मी। संस्कृत के भारी-भरकम शब्दों के कड़े-छड़े पहनने पर भी उसकी सुन्दरता में बाल बराबर बढ़ती नहीं होती।

कला का स्रोत जनता है। उपन्यास के हीरो मिलते हैं तो जनता से। गीत में तल्लीनता आती है, उदात्त भावना पैदा होती है तो देशप्रेम से, मानवजाति के उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास से। गद्य में जान आती है तो जनता और उसकी संस्कृति में विश्वास से। इसलिए हम किसके लिए लिखते हैं, किस दृष्टिकोण से लिखते हैं, लोकप्रिय शैली में लिखते हैं या कला को इतना दुरूह बना लेते हैं कि दो-चार दोस्त--या परिवार के लोग--ही समझ सकें, ये सब साहित्य के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

साहित्य जनता की वाणी है। उसके जातीय चरित्र का दर्पण है। प्रगति-पथ में बढ़ने के लिए उसका मनोबल है। उसकी सौन्दर्य की चाह पूरा करनेवाला साधन है। हिन्दी-साहित्य भारत की सबसे बड़ी जाति

हिन्दी-भाषी जाति का साहित्य है। उसका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। मध्यकाल के कवियों में तुलसीदास और आधुनिक काल में प्रेमचंद की रचनाएँ हमारी जाति की तरफ से विश्व सस्कृति को भेंट हैं। इस भेंट का महत्व संसार के सब से उन्नत देश और हमारे सच्चे मित्र सोवियत संघ ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया हैं। हमें अपने साहित्य की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परंपरा की रक्षा करनी चाहिए। यह परंपरा जनवादी विचारों की परंपरा ही नहीं हैं, लोकप्रिय कलात्मक सौन्दर्य की परंपरा भी है। हमारे पास सौन्दर्य-बोध की भी विरासत है जिसकी हमें रक्षा करनी चाहिए। कला की तरफ लापरवाही का अंत करना चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लेखक ऐसे हैं जो इतनी जल्दी किताबें लिखते हैं कि आप एक को पढ़ नहीं पायेंगे कि दूसरी तैयार हो जायगी। ये लोग बातें शाश्वत सौंदर्य की करते हैं लेकिन उनकी किताब दूसरी बार भी उठाकर देखने को जी नहीं चाहता। इस लापरवाही का स्रोत भी उनके भावों-विचारों का उथलापन है। उनका दिमाग ज्यादा सोचने की तकलीफ गवारा नहीं करता, उनका दिल बरसाती नाले की तरह जल्दी ही आवेश में आकर रीता हो जाता है। कुछ कवि हिन्दी के मायकोवस्की बनने के इच्छुक हैं लेकिन कविता में हुंकार-फूत्कार करने के अलावा इनके पास कुछ नहीं होता। जब वे गद्य लिखते हैं तो मालूम होता है, पद्य लिख रहे हैं और जब पद्य लिखते हैं तो मालूम होता है, गद्य लिख रहे हैं। कुछ देर तक इनका फूत्कारवाद चलता है, लेकिन जब यह दौर खत्म हो जाता है तो वे सीत्कारवाद शुरू करते है। इनके इन्कलाबवाद की परिणति बहुत जल्दी पस्ती और निराशावाद में हो जाती है। ये लोग अपने से पहले आये हुए लेखकों से कुछ नहीं सीखते। वे समझते हैं कि साहित्य का श्रीगणेश उन्हीं से हो रहा हैं।

संकीर्णता राजनीतिक उद्देश्य लेकर साहित्य लिखने में नहीं है, संकीर्णता है गलत उद्देश्य लेकर लिखने में या उस उद्देश्य को कलात्मक साहित्य का अभिन्न अंग न बना पाने में। संकीर्णता जनविरोधी विचारधाराओं की आलोचना करने में नहीं है, संकीर्णता है साहित्य की जनवादी परंपरा को ठुकराने में, उसे आगे न बढ़ाने में। १९५३

हमारे जातीय कवि तुलसीदास

गंगा-यमुना से सींची हिन्दी प्रदेश की धरती में कवियों और सुधारकों की कमी कभी न रही। ऋग्वेद के ऋषियों से लेकर "प्रसाद" और "निराला" तक हमारी जाति की गौरवमयी काव्य-परम्परा रही है। लेकिन इस विशाल भूखंड के गाँव-गाँव में जनसाधारण के कवि जिस तरह तुलसीदास बन गये, उसकी मिसाल हमारी भाषा में ही नहीं, और कहीं भी मिलना मुश्किल है।

इस भूखंड के बिखरे जनपदों—मिथिला, अवध, ब्रज, बुन्देलखंड, बघेलखंड, मालवा आदि—में आपसी सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए जो भाषा काम में आती थी वह संस्कृत थी। लेकिन वह मुट्ठी भर पण्डितों तक सीमित थी और जनसाधारण की संस्कृति से उसे दूर रखा जाता था। फारसी राजभाषा थी। शासक-वर्ग और पण्डित समुदाय के आधिपत्य को भंग करके तुलसीदास की वाणी दिल्ली से पटना तक और पटना से उज्जैन तक बिखरे तमाम जनपदों को एक सूत्र में बाँधती जन-जन के कंठ में बस गयी।

दस करोड़ जनता को एक सूत्र में बाँधने का यह दृश्य भारत के लंबे इतिहास में अद्वितीय था।

यह काम वह तुलसी ही कर सकते थे, जिन्होंने "बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन" समाज की उपेक्षा और लांछना सहते हुए किसी समय चने के चार दाने को ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष समझ लिया था : 'जानत हौं चारि फल चारिही चनक कौ।' यह वह तुलसीदास थे जिनसे जात-पाँत पूछने के बहाने पण्डित-वर्ग उन्हें त्रस्त करके समाज से भगा देना चाहता था और तुलसीदास ने उन्हें चुनौती देकर लिखा था : "माँगिकै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबेको दोऊ।"

यह वह तुलसीदास थे, जो कठिनाइयों से भागकर बैराग लेना न जानते थे, जो दुष्ट विरोधियों के मान-मर्दन के लिए 'काक कहँहि कलकंठ कठोरा' लिख सकते थे।

पुरुषार्थी तुलसीदास ने अपनी अपूर्व काव्य-साधना का फल राम-चरितमानस इस देश की जनता को भेंट किया। उस पर सारा भारत गर्व करता है, हिन्दी-भाषियों का गर्व तो स्वाभाविक है। तुलसीदास भावों के साथ उदात्त विचारों को भी कविता के लिए अनिवार्य समझते थे।

उनके लिए भावना समुद्र थी, तो बुद्धि सीप जिसमें उत्तम विचारों द्वारा कविता के मोती बनते थे—

'हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जो बरखै बरबारि बिचारू। होहिं कवित मुकुतामनि चारू॥'

तुलसीदास की काव्य-गंगा तमाम जनता का हित करे, यह श्रेष्ठ विचार रामचरित मानस का स्रोत है :

'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥'

और वह अपनी 'भनिति' की तमाम सामग्री इस भू-भाग की जनता से ही जुटाते थे। क्रोधी ब्राह्मण परशुराम, ब्रह्मचर्य-दम्भी नारद जिन्हें वानर का मुँह मिला था, कुटिल मंथरा, रूपगर्विता कैकेयी, कंकन-किंकिन-नूपुर धुनि से फुलवारी गुँजाने वाली सीता—इन सबकी चरित्र-सम्बन्धी विशेषताएँ यहीं से तुलसी को मिली थीं। और भरत (जो त्याग और निस्वार्थ सेवा में तुलसी के ही प्रतिनिधि हैं) क्या हमारी जाति के सबसे उदार, सबसे मानवीय गुणों को लेकर नहीं रचे गये?

जब वह राम को लौटाने चित्रकूट जा रहे थे, उस समय प्रकृति ने उनके लिए जैसा सुखद मार्ग कर दिया, वैसा राम के लिए भी न किया था—

'किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहै बर बात।
तस मग भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात॥'

यही तुलसीदास का मानवतावाद है। निस्वार्थ सेवा मानव-गुणों में

श्रेष्ठ है और यह भक्त को भगवान से भी बड़ा वना देती है।

'मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। रामते अधिक रामकर दासा।'

लेकिन सेवा के माने अन्याय सहना नहीं हैं। तुलसीदास हिंसा और अन्याय के प्रति तटस्थ होते तो रावण के प्रति राम का रुख और ही होता। अन्याय सहने में अक्षम लक्ष्मण तुरंत रोष करते हैं। अधिक धीर राम अन्याय के उनसे भी अधिक विरोधी हैं। चाहे परशुराम हों, चाहे समुद्र, चाहे रावण -सुलह की बात विफल होने पर युद्ध से वह कभी पीछे नहीं हटते।

हिन्दुस्तानी चरित्र की यह विशेपता है। लोग सहते रहते हैं, सहते रहते हैं, सुलह और शान्ति की बात चलाते हैं, लेकिन जब दुश्मन नहीं मानता, तो पूरी शक्ति से उसका मुकाबला करते हैं।

रामचरितमानस हिन्दुस्तानी जाति के श्रेष्ठ गुणों का दर्पण है। जिन दुर्गुणों से उसे घृणा है, उनसे हास्य-व्यंग्य की सामग्री जुटायी गई है। कपट, दंभ, कायरता, स्वार्थपरता आदि से हमारी जाति को नफ़रत है। धीरता, वीरता, न्याय-प्रियता, सहृदयता ये गुण उसे प्रिय हैं।

शूद्र और नारी—क्या ये तुलसी की सहृदयता से वंचित थे ?

'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' कहने वाले केवट को तुलसीदास से पहले किस ने चित्रित किया था ? मानो जान-बूझकर तुलसीदास ने उसकी उपमा लक्ष्मण से दी है—

'करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ॥'

और—

'निरखि निषाद नगर नर-नारी।
भये सुखी जनु लखनु निहारी॥'

और—

'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।'

कहाँ, कौन, किससे यह कहता है ?

समुद्र राम से कहता है। वह जल है; एक जड़ तत्व, जिसे राम की

आज्ञा न मानने पर दंड मिलना चाहिए। वह न ढोल है, न गँवार है, न शूद्र है, न पशु है, न नारी। समुद्र कहता है—

"गगन समीर अनल जल धरनी।
इन्ह कहँ नाथ सहज जड़ करनी॥
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्ही।
मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही॥"

इस चतुरतापूर्ण उक्ति के बाद 'ढोल गँवार' वाली चौपाई किसी ऐसे मस्तिष्क की उपज है, जो स्वयं ताड़न का अधिकारी था। उसके रचयिता तुलसीदास नहीं हैं, जिन्होंने पार्वती के लिए मैना से कहलाया था —

"कत विधि सृजी नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥"

बहुत से सहृदय विद्वान् इस चौपाई का पहला हिस्सा काटकर दूसरे का ही उद्धहरण दिया करते हैं, शायद इसलिए कि नारी-जाति की पराधीनता का स्मरण उन्हें अच्छा नहीं लगता।

और तुलसीदास ने महामारी से पीड़ित लाशों से भरी गंगा भी देखी थी, जीविकाविहीन लोगों को एक दूसरे से पूछते सुना था, कहाँ जायँ, क्या करें।

तुलसीदास ने दरिद्रता के रावण से देश को पीड़ित देखकर लिखा था :—

'दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु,
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।'

तुलसीदास के समय में ही सामन्ती ढाँचा ढीला हो चला था। व्यापारी पूँजी का प्रसार हो रहा था। आगरा और दिल्ली का प्रदेश व्यापार का केन्द्र बन रहा था। बिखरे जनपद एक दूसरे के पास आ रहे थे। तुलसीदास ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों में लिखा, यह बढ़ती हुई जातीय एकता का प्रमाण था। अँगरेज़ आततताइयों ने बढ़ते हुए सामन्तवाद को मजबूत किया, बढ़ती हुई जातीय एकता को छिन्न-भिन्न

करने में कुछ उठा न रखा । इसका उत्तर उन्हें १८५७ में मिला, जब दिल्ली से पटना तक हिन्दुस्तानियों के जातीय विद्रोह से उन्हें लेने के देने पड़ गये । समूचे देश की जातियों में एका न होने से और सामंती ताकतों के विश्वासघात से वह महान् संघर्ष असफल रहा, लेकिन वह संग्राम उन जनपदों के योग्य था जहाँ तुलसीदास की गम्भीर वाणी गूँज चुकी थी ।

तुलसीदास के प्रदेश में विदेशी पूँजी और देशी इजारेदारों के स्वार्थ जनजीवन को त्रस्त किये हैं । हिन्दी प्रदेश के बेटे भूख से बेताब होकर गोलियों के शिकार होते हैं । रोटी और आज़ादी की माँग को पूरी करने के नाम पर उन्हें काले कानून दिखाए जाते हैं । लेकिन जो ढाँचा तुलसीदास के समय शिथिल होने लगा था, आज वह बुरी तरह बोल गया है । कोई ताकत उसकी रक्षा नहीं कर सकती । दरिद्रता का दशानन ज्यादा दिनों तक दुनिया को दबाये नहीं रख सकता ।

तुलसीदास की रचनाएँ हमारी जनता में साहस और आत्मविश्वास भरती हैं । वे उसे अपना भाग्य स्वयं अपने हाथों बनाना सिखाती हैं । तुलसीदास ने जिस न्यायपूर्ण और सुखी समाज की कल्पना की थी, वह एक नए रूप में पूरा होगा । समूचे देश के साथ हिन्दी प्रदेश की जनता भी आगे बढ़ेगी । जातीय एकता के लिए, जिसके अग्रदूत गोस्वामी तुलसीदास थे, दासता और दरिद्रता का अन्त करने के लिए, जिसके विरुद्ध तुलसीदास ने संघर्ष किया था, तुलसीदास की अमर वाणी हमारे साथ है, वह नये भविष्य की तरफ बढ़ने के लिए जनता को बुलावा देती है ।

"देव दनुज भूपति भट नाना ।
समबल अधिक होउ बलवाना ।।
जौ रन हमहिं प्रचारै कोऊ ।
लरहिं सुखेन काल किन होऊ ।।'

राम की यह चुनौती भारतीय जनता की चुनौती है । साम्राज्यवादियों और उनके अनुचरों को उसे याद रखना चाहिए ।

१९५२

हिन्दी लेखक की परिस्थितियाँ

कुछ दिन हुए, एक लेखक-मित्र ने अपने खत में लिखा था--'क्या तुम एक बात खुद महसुस नहीं करते कि साहित्य दिन-ब-दिन सूखा रोग का शिकार होता जा रहा है।'

अपने मित्र की इस बात का जवाब देने के लिए जरूरी था कि प्रेमचन्द के बाद से अब तक के साहित्य पर सरसरी नजर डाली जाय और तब पता लगाया जाय कि हिन्दी-साहित्य में जो मुख्य धाराएँ इधर बहती रही हैं, उनमें कितनी सूख गयी हैं या सूखने पर हैं और कितनी ज्यादा भरी-पूरी होकर धरती को सींचती हुई आगे बढ़ रही हैं।

मेरे यह मित्र एक अखबार के सम्पादक थे। मैंने सुझाव रखा कि इस विषय पर मेरा लेख वह अपने अखबार में छापें। कुछ इन्तजार करने पर उनका जवाब मिला कि उनका अखबार बन्द हो गया है या कम-से-कम उनके हक में बन्द हो गया है क्योंकि उसका होली का विशेषाङ्क छप रहा था मगर---मित्र के शब्दों में "मुझे कोई भी रस्मी तौर पर खबर नहीं मिली---गैर-रस्मी तौर पर भी खास कुछ नहीं जानता। अच्छा मजाक रहा।"

मेरा खयाल है कि इस तरह का मजाक मेरे दोस्त के साथ ही नहीं, आये दिन हिन्दी लेखकों के साथ हुआ करता है। यह घटना हमें यह सोचने पर मजबूर करती है कि आज का हिन्दी साहित्यकार किन परिस्थितियों में जिन्दी बसर करके साहित्यरचना करता है।

हम सब लोग जानते हैं कि दूसरे महायुद्ध के दौरान में ये परिस्थितियाँ बड़ी कठोर हो गईं। हिन्दुस्तान की जनता के साथ हिन्दी लेखकों को भी ऐसी महँगाई, बेकारी और भुखमरी का सामना करना पड़ा है जैसी इस से पहले उन्होंने आमतौर से अनुभव न की थी। महायुद्ध के बाद

हालत सुधरी नहीं बल्कि महँगाई बढ़ती गई और जनता का रहन-सहन गिरता गया। इस बीच में हिंदी लेखकों के लिए यह करीब-करीब नामुमकिन हो गया कि वह सिर्फ साहित्य-सेवा के बलपर रोटी-कपड़े का इन्तजाम भी कर सकें।

पूँजीपतियों के लिए यह परिस्थिति मुहँमागी थी। उन्होंने समाज की जिन्दगी के हर पहलू को अपने शिकंजे में कसना शुरू कर दिया। इस सिलसिले में उन्होंने साहित्य की दुनिया को या साहित्य रचनेवालों को अलग नहीं छोड़ दिया। दिन-पर-दिन वे साहित्य और साहित्यकारों पर अपना नियंत्रण बढ़ाते रहे। इजारेदार पूँजीपति जो अभी तक सीमेंट या सूती कपड़ों के कारबार तक अपना हाथ बढ़ाते रहे थे, अब बड़े-बड़े प्रेसों का इजारा कायम कर बैठे। यह इजारा कायम रखने के लिये जरूरी था कि वे अपनी लेखकों की एक फौज तैयार करें। जिस तरह अपने अंग्रेजी और हिन्दी के दैनिकपत्रों में वे अपनी पूँजीवादी राजनीति का प्रचार करते थे, उसी तरह साहित्य की दुनिया में भी वे अपने वेतनभोगी लेखकों के जरिये ऐसे साहित्य की रचना कराने लगे जो उनके पूँजीवादी हितों का समर्थक हो और आम जनता को फुसलाने, भरमाने और उसे गुलाम बनाये रखने में सहायक हो।

साधारण लेखकों को बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है; उनके लिए यह मुमकिन नहीं है कि पूँजीवादी पत्रों की नीति का विरोध करने वाला साहित्य उन पत्रों में छपवाकर पारिश्रमिक पा लें। सबसे अच्छा पारिश्रमिक उन लेखकों को मिलता है जो सरकारी और गैरसरकारी पूँजीवादी पत्रोंमें उनकी नीति मानकर ऐसी रचनाएँ भेजते हैं जो पूँजीवादी वर्ग का हित साधती हैं। इन कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए स्वाधीन विचारों के हिन्दी लेखक और पत्रकार अपनी ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और अपनी कलम से भरसक जनता की सेवा कर रहे है।

१९४९

हिन्दी लेखक और साम्राज्यवाद

मार्शल योजना क्या है, चीन और यूनान में अमरीकी साम्राज्यवाद कौन से हत्याकांड रच रहा है, डालरशाही के जाल में फँसने से हिन्दुस्तान गुलाम बनेगा या आज़ाद होगा, हिन्दुस्तान की जनता का सच्चा हितैषी सोवियत रूस है या अमरीका--इन तमाम बातों की तरफ हिंदी लेखकों और पाठकों में भ्रम की गुंजाइश कम होती जा रही है। बावजूद इस बात के कि प्रेस पर पूँजीवादी नियन्त्रण है और समाजवाद तथा जनतन्त्र के समर्थन में लिखे हुए लेख भरसक छपने नहीं दिए जाते, हिन्दी के मासिक पत्रों में ऐसे लेख निकल ही आते हैं, खास तौर से उन पत्रों में जो बड़े पूँजीपतियों के कब्ज़े में नहीं हैं, जिनमें अमरीकी साम्राज्यवाद का पर्दाफाश किया जाता है और सोवियत रूस से हमदर्दी ज़ाहिर की जाती है।

इस तरह के लेख, कविताएँ, कहानियाँ लिखने वाले लोग ही प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं। प्रेमचन्द ने पूँजीवादी शोषण पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहा था—'यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमज़ोर को शहज़ोर चूसें। हाँ, रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों में रूस जैसा हो।' (प्रेमचन्द घर में; बनारस : पृ० १४६)।

प्रेमचन्द के लिए सोवियत रूस हौवा नहीं था। वह जानते थे कि सोवियत रूस ही वह देश है जहाँ एक मनुष्य दूसरे का शोषण नहीं कर सकता। 'हंस' के संपादकीय लेखों में उन्होंने सोवियत रूस के प्रति अपना प्रेम और सहानुभूति प्रकट की थी। प्रेमचन्द की परम्परा पर अभिमान करने वाले और उसे आगे बढ़ाने वाले लेखकों का कर्तव्य है

कि वे सोवियत-विरोधी प्रचार का मुँह बन्द करके जनतन्त्र और समाजवाद का साथ दें।

हिन्दी लेखक गर्व के साथ सोवियत क्रान्ति का अभिनन्दन करते हैं। 'रक्ताभ' के संपादक आदित्य मिश्र ने नवंबर '४८ के अङ्क में सोवियत क्रान्ति की वर्षी पर लिखा था---'क्या पर्व मानने के लिए इससे बढ़कर भी मानव-जाति के पास कोई दूसरा दिन आज हो सकता है ?'

'जनवाणी' के संपादक श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने मार्च ४९ के अङ्क में यह साफ-साफ लिखा है कि अमरीकी साम्राज्यवाद लोकप्रिय समाजवादी व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए फौजी गुटबन्दी कर रहा है। रूस और पूर्वी यूरुप की समाज-व्यवस्था के बारे में उन्होंने लिखा है : 'समाजवादी अर्थनीति से चालित इन देशों में कम से कम रोटी, कपड़ा, घर और शिक्षा के लिए जन-साधारण को परेशान नहीं होना पड़ता, इसलिए समाजवादी अर्थनीति लोकप्रिय हो रही है। इस लोकप्रियता के परिणामस्वरूप समाजवाद जन-साधारण में तेजी से घुसता जा रहा है। और यदि उसकी लोकप्रियता इसी तरह कुछ दिन बढ़ती रही, तो सम्पूर्ण यूरुप में वहाँ की जनता के हाथों ही पूँजीवाद का अन्त हो जायगा और यदि यूरुप से पूँजीवाद का खातमा हो गया तो अमरीका और ब्रिटेन अपने यहाँ भी उसकी रक्षा न कर सकेंगे। यही कारण है कि पूँजीवादी अमरीका समाजवादी व्यवस्था को नष्ट कर देने के लिए संबन्धित गुटों के देशों की पूँजीवादी सरकारों को मिलाकर युद्ध का आह्वान कर रहा है।''

इस तरह विनोद जी ने समाजवादी व्यवस्था की लोकप्रियता पर ज़ोर दिया है क्योंकि वह पूँजीवादी संकट को ख़त्म करके जनता को खुशहाल ज़िन्दगी बिताने का मौका देती है। पूँजीवादी देश इस व्यवस्था को अपने लिए खतरा समझ कर उसका नाश कर देना चाहते हैं। यहाँ यह कह देना जरूरी है कि जनवाणी के ऊपर जिन संपादकों के नाम छपते हैं, उनमें से कुछ सज्जन इससे ठीक उल्टी बातें भी करते हैं। उनके लिए जनतन्त्र का सच्चा रूप अमरीका में है और सोवियत रूस

जनतन्त्र का सबसे बड़ा दुश्मन है।

इसलिए जनवाणी में जब इस तरह की बातें छपती हैं तो उसका मतलब यह है कि हिन्दुस्तान की जनता में सोवियत रूस के लिए नफरत पैदा करना एक मुश्किल काम है। नवम्बर '४८ की माधुरी में श्री रामनारायण यादवेन्दु ने 'संयुक्त राष्ट्र और विश्व राजनीति' पर एक लेख लिखा है। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की युद्धनीति का पर्दाफाश करते हुए कहा है : 'योरप में ब्रिटेन की वैदेशिक नीति का मूल-मंत्र है—सोवियत रूस के विरुद्ध पश्चिमी योरुप का मोर्चा खड़ा करना।'

चर्चिल के युद्ध प्रचारक भाषणों के बारे में लिखा है—'इस प्रकार के विषैले भाषणों तथा वक्तव्यों से संसार-भर में एक भारी अशान्ति पैदा हो गई है।'

यूरुप के नये जनतंत्रों के बारे में उनका कहना है—'आज योरप के अधिकांश देशों में साम्यवादी शक्तियों का उदय हो रहा है। सोवियत रूस की विजय का यह एक परिणाम है। इसे अमेरिका व ब्रिटेन रोकना चाहें तो भी नहीं रोक सकते।'

'मार्शल योजना क्या है?' इस नाम के एक दूसरे लेख में उन्होंने अमरीकी पूँजीवाद के आततायीपन का पर्दाफाश किया है। इस बात पर जोर देते हुए कि अमरीकी पूँजीपतियों की तमाम योजनाएँ दुनिया को गुलाम बनाने के लिए हैं, उन्होंने लिखा है, "अमरिका के उद्योगपति यह चाहते हैं कि संसार में उनका आर्थिक साम्राज्य स्थापित हो जाय। वे संसार के व्यापार पर भी एकाधिकार स्थापित कर लेना चाहते हैं। अपना व्यापार संसार में चले और यूरोप एक प्रकार से 'उपनिवेश' बना रहे जिससे अमेरिका के कारखानों का तैयार माल इन देशों में बिके। अप्रत्यक्ष रूप से यूरोप के आर्थिक जीवन पर अमेरिका का आधिपत्य स्थापित हो जाय और इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से भी वह अमेरिका का अनुगामी बना रहे। इस प्रकार मार्शल योजना का उद्देश्य है अमेरिका के व्यापार की अभिवृद्धि, यूरोप में नये बाजार की स्थापना तथा यूरोप

के देशों को राजनीतिक शिष्य बनाकर सोवियट रूस के विरुद्ध खड़ा करना ।"

यह है मार्शल योजना का असली उद्देश्य। अमरीकी उद्योगपतियों का तमाम परोपकार इसलिए है कि वे यूरुप को अपना उपनिवेश बना लें। इस तरह की योजनाएँ सफल बनाने के लिए ज़रूरी होगा कि अमरीकी उद्योगपति दूसरे देशों के अन्दरूनी मामलों में दखल दें।

श्री रामनारायण यादवेन्दु ने यह विश्वास प्रकट किया है कि इस तरह की दखलंदाजी से जनवादी आन्दोलनों को कुचला न जा सकेगा। लिखा है—'यदि अमेरिका यह चाहे कि वह डालर और अस्त्र-शस्त्रों के बल पर संसार की प्रगतिशील विचारधारा अथवा आन्दोलन को कुचल सकेगा तो ऐसा संभव नहीं।'

यूनान में अमरीकी दखलंदाजी के बारे में उन्होंने लिखा है—'ग्रीस में आज कई वर्षों से गृहयुद्ध जारी है। अमेरिकन डालर तथा शस्त्रों की सहायता से वहां आज सरकार कायम है अन्यथा आज वहाँ सच्ची लोकतंत्र-सत्ता का शासन होता।'

यादवेन्दुजी की इस बात से पता चलता है कि हिन्दी लेखकों को अब कम्युनिज्म का हौवा दिखाकर भरमाया नहीं जा सकता, वे जानते हैं कि यूनान का 'गृहयुद्ध' दरअसल अमरीकी साम्राज्यवाद और उसके देशी पिट्ठुओं के खिलाफ यूनान की आम जनता की आजादी की लड़ाई है। चीन और अमरीका के संबन्ध पर उन्होंने लिखा है 'अमेरिका ने चीन पर अपना आर्थिक आधिपत्य जमा लिया है। सन् १९४७ के प्रथम आठ महीनों में चीन में १,०८७,०००,००० (अमेरिकन डालर के मूल्य) का माल आया। इसमें ९० प्रतिशत संयुक्त राज्य अमेरिका से आया था।'

चीन की आर्थिक व्यवस्था को चौपट करने का पूरा श्रेय अमरीकी सेठों को है। उन्होंने चीन को आर्थिक रूप से गुलाम बनाने की कोशिश ही नहीं की, उन्होंने वहाँ फौजी दखलंदाजी भी की है। इसके बावजूद चीन में अमरीका के पिट्ठू बराबर हार रहे है। यादवेन्दुजी ने लिखा है—'अमेरिका द्वारा सहायता मिलने पर भी कोमिन्टांग की पराजय हो रही

है और साम्यवादी सेनाएँ विजय पा रही है। मंचूरिया से रूस ने अपनी सेनाएं सन् १९४६-४७ में ही हटा लीं। परंतु अमेरिका की सेनाएँ आज भी चीन में मोजूद हैं। आज भी चीन में १५४६ सैनिक तथा ४१२५ नौसेना के सैनिक व अफसर मौजूद हैं। वे सरकार के सैनिकों को ट्रेनिंग ही नहीं देते, प्रत्युत सैन्य सचालन भी करते हैं।'

इस फौजी दखलंदाजी के बावजूद च्याङ्शाही खत्म हो रही है। इससे उन लोगों को सबक लेना चाहिये जो अमरीका से 'मदद' लेकर यानी डालरशाही के गुलाम बनकर च्याङ् के रास्ते पर चलने को उतावले हो रहे हैं ।

यादवेन्दुजी ने अपने लेख में चेतावनी दी है कि मार्शल योजना के चक्कर में फँसने से हिन्दुस्तान का भला न होगा । इस सिलसिले में उन्होंने डा० पिल्लो के उस भाषण का जिक्र किया है जिसमें पिल्लो साहव ने अमरीकी मदद के खिए प्रार्थना की है।

पिल्लो के भाषण की कड़ी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है— 'हमारी राष्ट्रीय सरकार के प्रतिनिधि द्वारा इस प्रकार के विचार प्रकट करना वास्तव में भारतीय जनता, किसान-मजदूर-प्रजा, के हितों के साथ बलात्कार करना है।' (विशाल भारत, अगस्त १९४८)

अमरीकी साम्राज्यवाद और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध की समस्या हमारी जनता के जीवन-मरण की समस्या है। अमरीकी सेठों ने जहाँ-जहां चरण रखे हैं, वहां सिवा बंटाढार होने के, सिवा तबाही और भुखमरी के दूसरा नतीजा सामने नहीं आया।

मार्शल योजना और महायुद्ध की तैयारियों के बारे में "नया कदम" (दिल्ली) ने नवंबर '४८ के अंक में लिखा था, "आज जब हम गला फाड़-फाड़कर तीसरे युद्ध की संभावना को झूठा कहने की हरचंद कोशिश कर रहे हैं, तब भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो तीसरी बड़ी लड़ाई और पास लाने का प्रयत्न करते जा रहे हैं। अमरीका उन सबका सरदार है। वह हर बात में रूस का विरोध करता आ रहा है और दोष डालता है रूस के ऊपर। अमरीका के पूँजीपति देख रहे हैं कि दुनिया के हिस्से लाल होते

जा रहे है। उन्होंने देखा कि आदमी को अब पूँजी से दुहा नहीं जा सकता, देशों की जनता का अदम्य उत्साह खत्म नहीं किया जा सकता, तो नयी चाल चली। कम्युनिस्टों और रूस को कुचलने की साजिश करो।"

मार्शल योजना और अमरीकी साम्राज्यवाद का पर्दाफाश करने में 'हंस' और 'विप्लव' ने सबसे ज्यादा हिस्सा लिया है। इन पत्रों ने अमरीकी पूँजीवाद के खूनी रूप को हिन्दी पाठकों के सामने पेश किया है और यह भी दिखाया है कि अमरीकी पूँजीवाद अपने घर में साहित्य और संस्कृति का गला घोंट रहा है। इसके साथ यह भी दिखाया है कि वहाँ के जनवादी लेखक और पत्रकार अमरीकी युद्धनीति का डटकर मुकाबला कर रहे हैं। उनका यह साहसपूर्ण काम दुनिया के और प्रगतिशील लेखकों के साथ भाई-चारा कायम करता है।

युद्ध को रोकने और साम्राज्य-विरोधी मोर्चे के साथ हिन्दुस्तानी जनता का संबंध मज़बूत करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन यह भी है कि हमारे लेखक जनता को विदेश के प्रगतिशील साहित्य से, ख़ास तौर से सोवियत साहित्य से परिचित करायें। चेकोस्लोवाकिया के वीर शहीद जूलियस फ्यूचिक की अमर कृति—'फांसी के तख्ते से'—के हिस्से कई मासिक पत्रों में छपे हैं और उसका पूरा अनुवाद भी छप गया है। गोर्की के समाजवादी यथार्थवाद पर 'हंस' और 'निराला' (आगरा) में लेख निकले हैं। गिरजाकुमार माथुर ने मायकोव्स्की की कविताओं का और अमृतराय ने कुछ सोवियत कहानियों के अनुवाद किये हैं। हंस के नवंबर और दिसंबर के अङ्कों में लेनिन के साहित्य-संबंधी लेख प्रकाशित हुए हैं। सोवियत और हिन्दुस्तान की जनता के बीच नफरत की दीवाल खड़ी करके जो लोग साम्राज्यवादियों के साथ तीसरे महायुद्ध के लिए गुटबंदी कर रहे हैं, उनके लिए इस तरह के साहित्य का प्रकाशन सबसे अच्छा जवाब है।

हिन्दी लेखकों की सहानुभूति साम्राज्य-विरोधी मोर्चे के साथ है।

सोवियत रूस इस मोर्चे में सबसे आगे है। उसके साथ यूरुप के पूर्वी जनतन्त्र हैं और यूरुप और एशिया का महान् जन-आन्दोलन है। साम्राज्यवादी खेमे के पिछलगुए एशिया के जन-आन्दोलन से घबरा उठे हैं। प्रगतिशील लेखक उसका अभिनन्दन करते हैं। एशिया का जन-जागरण पूँजीवाद को किस तरह चुनौती दे रहा है, इस पर गिरजा-कुमार माथुर ने लिखा है :

'ये शोषण के सब रक्तयंत्र,
तेरे ही अन्तिम काल बने।
जो जाल बिछाए थे तूने,
तेरी फाँसी के जाल बने॥
बढ़ रहे चरण पर कोटि चरण,
अब क्रान्ति सैन्यदल सजता है।
प्रतिक्षण उठती जनवाणी का,
बादल-दल आज गरजता है॥

* * *

ओ मनुज-दासता के प्रहरी,
ये देख दुर्ग जलता तेरा।
धू-धू जलते हैं अस्त्र-शस्त्र,
जल कर गिरता जंगी घेरा॥
मुड़ गये समय के चपल चरण,
उठ पड़ा क्रांति का महाज्वार।
लो संघशक्ति की खंग उठी,
होता है अब अन्तिम प्रहार॥'

इसी तरह 'नयी आग है' नाम की कविता में सुमन ने एशिया के क्रान्तिकारी आन्दोलन का स्वागत किया है। एक तरफ तो जन-आन्दोलन का यह जयघोष है, दूसरी तरफ पूँजीवादी कलमनवीसों का विलाप है कि हाय, चीन गया, वियतनाम गया, वर्मा गया और पता नहीं कब हिन्दुस्तान चला जाय ! उनके इस स्यापे पर 'रक्ताभ' (नवंबर-दिसंबर

४८) में एक व्यंग्यपूर्ण लेख निकला है (महामहंत की डायरी) जिसमें कहा गया है : 'संस्कृत साहित्य में सीता-विलाप, अज-विलाप, दशरथ-विलाप, दमयन्ती-विलाप, और भी अनेक विलाप सुन पड़े थे—पर इस राजनीतिक विलाप के आगे सब ऐसे लगते हैं—जैसे तस्वीरों में विलाप छापा जाता है। अब विलाप की ध्वनि, उसका सुरताल सब एक साथ देखिए—विलाप का उद्देश्य है—विश्वास हम पर करो। हम अगर असमर्थ हैं, तो पूरा देश लँगड़ा है। देश के रिश्वतखोर सेठ, मिल मालिक, राजा, राजप्रमुख तालुकेदार, जमींदार हमारे खंभे हैं। इन पर प्रहार मत करो। विश्वास करो कि ये भी बड़े मजबूत और देशी खंभे हैं।'

एशिया के जन-आन्दोलन से पूँजीवादी नेताओं के घबड़ा उठने का सबब यही है। हर जगह ये खंभे गिर रहे हैं। इन्हें डर है कि हिंदुस्तान में भी वे लड़ाखड़ाकर ढेर न हो जायँ। इसलिए जनता की रोटी-रोजी की माँगों को दवाया जाता है, जनवादी अखबारों का मुँह बन्द किया जाता है, लेखकों को नजरबन्द किया जाता है और नागरिक अधिकारों को शान्ति और अहिंसा के नाम पर पैरों तले रौंदा जाता है।

प्रेमचन्द ने स्वराज्य के बारे में लिखा था कि स्वराज्य का मतलब जॉन की जगह गोविन्द को बिठाना नहीं है। उन्होंने कहा था : 'हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्या-चारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल क़ागजा के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।'

कुछ विचार (पृष्ठ २४)।

पूँजीवादी दमन और हिंसा के खिलाफ आवाज उठाना, नयी समाज-व्यवस्था बनाने के लिए जनता में आत्म-विश्वास पैदा करना प्रेमचन्द की परम्परा को निबाहना है।

१९४९

कार्य-कारण सम्बन्ध

वैज्ञानिक भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए राहुल जी ने बौद्ध-दर्शन से पायी हुई अपनी अवैज्ञानिक धारणाओं को कायम रखा है, इसलिए न तो वह साफ-साफ पुराने दर्शन से मार्क्स के दर्शन का गुणात्मक अन्तर बता सके और न उन अवैज्ञानिक धारणाओं से भौतिकवाद के चित्रण को बचा सके। उदाहरण के लिए कार्य-कारण के बारे में उनकी धारणा वही है जो बौद्धों की रही है और जिससे मार्क्स के द्वन्द्ववाद का अन्तर है।

कारण की व्याख्या वह इस प्रकार करते हैं—"कारण वह वस्तु (घटना प्रवाह) है, जो कि नियमपूर्वक किसी परिवर्तन के तुरन्त पूर्व मौजूद (कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति) था" (वैज्ञानिक भौतिकवाद पृ० ७६)।

यहाँ पर 'तुरन्त पूर्व' पर जोर देकर उन्होंने कार्य और कारण को—एक दम और हर परिस्थिति के लिए—विच्छिन्न कर दिया है जब कि प्रकृति और सामाजिक जीवन में इससे उल्टा भी होता है।

वह मार्क्सवाद और उससे पहले के भौतिकवाद में गुणात्मक अंतर किस तरह नहीं दिखा पाये, उसकी एक मिसाल यह है—

"भौतिकवादियों को पिछले सत्ताईस सौ वर्षों में याज्ञवल्क्य से लेकर हिटलर तक—जो गालियाँ सुननी पड़ीं है, वह इसीलिए कि वह इस दरिद्रता और अन्याय से भरी दुनिया की गलत सलत व्याख्या नहीं करना चाहते हैं, बल्कि बदलाने में लग जाते हैं।" (वैज्ञानिक भौतिकवाद पृ० ३८)

सभी भौतिकवादी दुनिया को बदलने में लगे रहे हैं, उन्हीं में एक मार्क्स भी था! मार्क्स ने तमाम पिछले दर्शनों का सार लेते हुए भी एक आमूल नया दर्शन रचा जो सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी दर्शन है, यह

कहने के बदले वह मार्क्स को बुद्ध से शुरू होने वाली शृङ्खला की एक नई कड़ी भर बना देते हैं। मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका को भुला कर ही ऐसी बात कही जा सकती है। यह उसी धारणा की उपज है जिसके अनुसार आधुनिक वैज्ञानिक युग की काफी कारण-सामग्री ५वीं-६वीं सदी में ही मौजूद थी।

इसी तरह यह कहना कि "परिवर्तन-शासित (क्षणिक) वाद को अधिक विकसित कर उसे एक साइंस का रूप देने का भारी श्रेय मार्क्स-वाद को बहुत हद तक जरूर है, किन्तु यह सिद्धान्त बहुत पुराना है।" (उप० पृष्ठ २०)।

क्षणिकवाद कितना वैज्ञानिक था, हम देख चुके हैं। मार्क्स को उसे 'साइंस' का रूप देने का भारी श्रेय 'बहुत हद तक' जरूर है! मानव-इतिहास में मार्क्सवाद के युगान्तकारी अवतरण की यह विशेषता है।

इसी तरह हेगल और मार्क्स के अन्तर के बारे में वह लिखते हैं—

'द्वन्द्ववाद प्रकृति का अभिन्न स्वरूप है, इसे उसने (हेगल ने) पहचाना और स्वीकार किया किन्तु जब विचार के आनन्द में विभोर हो वह इस अपने महान् आविष्कार को कागज पर लिख कर साटना चाहता था तो वह प्रकृति की जगह 'विज्ञान' (अ—भौतिक तत्व) पर सट गया, यों कहिये देवताओं का अमृत गलती से राहुकेतु के मुख में पड़ गया, लेबिल ठीक जगह लगा दीजिये, सब काम बना बनाया है। मार्क्स ने यही किया।' (उप० पृ० ५६)

इस तरह द्वन्द्ववाद को एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में विकसित करने का श्रेय मार्क्स को नहीं है। हेगल ने सारा काम पहले ही कर दिया था, मार्क्स ने जो भी किया वह सिर्फ लेबिल बदलना ही था। यहाँ पर हेगल के द्वन्द्ववाद के बारे में मार्क्स की उक्ति को स्मरण करना गलत न होगा।

"मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हेगल से मूलतः भिन्न ही नहीं है, वरन् उससे नितान्त विरोधी दिशा में है।" (कैपिटल खंड १, एलन और अनविन, पृ० ३०)

इसे राहुल जी कहते हैं, सिर्फ लेबिल बदलना।

यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि राहुल जी ने अपने मोटे ग्रंथ "दर्शन-दिग्दर्शन" में मार्क्सवाद पर दो पन्ने भी नहीं लिखे और यह कह कर टाल दिया है कि उस पर वह स्वतन्त्र पुस्तक लिख रहे हैं। स्वतन्त्र पुस्तक वह बौद्ध-दर्शन पर भी लिख रहे थे, या लिख चुके थे, उसे "दर्शन-दिग्दर्शन" में जगह देने की क्या आवश्यकता थी?

यह भी आकस्मिक बात नहीं है कि 'दर्शन-दिग्दर्शन' में १८वीं सदी के भौतिकवादी-दर्शन की चर्चा चन्द सफों में खत्म कर दी गई है।

और लेनिन और स्तालिन? आधुनिक विश्वदर्शन इनकी रचनाओं का कितना आभारी है, वैज्ञानिक भौतिकवाद को उन्होंने किस तरह विकसित और समृद्ध किया है, राहुल जी ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया है। इसलिए पतनशील पूँजीपति वर्ग के आदर्शवादी दर्शन से संघर्ष करने में लेनिन की पुस्तक 'मैटिरियलिज़्म और एम्पिरियो क्रिटिसिज्म' और स्तालिन के अमूल्य लेख 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' ने कौन सी ऐतिहासिक भूमिका पूरी की है, उसकी चर्चा भी राहुल जी के ग्रंथों में नहीं मिलती।

वास्तव में उनके लिये एकमात्र दर्शन है, बौद्धदर्शन! वैज्ञानिक भौतिकवाद की लोकप्रियता से लाभ उठा कर उन्होंने उसके साथ बौद्ध दर्शन को भी जोड़ दिया और वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम पर वह बुद्ध और नागार्जुन की—और कुछ अपनी भी—अभौतिकवादी धारणाएँ पेश करने लगे।

१९५०

सापेक्षतावाद

आदर्शवाद और भौतिकवाद की अपनी अपनी खामियों को दूर करके उनका समन्वय करने की कोशिश में राहुल जी इस बात की खोज़ में रहते हैं कि आदर्शवाद के स्थायी भाव कौन से हैं जिनका भौतिकवादी रस में परिपाक किया जाय। आदर्शवाद का ऐसा ही एक मूल्यवान स्थायी भाव सापेक्षता का सिद्धांत है।

सापेक्षता के बारे में वह लिखते हैं—

"विज्ञानवाद में यदि कोई सचाई हो सकती है, तो यही सापेक्षता है, जो कि सभी ज्ञानों पर लागू हैं।"

(दर्शन–दिग्दर्शन पृ० ३५८)

इस धारणा के अनुसार आदर्शवाद (विज्ञानवाद) हमें एक ऐसी सचाई देता है, जो सभी ज्ञानों पर लागू होती है। सापेक्षता वह परम-ज्ञान है जिसके सामने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिक वाद आदि साधारण ज्ञान हेय है। सापेक्षता का यह परम ज्ञान जो सच्चिदानन्द ब्रह्म के समान ज्ञान के नाना रूपों में विद्यमान है—आदर्शवाद की देन है। तब आदर्शवाद से संघर्ष करने का सवाल कैसे उठ सकता है? उसे तो ममता से गले लगाना चाहिए जिसने ज्ञानों का ज्ञान, यह परम ज्ञान सापेक्षता हमें दिया है।

इस सापेक्षता का पता सबसे पहले बौद्ध दार्शनिकों ने लगाया था। उसके बाद आधुनिक युग में वैज्ञानिक आइन्सटाइन भी उस परिणाम पर पहुँचे। हज़ार साल से ऊपर की अवधि में राहुल जी के अनुसार, "सापेक्षतावाद" अपनी अजेयता घोषित कर चुका है। लिखते हैं:—

"विश्व में क्षणिकता और निरन्तर गति के सिद्धांत के मानते ही हमें किसी न किसी रूप में सापेक्षतावाद पर पहुँचना होगा, जैसा कि

बौद्ध-दर्शन अन्त में नागार्जुन के सापेक्षतावाद पर पहुँचा, यद्यपि वह रचनात्मक की जगह ध्वंसात्मक, वास्तविक की जगह काल्पनिक ज्यादा था। आइनस्टाइन का सापेक्षतावाद भी विश्व की क्षणिकता, निरन्तर गति का ही परिणाम है।" (उ० पृ० ५१-५२)

नागार्जुन के तार्किक होने में कोई कसर नहीं थी। इसलिए वह सापेक्षतावाद के सही परिणाम पर पहुँचे थे–यानी शून्यवाद पर! राहुल जी उसे ध्वंसात्मक कह कर टाल देते हैं, उसकी अनिवार्य तर्क-शृंखला को नहीं देखते जो ध्वंसात्मक अथवा अभाववादी परिणाम के अलावा हमें और कहीं पहुँचा नहीं सकती। जब सब कुछ सापेक्ष है, तब निरपेक्ष सत्य की बात ही कैसे उठेगी? जो जिसको भाये, वही उसके लिये सत्य है या फिर यह मान लो कि सत्य कह कर कोई चीज नहीं।

यूरोप में माख, अवेनारियस, आदि का संप्रदाय भी सापेक्षतावादी था। इनके बारे में लेनिन ने लिखा था—

"माख, अवेनारियस और पेटजोल्ट घोषित करते हैं—हम सापेक्षतावादी हैं। श्री चर्नोव आदि कुछ रूसी माखवादी और नामधारी मार्क्सवादी प्रतिध्वनि करते हैं—हम सापेक्षतावादी हैं। हाँ श्रीमान् चर्नोव और साथी माखवादियो, यही तुम्हारी भूल है। क्योंकि सापेक्षतावाद को ज्ञान की थ्योरी का आधार बनाने का मतलब है, लाजमी तौर से अपने को पक्के संदेहवाद. अज्ञेयतावाद, और वितंडावाद या अहंवाद (सब्जेक्टिविज्म) के गड्ढे में ढकेलना।"(मैटिरियलिज़्म एंड एम्पिरियो क्रिटिसिज्म, पृ० १३५)

वैज्ञानिक भौतिकवाद मन की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर न रहने वाले भौतिक जगत् की सत्ता मानता है। इसलिए इस भौतिक जगत् का सत्य भी मन की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं है। भौतिकवादी निरपेक्ष सत्य स्वीकार करता है। द्वंद्ववाद में सापेक्षता का एक अंश मौजूद है, इसलिये कि मनुष्य एकबारगी समूचे भौतिक जगत् के सत्य को नहीं पा लेता। लेकिन द्वंद्ववाद निरपेक्ष सत्य के सापेक्ष अंशों को एकत्र करता है और इस प्रकार वह विज्ञान और ज्ञान को सदा परिवर्द्धनशील

मानता है। इसीलिए वह सापेक्षतावाद का पर्यायवाची नहीं है।

राहुल जी सापेक्षतावाद को सभी ज्ञानों पर किस तरह लागू करते हैं, इसकी एक तगड़ी मिसाल "विश्व की रूप रेखा" में मिलती है। देश-काल सापेक्ष हैं या निरपेक्ष ? वे मनुष्य की कल्पनाएं हैं या उसकी इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर न रहने वाली स्वतंत्र सत्ता के रूप हैं ?

राहुल जी कहते हैं :—

"काल पर विचार करते वक्त हमारा ध्यान उसे एक स्वतंत्र सत्ता मानने की ओर इतना उतावला रहता है, कि हम इस पर जरा भी ध्यान नहीं देते कि देश और काल—परिवर्तन को नहीं लाते, बल्कि परिवर्तन उनका जन्मदाता है।"

(विश्व की रूपरेखा, पृ० ६१)

राहुल जी उन लोगो से खफा हैं जो देश और काल को निरपेक्ष और स्वतन्त्र मानते हैं। ये लोग शायद यह साबित करना चाहते हैं कि देश और काल परिवर्तन को जन्म देते हैं। राहुल जी इनको मुँहतोड़ जवाब देते हैं। उतावले लोगो, देश और काल परिवर्तन को जन्म नहीं देते बल्कि परिवर्तन देशकाल को जन्म देता है।

सवाल को पेश करने का ढंग यह है—कौन पहले था, देशकाल या परिवर्तन ?

अगर कोई कहता है कि देशकाल ने परिवर्तन को पैदा किया तो उसका मतलब यह है कि परिवर्तनहीन स्थिर देश और काल की सत्ता भी थी। स्थर देशकाल की ऐसी कल्पना ब्रह्मवाद में ही हो सकती है।

इसके बदले यह कहना कि परिवर्तन देशकाल को जन्म देता है, और भी मनोरंजक है। देशकाल के बिना भी परिवर्तन—ऐसा परिवर्तन, जिस के बारे में आप पूछ नहीं सकते कि कब होता था, कहाँ होता था, क्योंकि देशकाल से भी पहले से है ! ! आप यह भी नहीं पूछ सकते कि देशकाल को जन्म देने से पहले किस चीज का परिवर्तन होता था क्योंकि बिना देशकाल के नाचीज ठहरेगी कहाँ और कैसे ?

देशकाल के बारे में लेनिन का कहना था—"देश और काल को

मानवीय धारणा सापेक्ष है लेकिन इन सापेक्ष धारणाओं से ही मिलकर निरपेक्ष सत्य का निर्माण होता है।"(मेटीरियलिज्म ऐन्ड एम्पीरियोक्रिटिसिज्म, पृ० १७७)

इस द्वंद्ववादी पद्धति से देशकाल की व्याख्या न करके राहुल जी परिवर्तन को ही देशकाल का जनक साबित कर देते है।

निरपेक्ष सत्य से इनकार करने का सबब यह कठिनाई है कि अनित्य जगत् में कहाँ बैठकर निरपेक्ष सत्य को ढूंढ़ा जाय। यहाँ सभी कुछ तो चलायमान है। मन चलायमान है; बुद्धि भी चलायमान है; लेखनी चलायमान है, कागज़ भी चलायमान है। फिर अक्षर की सत्ता भी क्या भ्रम नहीं है?

"काल की सत्ता सिद्ध करने के लिये पृथिवी का घूमना हमारा मान-दंड है। उस वक्त हम यह ख्याल नहीं करते कि सूर्य भी घूम रहा है, तारे भी घूम रहे हैं, आकाश गंगा भी घूम रही है, विश्व भी घूम रहा है; फिर ऐसी स्थिति में किसी एक चीज के घूमने का परिणाम सापेक्ष ही मिल सकता है, परमार्थ घूमना मालूम करना असंभव है।

ऐसे घूमने से परमार्थ काल (एबसोल्यूट टाइम) की कल्पना कभी युक्तिसंगत नहीं हो सकती।"

इससे जाहिर है कि राहुल जी निरपेक्ष गति की जानकारी को ही असंभव मानते हैं। जैसा कि लेनिन ने कहा था—जो सापेक्षतावाद को ज्ञान की थ्योरी का आधार मानते हैं, वे अज्ञेयवाद के गड्ढे में जा गिरते हैं।

युग और काल वास्तविक हैं या काल्पनिक, यह है, असली सवाल जिसका सीधा जवाब देने में राहुल जी वैसे ही कतराते हैं जैसे डूयरिंग कतराता था। एंगेल्स ने डूयरिंग को किस तरह भौतिकवादी कसौटी पर कसा था, इसके बारे में लेनिन के ये वाक्य इस समस्या पर हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं--

'एंगेल्स ने असंगतिपूर्ण और उलझे हुए भौतिकवादी डूयरिंग का

पर्दाफाश करते हुए, उसको वहीं पकड़ लिया है, जहाँ वह समय की धारणा (आइडिया) में परिवर्तन की बात करता है (एक ऐसा सवाल जो एकदम भिन्न भिन्न दार्शनिक धाराओं के कुछ भी महत्व रखने वाले दार्शनिकों के लिए बहस की चीज नहीं रह गया) लेकिन इस सवाल का सीधा जवाब देने से बचता है कि देशकाल वास्तविक है या काल्पनिक और देशकाल की हमारी सापेक्ष धारणाएं सत्ता के वस्तुगत रूप से वास्तविक रूपों के निकट पहुंचते हैं या वे विकासमान, संगठनशील और सामंजस्य-जनक मानव मस्तिष्क की पैदावार भर है ?…एंगेल्स ने ड्यूरिंग के सामने वास्तविकता का सिद्धान्त पेश किया है जिसे आमतौर से हर भौतिकवादी मानता है और जो हर भौतिकवादी के लिए स्पष्ट है यानी समय की वस्तुगत वास्तविकता और एंगेल्स का कहना है कि देशकाल की धारणाओं में परिवर्तन की बात कह कर ही कोई इस सिद्धान्त को सीधे स्वीकार या अस्वीकार करने से बच नहीं सकता।" (मेटिरियलिज्म एंड एंपिरियोक्रिटिसिज्म, पृ० १७७)

लेनिन के अनुसार कोई भी भौतिकवादी देशकाल की वस्तुगत वास्तविकता से इन्कार नहीं कर सकता। राहुल जी का कहना है कि निरपेक्ष काल की कल्पना ही युक्तिसंगत नहीं है। जाहिर है उनका सापेक्षतावाद या अज्ञेयतावाद वैज्ञानिक भौतिकवाद से कोसों दूर है।

सापेक्षतावाद का परम ज्ञान कितना हास्यास्पद है, इसकी एक मिसाल 'विश्व की रूप रेखा' में यह है :—

'मस्तिष्क जिसका जितनी ही तेजी से काम कर रहा होता है, उतना ही उसे काल ज्यादा बीता हुआ मालूम होता है—बुखार में आदमी को घड़ी भर का समय युग-युग जैसा जान पड़ता है।' (पृ. ६१)

सापेक्षतावाद का यह चरम रूप दरअसल बुखार में गाफिल दिमाग की ही उपज है। ऐसे महान् विचारक के मुकाबले में घड़ी नामक यंत्र ही निरपेक्ष ज्ञान के ज्यादा निकट है।

अगर समय की वास्तविकता तेज काम करने वाले या बुखार में परेशान दिमाग पर निर्भर हो तो कोई विश्वास के साथ कह ही न सके

कि दिन-रात में २४ घंटे हुए, न कि १६ या ४८। राहुल जी का सापेक्ष-तावाद किस तरह मनुष्य के व्यवहार और अनुभव का पग-पग पर खंडन करने की बेकार कोशिश करता है, उसकी यह एक सुन्दर मिसाल है।

१९५०

जीव-अजीव

राहुल जी के अनुसार मन के बारे में बौद्धों और वैज्ञानिक भौतिक-वादियों की धारणाएँ मिलती जुलती हैं। वह लिखते हैं—

"मन भौतिक तत्त्व है, या उससे पृथक् इसका भी उत्तर हम दोनों का एक सा है। हम भी तुम्हारी तरह उत्तर को सीधे हाँ या 'नहीं' में नहीं देना चाहते। मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है, ऐसा होने पर उसके विचित्र गुणों, चेतना-क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नये गुण देखे जाते हैं जो पहले भौतिक तत्त्वों में मौजूद न थे; इसलिये भौतिक तत्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है कि उसे बिल्कुल ही अलग तत्त्व माना जाये।"

(विश्व की रूपरेखा, पृ० ३६७)

रवीन्द्रनाथ की कविता में सूरदास की प्रेयसी की तरह—आछो काछे तभू आछो अति दूर—मन भौतिक तत्वों के पास भी है और दूर भी है। न हियों में न शियों में; न भौतिक, न अभौतिक। जब मन ही मँझधार में है तब उसकी तमाम खोजबीन, मनन-चिन्तन, सिद्धान्त-रचना मध्य-मार्गी क्यों न होगी?

राहुल जी ने मन के आगे ब्रैकेट में मस्तिष्क लिख कर दोनों को एक माना है। मन का अर्थ जहाँ चेतना या विचार है, जैसे "मन चंचल न करो" में, वहाँ उसे हम कोई भौतिक तत्त्व नहीं कहते। लेकिन राहुल जी यहाँ मस्तिष्क की बात कर रहे हैं जिसका गुण चेतना है। यह मस्तिष्क भौतिक है या अभौतिक, इस बारे में मार्क्सवादियों ने कभी हाँ-ना दोनों में उत्तर नहीं दिया।

राहुल जी के अनुसार भौतिकवादी जीव को (आत्मा के अर्थ में

नहीं बल्कि जीने वाले पशु, मनुष्य आदि के अर्थ में) भौतिक मानता है। इसमें कुछ कमी रह गई।

ब्रह्मवादी जीव को अभौतिक चेतना रूप मानता है (हालाँकि वह उसे शायद तत्त्व न कहेगा)। इसमें भी कमी है।

इन दो विरोधी बातों का समन्वय इस बात में हुआ कि जीव भूत नहीं हैं, अलग चेतना भी नहीं है। वह भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नया अभौतिक अनात्मवादी तत्त्व है।

जीव-अजीव के बारे में वह दूसरी जगह लिखते है :—

"अजीव के विकास का अन्त कहाँ होता है और जीव का विकास कहाँ आरंभ होता है, उसके देखने की हमारी आँखों में शक्ति नहीं, हो भी नहीं सकती, वस्तुतः वह सीमा है भी नहीं।"

(विश्व की रूपरेखा, पृ० १५०-५१)

यह और भी खूबसूरत है। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसरी। यहाँ वाद-संवाद का विवाद ही नहीं रहा। यह है शुद्ध ब्रह्मवाद, जीव-अजीव में कोई भेद नहीं। इसलिए हमारी आँखों में उसे देखने की न तो शक्ति है, न हो सकती है। कहना चाहिए कि जीव-अजीव का भेद माया है और जिन आँखों को दोनों का भेद दिखाई देता है, वे माया में फँसी हुई है।

मार्क्स ने साफ लिखा :—

"हमारी चेतना और चिन्तन चाहे जितने अतीन्द्रिय मालूम पड़ें, वे हैं एक भौतिक, दैहिक इन्द्रिय, मस्तिष्क की उपज।" लेनिन के अनुसार–

"चिन्तनशील भूत से चिन्तन को अलग करना असंभव है।"

"विश्व की तस्वीर इस बात की तस्वीर है कि भूत कैसे गतिशील है और कैसे चिन्तनशील है।"

मार्क्स और लेनिन के इन वाक्यों से यह बात साफ हो जाती है कि मस्तिष्क भौतिक है। उसकी भौतिकता में कोई शक नहीं है; दूसरे पदार्थों से अन्तर है, गुणों में और वह इसलिये कि वह भूत का अत्यन्त विकसित रूप है। मस्तिष्क के भौतिक होने पर चिन्तन की व्याख्या नहीं हो सकती, ऐसा वे लोग कहते हैं जो चिन्तन और प्रकृति में अन्तर्विरोध

देखते हैं। वैज्ञानिक भौतिकवादी के लिये भौतिक और मानसिक संघटन (फिनौमेना) परस्पर-विरोधी न होकर एक ही प्रकृति और मानव-समाज के दो रूप हैं।

इसलिये मस्तिष्क को भौतिक तत्वों से "ना नेरे ना दूर" कहना मध्यमार्गी दर्शन की निशानी है।

मस्तिष्क की तरह राहुल जी "जीव" की भी व्याख्या भौतिक-अभौतिक के समन्वय से करते हैं। इस प्रकार :—

"१) वाद—जीव भूत है ;

२) प्रतिवाद—जीव भूत नहीं, बिल्कुल अलग चेतन तत्त्व है;

३) संवाद—जीवन भूत है, न अलग तत्व है, बल्कि वह भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नया तत्व है।"

(वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० १३)

वैज्ञानिक आजकल इस बात का पता लगा रहे हैं कि जीव-अजीव की सीमा कहाँ है। इस प्रश्न को मानकर ही वे उसका उत्तर दे सकते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान में समस्या को अस्वीकार करने से उसका हल नहीं निकला करता। राहुल जी का तर्क है—मूँदहू आँखि कतहुँ कोउ नाहीं।

१६५०

आधुनिक विज्ञान की कारण-सामग्री

बौद्ध दर्शन की व्याख्या करते हुए राहुल जी ने बताया है कि वह मध्यमार्गी दर्शन है; न वह भौतिकवाद को मानता है, न आत्मवाद को, इसलिये वह अभौतिकवादी अनात्मवाद कहलाता है।

राहुल जी ने वैज्ञानिक भौतिकवाद को क्षणिकवाद का ही विकसित रूप कहा है। देखना चाहिए कि मध्यमार्ग का घोर विरोधी यह मार्क्स-एंगेल्स का दर्शन उस मध्यमार्गी दर्शन का ही विकसित रूप कैसे है।

पहली बात जो राहुल जी की रचनाओं में बड़े मार्के की मिलती है, वह यह कि १९ वीं सदी में यूरोप में वैज्ञानिक भौतिकवाद का निर्माण उनके लिये इतिहास की एक आकस्मिक घटना है, कहना चाहिए कि इतिहास हम भारतवासियों को चरका दे गया वरना यूरोप से तेरह सौ साल पहले ही हम भारतवासी वैज्ञानिक भौतिकवाद का निर्माण कर सकते थे। यह इसलिये कि जिन तत्वों से यूरोप के नये "वैज्ञानिक युग' का निर्माण हुआ है, उनकी "कारण सामग्री" हिन्दुस्तान में ईसा की पाँचवी या छठी सदी में ही मौजूद थी।

अपनी पुस्तक "वैज्ञानिक भौतिकवाद" में राहुल जी लिखते है :—

"वस्तुतः प्रयोग और सिद्धान्त के बिना कोई साइंस–सम्बन्धी-आविष्कार नहीं हो सकता। साधारण प्रयोगों से सीखते तथा मानसिक तौर से विकसित करते भारतीय विद्वान् ईसा की पाँचवीं छठी सदी में वहाँ पहुँच गये थे, जहाँ आधुनिक वैज्ञानिक युग आरंभ होने की काफी सामग्री मौजूद थी; किन्तु भारतीयों ने अलबरूनी द्वारा उद्धृत आर्यभट्ट (४७३ ई०) के निम्न सूत्र को भुला दिया और वह पिछड़ गये" इत्यादि।

(वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० १०३)

एक सूत्र भुला देने की वजह से आधुनिक संसार का क्रांतिकारी दर्शन—सर्वहारा वर्ग का अमोघ अस्त्र वैज्ञानिक भौतिकवाद—भारतवा-

सियों के हाथ से निकल गया जब कि वे मार्क्स से तेरह सौ साल पहले उसे हस्तगत कर सकते थे। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि मार्क्स और और एंगेल्स द्वारा रचे जाने और लेनिन द्वारा विकसित किये जाने पर २० वीं सदी में भी यह वैज्ञानिक दर्शन आर्यभट्ट के कुछ उत्तराधिकारियों के पल्ले नहीं पड़ा।

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "ऐंटी-डूयरिंग" में एंगेल्स ने बताया है कि समाजवाद किसी प्रतिभाशाली दिमाग की आकस्मिक उपज नहीं है बल्कि "ऐतिहासिक रूप से विकसित दो वर्गों सर्वहारा और पूंजीपति के संघर्ष का लाजमी नतीजा है।" (पृ० ४४)

इसके समर्थन में उन्होंने लियों शहर में १८३१ में होने वाली हड़ताल, १८३८ से १८४२ के बीच में इंगलैंड के मजदूरों के चार्टिस्ट आन्दोलन आदि का जिक्र किया है। इन बढ़ते हुए संघर्षों ने इतिहास की आदर्शवादी धारणाओं पर बारबार चोट की और लोगों को सोचने पर मजबूर किया कि मानव-समाज का समूचा इतिहास, आदिम समाज को छोड़ कर, वर्ग-संघर्षो का इतिहास है। प्रारंभिक समाजवाद के अधूरेपन का जिक्र करते हुए एंगेल्स ने उसके सामाजिक आधार का खुलासा किया। उनका कहना है कि "पूंजीवादी उत्पादन की अपरिपक्व मंजिल और अपरिपक्व वर्ग-स्थिति के अनुकूल ही अपरिपक्व सिद्धान्त-रचना भी हुई।" (पृ० ३२८)

मार्क्स ने औद्योगिक पूंजीवाद के विकास और पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के तीखे होते हुए वर्ग-संघर्ष की ऐतिहासिक परिस्थितियों में वैज्ञानिक समाजवाद की रचना की। इसके लिये उन्होंने जर्मनी के हेगेल-दर्शन, इंगलैंड के अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवाद का सार लेकर उसे एक नयी सतह पर विकसित किया जिससे कि उनका समाजवाद पिछली चिन्तन-सामग्री का सारग्रहण करते हुए भी उससे बिल्कुल अलग है।

जहाँ तक वैज्ञानिक उपकरणों का सम्बन्ध है, एंगेल्स ने बताया है

कि द्वंद्ववाद (डायलेक्टिक्स) को विकसित करने के लिये तीन महत्त्व-पूर्ण वैज्ञानिक अनुसंधानों ने जमीन तैयार की थी। पहली तो "सेल" की खोज; दूसरी "एनर्जी" के परिवर्तन की खोज और तीसरी डार्विन की विकासवाद–संबंधी खोज। ये सब अनुसंधान १६ वीं सदी में हुए थे। ईसा की पाँचवीं-छठी सदी में कौन से वैज्ञानिक अनुसंधान हुए जिनसे मार्क्स और एंगेल्स का दर्शन विकसित हो सकता था, यह राहुल जी ने नहीं बताया।

१६५०

मेघपुष्प

श्री लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी का यह उपन्यास सरस है। सरसता के सभी उपकरण यहाँ विद्यमान हैं। गाँव की पृष्ठभूमि है। अठारह साल की नायिका है जिसने इतनी ही आयु में जीवन के आधे रसों का अनुभव प्राप्त कर लिया है। ब्लाउज़ में आगे की ओर बटनों का प्रयोग शायद उसे सहन न था, इसलिए नीचे की ओर सदा वह एक गांठ लगाती थी, जो कभी-कभी बलखाती चाल से, धोती का आंचल हट जाने के कारण, दिख जाया करती थी। लेखक ने रोमाण्टिक और प्रगतिशील तत्त्वों का कलात्मक समन्वय प्रस्तुत किया है। रनियाँ धोबिन की लड़की है लेकिन उसका प्रेमी सुक्खू तँबोली का लड़का है। तथाकथित निम्न-जातियों की प्रेम-कहानी लिखना अपने आप में प्रगतिशील है; उसमें भिन्न जातियों का प्रेम दिखाना तो और भी प्रगतिशील है।

इससे कोई यह न समझे कि यह बैतालपच्चीसी की सतह की कोई घटिया प्रेम-कहानी है। उस तरह की प्रेम-कहानियों में एक स्थूल मांसलता रहती है जो गँवई-गाँव के लोगों और शहर के कुछ आवारा छोकरों को बहुत पसन्द आती है। उस तरह की मांसलता यहाँ नहीं है। यह एक सुसंस्कृत रुचि के लेखक की गढ़ी हुई कहानी है, इसलिए सुक्खू और रनियाँ का प्रेम सात्विकता की सीमा का उल्लंघन कभी नहीं करता। सुक्खू बाँसुरी बजाकर अपनी वेदना की सकरुण अभिव्यंजना किया करता है जैसे देवदास में सहगल पारो को न पाकर 'तड़पत बीते दिन रैन' गाया करता है। रनियाँ की शादी हो जाती है और वह कानपुर में पति-परायणा आदर्श नारी का जीवन बिताने लगती है। उसका पति जुए, शराब और अन्य ऐसे आकर्षणों का प्रेमी है। निष्क्रिय, निर्विरोध, आदर्श नारी रनियाँ चुपचाप घुल-घुल कर आँसू बहाया करती है।

रनियाँ का पिता कानपुर आकर अपने ही गांव के एक चमार के-यहां ठहरता है। वह भेस बदल कर अपने दामाद की करामातों का पता लगाता है। जुआ खेलता है और थोड़ी शराब भी पीता है। उपन्यास के इस अंश में जासूसी उपन्यासों की-सी रोचकता है। कभी लगता है कि अब दामाद ने ससुर को पहचाना, कभी लगता है रनियाँ का बाप मामूली खिलाड़ी नहीं है। इस तरह उपन्यास में रोचकता के कई उपकरण हैं। प्रकृति की कवित्वमयी पुष्ठभूमि है। रनियाँ धोबिन और सुक्खू तँबोली का रोमांस है, घर में तिल-तिल कर घुलती हुई आदर्श हिन्दू नारी का सजीव चित्र है और रनियाँ के बाप की सफल जासूसी भी है। रनियाँ की ओर उसका पति उदासीन इसलिए रहता है कि "वह हिन्दू नारी थी और अपनी ओर से देहदान की क्रिया में उतनी स्वच्छन्द और संकोचहीन न थी, जितनी वह वेश्या जिसका नाम 'तारा' था।"

रनियाँ ने हिन्दुत्व अथवा हिन्दू नारीत्व की लाज उस समय खास तौर से रक्खी जब गाँव लौटने पर उसके बाप ने उसके पति को फटकार कर भगा दिया। रनियाँ हांफती, गिरती-पड़ती हुई अपने स्वामी के पीछे दौड़ी। उसके पास गिर कर वह बोली—"मेरे नरक अगर तुम हो, मेरे स्वर्ग अगर तुम हो, मेरा धर्म, मेरा कर्म अगर तुम हो, मेरे पाप अगर तुम हो, मेरी लाज भी अगर तुम्हीं हो तो······" और वह पति के चरणों में प्राण छोड़ देती है। यह सही है कि 'सेवा-सदन' की सुमन 'ग़बन' की जालपा, 'गोदान' की धनियाँ, 'प्रेमाश्रम' की विलासी या 'कर्मभूमि' की मुन्नी से हम इस तरह के व्यवहार की आशा नहीं कर सकते। लेकिन यहीं तो लेखक प्रेमचन्द से बाज़ी मार ले गया है। वह हिन्दू नारी को, पति को फटकारते, विद्रोह करते, घर छोड़कर मेहनत-मज़दूरी करते, आततायी से लड़ते नहीं दिखा सकता। जिस हद तक प्रेमचन्द ने यह किया है, उस हद तक वह हिन्दूवाद से नीचे गिर गए हैं। शरच्चन्द्र हिन्दू नारी की निष्क्रिय सात्विकता की सदा रक्षा करते हैं। हिन्दी में कुछ अन्य लेखकों के साथ यह काम लक्ष्मीचन्द्र जी ने भी कुशलता से किया है।

प्रेमचन्द के किसान पात्रों को देखकर यह नहीं लगता कि ये हमारी ही प्रतिच्छवि हैं। वे मध्यवर्ग के अतृप्त युवकों से भिन्न लगते हैं, लेकिन लक्ष्मीचन्द्रजी ने ग्रामीण पात्रों का साधारणीकरण करके उन्हें नगर के मध्यवित्त युवकों के बहुत निकट पहुँचा दिया है। जैसे कि रनियाँ का प्रेमी सुक्खू कहता है—"पाप की सत्ता तभी तक रहती है, जब वह अँधेरे में किया जाता है, छिपा कर किया जाता है। लेकिन जो प्रतिदान आत्मा का स्वर बन कर फूटता है, वह तुम मानो चाहे न मानो, आदान का मुँह चूम लेता है।" प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्र यह आदान का मुँह चूमने वाली मार्मिक भाषा कभी नहीं बोलते क्योंकि वे मानव-हृदय की उन निगूढ़तम गहराइयों में नहीं पैठते जिनकी थाह लेने में हिन्दी के अनेक कथाकार उनसे आगे बढ़ गए हैं।

यह बात दूसरी है कि मेरे अपने संस्कार कुछ दूसरी तरह के हैं। मैं उपन्यास वैसे भी कम पढ़ता हूं, प्रेम के उपन्यास और भी कम। मुझे चण्डीदास का प्रेम अच्छा लगता है। उन्होंने रामी के लिए अपना प्रेम स्पष्ट घोषित कर दिया, छिपाया नहीं। प्रेमचन्द की सुमन, जालपा, मुन्नी, बिलासी, धनियाँ के प्रति मेरे मन में आदर है, इसलिए कि वे अपने सम्मान के लिए लड़ती हैं। वे हिन्दू नारी भले न हों, भारतीय नारी अवश्य हैं। गाँव या शहर में रनियाँ-सुक्खू का असफल प्रेम ही सबसे महत्वपूर्ण घटना है, यह भी मेरी समझ में नहीं आता। प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, नागार्जुन, अमृतलाल नागर आदि लेखकों ने जीवन के उन सङ्घर्षों को भी लिया है, जो प्राचीन रूढ़िवाद को तोड़ते हैं। लेकिन अपने विचार लेखक पर लादना संकीर्णता है। उसकी रसवृत्ति जिससे तुष्ट हो, उस पर मुझे आपत्ति क्यों हो? और आपको उपन्यास अच्छा लगे या बुरा, आप जाने आपका काम जाने। आप पर अपनी भूमिका लादना भी संकीर्णता होगी। इसलिए उपन्यास पढ़ने के बाद आप इसे पढ़ें तो और भी अच्छा!

१९५६

नये वर्ष के शुभ संकल्प

वर्ष के आरम्भ में हर बार मैं नये संकल्प करता हूँ। मेरा वर्ष भी साल में कई बार आरम्भ होता है। नियति देवी ने कृपा करके मुझे अध्यापक बनाया है; इसलिए वास्तविक वर्ष जुलाई से आरम्भ होता है। अध्यापक नवयुवकों का—सहशिक्षा के कारण नवयुवतियों का भी—चरित्र-निर्माण करता है। राजनीति-विशारदों की अपेक्षा राष्ट्र के विकास में उसका अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस राष्ट्रीय विकास का पर्व जुलाई में आरम्भ होता है। कितने लड़के फेल हुए, अंग्रेजी के ही कारण कितने परीक्षा की दुर्गम घाटी पार न कर सके, किस प्रकार इन्हें अंग्रेजी शब्दों की सही हिज्जे करना और साधारण वाक्य-रचना सिखायी जाय आदि राष्ट्र-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य सामने आ खड़े होते हैं। अंग्रेजी विभाग की 'शिथिल' कार्यवाही के ही कारण विद्यार्थियों का परीक्षाफल ऐसा खराब रहा—इस तरह की कठोर सार्वजनिक भर्त्सना से यदि बच गये तो अपना भाग्य सराहा।

पिछले वर्ष विद्यार्थियों ने स्पष्ट या सांकेतिक भाषा में ठीक-ठीक अध्यापन-कार्य चलाने के लिए जो भी सुझाव दिये थे, वे सब आँखों के सामने घूम जाते हैं। मन में इस तरह के संकल्प उठते हैं—इस बार पुस्तक पढ़ाने से पहले प्रश्नपत्र जरूर देख लेना; साहित्य के विषय में विद्यार्थियों से ऐसा कुछ न कहना जो उनकी परीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी न हो। इस तरह के शुभ संकल्पों पर चलकर जितने सफल अध्यापक बने हैं, उनको मन ही मन प्रणाम करता हुआ मैं घर से कालेज की ओर चलता हूँ।

स्कूलों और कालेजों में काफी समय बर्बाद करने के कारण मुझे अनेक अध्यापकों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। इनमें

जिन अध्यापकों की मुझ पर विशेष कृपा रही, वे असफल कहलाने के ही अधिकारी थे। मास्टर रुद्रनारायण एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिनका चित्र आंकना वृन्दावनलाल वर्मा जैसे कलाकार ने आवश्यक समझा। झांसी की सरस्वती पाठशाला में वह हमारे ड्राइंग मास्टर थे। जितनी ड्राइंग सिखाते थे, उससे ज्यादा वह पहाड़ियों पर चढ़ना, पंजा और कलाई लड़ाना, और न जाने कहाँ-कहाँ की गप्प हाँकना सिखाते थे। वह चित्र-निर्माण से अधिक चरित्र-निर्माण में विश्वास करते थे। उनकी लम्बी नाक छोटे बच्चों को मजाक के लिए सदा उत्साहित करती थी, आँखों से बच्चों की सी शरारत झाँका करती थी। वे हमसे उम्र में बड़े हैं, यह पता ही न चलता था। उनके घर से हम वैसे ही परिचित थे जैसे स्कूल से। उनकी क्लास और घर के वातावरण में ज्यादा अन्तर न था।

अच्छा हुआ, कुछ दिन बाद मास्टर साहब स्कूल से अलग हो गये, वर्ना न जाने कितनों का बण्टाढार कर जाते। तस्वीर बनाने से लेकर दवाफरोशी तक उन्होंने न जाने कितने पेशे अपनाये लेकिन अध्यापकी की तरह वह हर जगह असफल ही रहे। बाबू गुलाबराय की तरह वह भी अपनी असफलताओं पर पुस्तक लिखते तो एक छोटा-मोटा महाभारत तैयार हो जाता। लेखकों के सौभाग्य से उन्होंने साहित्य के पेशे को दूर से ही नमस्कार किया।

मास्टर रुद्रनारायण मेरे सबसे प्रिय अध्यापक थे। उनके साथ रहते हुए परिश्रम करने का सवाल ही न उठता था। ब्रह्मानन्द की तरह जीवन में केवल मनोरंजन था, उसके सिबा और कुछ नही। हमारे बिना जाने हुए कहीं चित्र और शिल्प के दो-चार संस्कार मनमें डाल दिये हों, दूसरी बात है।

मेरे एक दूसरे आदर्श अध्यापक थे, ब्रजभूषणलाल त्रिपाठी। 'निश्चल' नाम से कविता करते थे। पाठ्य पुस्तकों की दुनिया से दूर कविता की जितनी सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें थीं, उनसे उन्होंने अकाल ही हमारा परिचय करा दिया था। रामचरित मानस पढ़ाते-पढ़ाते वह ऐसे

विह्वल हो जाते थे कि गला रुँध जाता था और वह अर्थ बताना भूल जाते थे। उस समय वह मूर्तिमान साहित्य जैसे दिखाई देते थे। कुछ दिन बाद वह भी स्कूल में न दिखाई दिये।

इस तरह के अनेक गुरुजन जीवन में आ चुके हैं। कालेज के वर्ष का आरम्भ होने के समय उन सब पर श्रद्धा के फूल चढ़ाकर उनसे प्रार्थना करता हूँ: मन पर जो शुभ संस्कार आप छोड़ गये हैं, उन्हें समेट लीजिये, मुझे अपने विद्यार्थियों का भविष्य-निर्माण करने दीजिये। यथाशक्ति इन शुभ संकल्पों पर चलने का प्रयत्न भी करता हूँ, किन्तु वर्ष के अन्त में सुचारु ढंग से अध्यापन करने के लिए विद्यार्थियों से जो स्पष्ट सुझाव या संकेत मिलते हैं, उनसे अच्छी तरह पता चल जाता है कि अपने संकल्पों में मुझे कितनी सफलता मिली है।

दूसरी तरह का वर्ष आरम्भ होता है पहली जनवरी को। जीवन की सारी कार्यवाही इसी जनवरी-दिसम्बर वाले कैलेण्डर के अनुसार होती है। वातावरण से प्रभावित होकर मैं भी यह अनुभव करने लगा हूँ कि ३१ दिसम्बर की रात को जैसे कुछ समाप्त हुआ और पहली जनवरी से कोई नयी चीज शुरू हो रही है। उस समय अपने सामाजिक जीवन की मुख्य कमजोरी याद करके उसे दूर करने का शुभ संकल्प करता हूँ। वह कमजोरी है समय पर पत्रों का उत्तर न देना। मुझे पत्र लिखने वालों की संख्या काफी बड़ी है, किन्तु इनमें नियमित पत्र-व्यवहार करने वाले दो ही चार भलेमानस हैं। मेरे आलस्य को अपने धैर्य से परास्त करने की क्षमता इन्हीं मित्रों में है। पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता होती है, उनका उत्तर लिखने में उतना ही कष्ट होता है। इसमें सारा दोष मेरे आलस्य का नहीं है।

एक तरह के पत्र-लेखक वे हैं जो किसी पुस्तक की भूमिका लिखाना चाहते हैं या उस पर सम्मति चाहते हैं। भूमिका या सम्मति किस तरह की हो, कितने पृष्ठों की हो और किस तरह का प्रभाव डालने वाली हो, बहुधा यह सब वह पहले से ही लिख दिया करते हैं। ऐसे मित्रों को पत्र लिखने के लिए पहले

उनकी पुस्तक पढ़ना आवश्यक होता है। जिसे मेरी भूमिका या सम्मति दरकार हो, वह पुस्तक किसी नौसिखिये की अनगढ़ रचना होगी, यह धारणा मन को पुस्तक पढ़ने से बार-बार रोकती है। जब तब यह धारणा भ्रांत भी सिद्ध होती है लेकिन मन को एक बहाना तो मिल ही जाता है।

कुछ अन्य पत्र-लेखक अपने अध्ययन, शोध आदि के बारे में सलाह माँगने वाले होते हैं। थोड़ी फुर्सत से उनके विषय पर सोच-विचार कर लिखना आवश्यक होता है और फुर्सत की राह देखते-देखते इतना विलम्ब हो जाता है कि फिर उत्तर लिखने में भी संकोच मालूम होने लगता है।

मैं केवल अध्यापक नहीं, केवल लेखक नहीं, घर गृहस्थीवाला हजार झंझटों में फँसा हुआ आदमी हूँ। हर नेक काम में पचास बाधाएँ उठ खड़ी होती हैं। नतीजा यह कि प्रायः हर पत्र में मुझे कैफियत देनी पड़ती हैं कि पत्र लिखने में बिलम्ब क्यों हुआ है और कोई कारण न होने पर मैं अपने कृपालु पत्र-लेखकों को स्पष्ट सूचित कर देता हूँ कि विलम्ब का कारण मेरा आलस्य है।

हर वर्ष के आरम्भ में मुझे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्मरण हो आता है जिन्होंने आलस्य को हिन्दीभाषियों की जातीय विशेषता समझ कर उसे निर्मूल करने का बीड़ा उठाया था। पद्मावत का सम्पादन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, 'इतनी बड़ी-बडी कठि-नाइयों को बिना धोखा खाए पार करना मेरे ऐसे अल्पज्ञ और आलसी के लिए असम्भव ही समझिये।' यहाँ आचार्य ने अल्पज्ञ तो नम्रतावश लिखा है किन्तु आलसी शब्द बहुत कुछ वास्तविकता का द्योतक है। ऐसा न होता तो परिमाण में शुक्ल जी की रचनाएँ कुछ अधिक अवश्य होतीं। वह हिन्दी के आदर्श आलोचक हैं। उनके आलस्य की कल्पना से ही उद्यम के शुभ संकल्प हवा हो जाते हैं। शुक्ल जी को पद्मावत पढ़ने में आलस्य आया था, गोस्वामी तुलसीदास को तो रामनाम जपने में भी इस रोग ने सताया था।

लिख गये हैं—

जपत जीह रघुनाथ को
नाम नहिं अलसातो।
बाजीगर के सूम ज्यों खल
खेह न खातो॥

सम्भव है, राम का नाम जपने में अपनी तत्परता से सन्तुष्ट न होकर अथवा केवल अपनी दीनता दिखाने के लिए ही गोस्वामी जी आलस्य की बात लिख गये हों। फिर भी मन से यह धारणा निकालना कठिन है कि आलस्य हिन्दीभाषियों की जातीय विशेषता रही है और गोस्वामीजी हिन्दी-भाषियों के सिरमौर हैं।

तीसरी तरह का वर्ष आरम्भ होता है मेरे जन्म-दिवस पर। उस दिन मैं अध्यापन की बात नहीं सोचता, पत्र लिखने की चिन्ता से भी मन को मुक्त रखता हूँ। सबसे पहले अपने शारीरिक स्वास्थ्य का लेखा-जोखा देखता हूँ। चालीस पार करने के बाद महाकवि निराला किस तरह अपने तरुण जीवन की मधुर कल्पना और उसका सरस वर्णन किया करते थे, उसका रहस्य अब समझ में आने लगा है। अनेक साहित्यिक मित्रों ने मेरे सम्बन्ध में अपनी पुरानी कल्पना को जीवित रखा है यद्यपि उस कल्पना से यथार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शरीरमाद्यं खलुधर्मसाधनम्', इस मन्त्र के पाठ से ही मन को सन्तुष्ट कर लेता हूँ।

मित्रवर अमृतलाल नागर जब मिलते हैं, यह कहना नहीं भूलते कि सक्रिय जीवन के पन्द्रह वर्ष ही और रहे हैं; जो कुछ साहित्य सेवा करनी हो, इन्हीं वर्षों में कर डालो। कविवर शिवमंगलसिंह सुमन ने साँसों का हिसाब रखने के लिए एक कविता ही लिख डाली है।

यह सब याद करके मैं शुभ संकल्प करता हूँ कि अब किसी वाद-विवाद में न पड़ूँगा और यथाशक्ति आलोचना भी न लिखूँगा। तभी

किसी-न-किसी सम्पादक का पत्र ग्रा टपकता है : लेख भेजो। लेख का ग्रर्थ होता है—ग्रालोचना। ग्रौर सम्पादकों से तो बस चल जाता है लेकिन 'नया पथ' के शिव वर्मा जी के तकाजे बिना कुछ प्राप्त किये बन्द होने का नाम नहीं लेते। इधर वह 'नया पथ' के सक्रिय सम्पादक नहीं है ग्रौर मैंने ग्राराम की साँस ली ही थी कि भारती के दुर्भाग्य से नन्ददुलारे जी वाजपेयी 'ग्रालोचना' के सम्पादक बन गये। एक लेख की तैयारी ग्रौर लिख भेजने की थकान मिटाने के बाद जब तक सरस्वती की ग्राराधना के लिए पत्र-पुष्प इकट्ठे करता हूँ, तब तक वाजपेयी जी का दूसरा पत्र नये लेख की माँग करता हुग्रा ग्रा पहुँचता है।

ग्राप इससे यह ग्रनुमान न करें कि सम्पादकों को मेरे लेख बहुत पसन्द ग्राते हैं या उनका ग्राज्ञापालन करने में मैं बहुत तत्पर रहता हूँ। लेख लिखूँ या न लिखूँ, किसी ने लेख माँगा है, इसकी चिन्ता ही ग्रौर सब रचनात्मक कार्य बन्द करा देने के लिए काफी है।

सम्पादकों के ग्रलावा रचनात्मक प्रतिभा की क्षीरण सरिता का जल पी जाने वाले प्रकाशकगरण हैं। उन्हें ग्रालोचना से ग्रधिक साहित्य के ग्रन्य किसी ग्रङ्ग में रुचि ही नहीं है। कोई नयी पुस्तक न मिले तो लेखों का संग्रह ही छापने को तैयार हैं। कई पुस्तकें जिनका श्रीगरोश भी नहीं हुग्रा, उनकी कृपा से इतनी ज्ञापित हो चुकी हैं कि उन्हें ग्रागे-पीछे लिखे बिना निस्तार नहीं।

इस तरह ग्रध्यापन, पत्र-लेखन ग्रौर ग्रालोचन में एक वर्ष के बाद दूसरा वर्ष बीतता जाता है। साल में तीन बार तीन तरह के वर्ष ग्रारम्भ होते हैं ग्रौर मै तीन तरह के संकल्प करता हूँ। वर्ष का ग्रन्त होते होते उसी संकल्प को फिर दोहराने की ग्रावश्यकता पड़ती है। हिन्दी पाठक बहुत ही उदार हैं, तुलसीदास के राम से भी ग्रधिक उदार। उनकी उदारता के सहारे जीवन-सरिता शुभ संकल्पों की चट्टानें पार करती हुई ग्रपनी सुपरिचित मंथर गति से बहती हुई निर्बाध काल में विलीन होती जाती है। यदि 'ग्राज' के सम्पादक महो-

दब मेरे 'खेद पत्र' से सन्तुष्ट हो जाते तो लेख के नाम पर आपको शुभ संकल्पों की इस कैफियत से व्यथित करने की आवश्यकता भी न पड़ती। हाँ, दूसरों के शुभ संकल्पों की सफलता के लिए मंगल कामनाएँ भेजना मैं कभी नहीं भूलता। १९५७

गौतम बुद्ध का सन्देश

सिद्धार्थ गौतम का जन्म साक्य गरण में हुआ था। इस तरह के गणों का विस्तृत विवेचन डा० काशीप्रसाद जायसवाल की पुस्तक 'हिन्दू पौलिटी' में मिलता है। डा० जायसवाल के अनुसार इन गणों में राज्य-सत्ता का जन्म हो चुका था और ये गणराज्य जनतन्त्र या प्रजातन्त्र थे। वास्तव में इन गणों में राज्यसत्ता का अभ्युदय न हुआ था ; राज्य-सत्ता का अर्थ है, समाज से ऊपर एक शासक शक्ति, जनता से अलग सेना, दंड और न्याय-व्यवस्था आदि। डा० जायसवाल ने गणराज्यों के बारे में लिखा है कि गणराज्य सशस्त्र राष्ट्र का ही नाम था। रिस डैवि-ड्स ने साक्यों के बारे में लिखा है कि शासन और न्याय का सारा काम सार्वजनिक सभा में होता था जिसमें छोटे बड़े सभी विद्वान् होते थे। इससे स्पष्ट है कि जनता से भिन्न शासन-संस्थाओं का अभी निर्माण नहीं हुआ था। महाभारत का हवाला देते हुए डा० जायसवाल ने दिख-लाया है कि गणों में कुल और जन्म के अनुसार मनुष्य के समान अधि-कार होते थे। राहुल जी ने 'बौद्ध द्वंद्ववाद' नाम के लेख में (मासिक न्यू एज में प्रकाशित) कहा है कि लिच्छवि गण में 'जनतन्त्र उन्हीं के लिये था जो लिच्छवि जन में उत्पन्न हुए थे। अलिच्छवि ब्राह्मण और व्यापारी को स्वाधीन होतें हुए भी, संसद में मतदान का अधिकार नहीं था।' वास्तव में ये गण रक्त सम्बन्ध पर आधारित प्राचीन जन (ट्राइब) थे जिनमें व्यक्तिगत संपत्ति की बढ़ती और श्रम विभाजन के साथ वर्ण व्यवस्था पैदा हो रही थी।

प्रोफेसर देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का मत है कि गण राज्य आदिम साम्यवादी समाज थे और उनके अन्दर जो समानता विद्यमान थी, वह बुद्ध की प्रेरणा का स्रोत थी। यहाँ दो बातों की ओर ध्यान जाता है।

पहली तो यह कि इन गणराज्यों में समानता नहीं थी। राहुल जी के उद्धरण में हम देख चुके हैं कि लिच्छवियों में अलिच्छवि ब्राह्मणों और व्यापारियों को मतदान का अधिकार नहीं था। फिर मनुष्यों की समानता कैसी ? इसके सिवा दासप्रथा का चलन होने से दासों और उनके स्वामियों के बीच समानता न थी। साथ ही अनेक गणों में सम्पत्ति की बढ़ती के साथ ऐसे राजन्य कुल बन गये थे जिनमें उत्पन्न होने वालों को विशेष पदों के लिये निर्वाचित किया जाता था। इन राजन्य कुलों की व्याख्या डा० जायसवाल की उपर्युक्त पुस्तक में देखी जा सकती है। इसलिये यह समझना ठीक नहीं मालूम होता कि गणों में मनुष्य समान थे और इस समानता से बुद्ध को प्रेरणा मिली।

दूसरी बात ध्यान देने की यह कि बुद्ध का कार्य क्षेत्र साक्य गण न था वरन् मगध और कोसल के सामन्ती राज्य थे। इन राज्यों में वर्ण व्यवस्था प्रतिष्ठित हो चुकी थी, दंड-व्यवस्था के साथ राज्यसत्ता का प्रादुर्भाव हो चुका था, राजतन्त्र वंशगत बन चुका था, इत्यादि। बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के पहले और बाद को अपना अधिकांश समय इन सामन्ती राज्यों में बिताया और वहाँ के व्यापारियों, सामन्तों और पुरोहितों ने उनका पूर्ण समर्थन किया।

बुद्ध का सन्देश आर्थिक रूप से पिछड़े हुए आदिम समाजों को नहीं दिया गया था; उनका सन्देश अभ्युदयशील सामन्ती व्यवस्था को दिया गया था और इस व्यवस्था में यदि निम्न और निर्धन जन उनके अनुयायी बने तो सम्पत्तिशाली वर्ग ने उनका सम्मान करने में कम उत्साह नहीं दिखाया। 'बौद्ध दर्शन' पुस्तक में इस विषय के अधिकारी विद्वान् महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं, 'बुद्ध का दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तु को वह एक क्षण से अधिक ठहरने वाली नहीं मानते, किन्तु इस दृष्टि को उन्होंने समाज की आर्थिक व्यवस्था पर लागू नहीं करना चाहा। सम्पतिशाली शासक-शोषक-समाज के साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेने पर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिक का ऊपर के तबके में सम्मान बढ़ना लाजिमी था। पुरोहित वर्ग

के कूटदन्ड, सोणदन्ड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनते थे, राजा लोग उनकी आवभगत के लिये उतावले दिखाई पड़ते थे। उस वक्त का धन-कुबेर व्यापारी-वर्ग तो उससे भी ज्यादा उनके सत्कार के लिए अपनी थैलियाँ खोले रहता था, जितने कि आज के भारतीय महासेठ गाँधी के लिये। श्रावस्ती के धन कुबेर सुदत्त (अनाथ पिण्डक) ने सिक्के से ढाँक एक भारी बाग (जेतवन) खरीद कर बुद्ध और उनके भिक्षुओं के रहने के लिये दिया। उसी शहर की दूसरी सेठानी विशाखा ने भारी व्यय के साथ एक दूसरा बिहार (मठ) पूर्वाराम बनाया था। दक्षिण और दक्षिण पश्चिम भारत के साथ व्यापार के महान केन्द्र कौशाम्बी के तीन भारी सेठों ने तो विहार बनवाने में होड़ सी कर ली थी। सच तो यह है कि बुद्ध के धर्म को फैलाने में राजाओं से भी अधिक व्यापारियों ने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँ से हो सकता था ?"

इसके बाद किसी को शङ्का न रहनी चाहिये कि बुद्ध की प्रेरणा का स्रोत पिछड़े हुए आदिम समाज थे। उनके समय में एक संपत्तिशाली वर्ग था और वह बुद्ध के संदेश के प्रति उदासीन न रह कर उसके प्रसार में सक्रिय भाग ले रहा था। इसका कारण था—सामन्तों और व्यापारियों को साधारण धर्म की नहीं, संगठित धर्म की—एक "चर्च" की, मठों और विहारों वाले शृङ्खलाबद्ध पुरोहित वर्ग की—आवश्यकता थी। संसार के तीन बड़े संगठित धर्मों—बौद्ध, ईसाई धर्म और इस्लाम में—बुद्ध का धर्म पहला संगठित धर्म, पहला संगठित चर्च था। मगध और कोसल संसार के प्राथमिक सामन्ती साम्राज्यों में थे। बुद्ध का धर्म इन सामन्ती साम्राज्यों का पहला संगठित धर्म था। इस धर्म ने एक ऐतिहासिक आवश्यकता पूरी की; शासक वर्ग को जिस तरह के धर्म की दरकार थी, वह उसे दिया। यही कारण है कि बिम्बसार से लेकर अशोक और हर्ष तक अनेक सामन्त और सम्राट इस धर्म के पोषक रहे।

बुद्ध ने ब्राह्मणों की आलोचना की लेकिन यह आलोचना उपनिषदों

में ही आरंभ हो गई थी। छान्दोग्योपनिषद में पुरोहितों की तुलना कुत्तों से की गयी है; वे ओम् ! हम खायें, ओम् ! हम पियें कहते हुए चलते हैं (राधाकृष्णन द्वारा संपादित पूर्व और पश्चिम के दर्शन का इतिहास, खंड १, पृ० ५७)। मुण्डकोपनिषद् में यज्ञादि कर्मों को ऐसी नाव कहा गया है जिस पर बैठने वाले मृत्यु और बुढ़ापे के शिकार होंगे। (उप०) यज्ञ और ब्राह्मणों का जो विरोध बुद्ध ने किया, वह मौलिक न था। बुद्ध ने उपनिषदों के विरोध में अपना धर्म चलाया, यह बात अंशतः ही सत्य है। इसके सिवा वृहस्पति के भौतिकवादी अनुयायी हर तरह के धार्मिक अन्ध विश्वासों का बहुत ही तीव्र और सुसंगत खंडन करते थे। बुद्ध ने ब्राह्मणों की जो आलोचना की, वह केवल एक प्रकार के पुरो; हितों के विरुद्ध थी, पुरोहित वर्ग मात्र के विरुद्ध वह न थी। वह स्वयं एक पुरोहित-वर्ग का निर्माण कर रहे थे और उसके लिये वैसे ही विशेषाधिकार चाहते थे जैसे ब्राह्मण चाहते थे। ब्राह्मणों की तरह बुद्ध के अनुयाइयों को बिंबसार ने दंडव्यवस्था से परे बतलाया था (देखिये, सर चार्ल्स इलियट, हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, खंड १, पृ० २४२)। बुद्ध ने ब्राह्मणों की अपेक्षा कहीं अधिक संगठित पुरोहित वर्ग की रचना की; इसीलिये उन्हें सामन्तों और व्यापारियों का ऐसा समर्थन प्राप्त हुआ। अनेक ब्राह्मण भी उनके अनुयायी बने।

बुद्ध ने दुःख-विनाश का मार्ग बताया---धनी भी दुखी, निर्धन भी दुखी। दुख का कारण है तृष्णा। निर्धनों को सहारा मिला,--हमीं दुखी नहीं है, सभी दुखी हैं, तृष्णा को जीत कर हम भी बड़े बन सकते हैं। उनके मनुष्यत्व को जो दबाया गया था, उसे इस विचार से शान्ति मिलती थी। लेकिन यह शान्ति काल्पनिक थी। दुख व्यक्तिगत ही न था, समाजगत भी था, वर्ग-शासन और वर्ग-शोषण से उत्पन्न होने वाला भी था ! सामाजिक व्याधियों के सामाजिक निदान ही होते हैं। बुद्ध के पास सामाजिक निदान न था। उनका सिद्धान्त निष्क्रियता का सिद्धान्त था। अन्यायी से घृणा मत करो, अपनी तृष्णा को जीतो,—यह आदेश यूरोप और एशिया में सर्वत्र सामन्त वर्ग की विचारधारा में मौजूद रहा

है। रामायण और महाभारत में अन्यायी को दंड दिया गया है, लेकिन बुद्ध के यहाँ इस तरह के प्रतिरोध और दंड का अभाव है, प्रतिरोध-भावना की अस्वीकृति है। इसलिये उनकी तृष्णा को जीतने की स्थापना आज भी पूंजीपति वर्ग में बहुत लोकप्रिय है। और व्यक्ति का दुख दूर करने के लिये भी काम, क्रोध, लोभ आदि को निर्मूल करना आवश्यक नहीं है— जैसे वैरागी सदा 'संसार त्यागो' कहते आये हैं—वरन् उन्हें वश में करके व्यक्ति और समाज के लियें उनका उपयोग करना आवश्यक है। रामायण और महाभारत के आदर्श पात्र सन्यासी नहीं हैं; उन्हें क्रोध भी आता है, लोभ और मोह भी होता है, लेकिन उनके ये मनोविकार रावण की तरह तामसिक (समाज-विरोधी) नहीं हैं, वरन् सात्विक (समाज के लिये कल्याणकारी) हैं। इसलिए बुद्ध का दुख-विनाश-मार्ग वास्तव में विरोधी वर्गों में परस्पर शान्ति रखने का मार्ग है, इस मार्ग से शोषण कायम रहता है और दुखी मनुष्य को संसार छोड़ने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बुद्ध अपने को अभौतिक अनात्मवादी कहते थे, उनका मार्ग मध्य-मार्ग था। फिर भी बहुत विद्वान् उन्हें भौतिकवादी सिद्ध करते हैं। बुद्ध ने भौतिकवाद और आत्मवाद दोनों का विरोध किया, लेकिन वास्तव में वह भौतिकवाद के विरोधी हैं, आत्मवाद के नहीं। बुद्ध ईश्वर और आत्मा को न मानते थे, वेद को प्रमाण न मानते थे। ऊपर से देखने में ये बातें ऐसी हैं जो उन्हें प्राचीन भौतिकवादियों के निकट लाती हैं। लेकिन बुद्ध का निर्वाण सच्चिदानंद ब्रह्म के साक्षात्कार या मुक्ति से मिलता-जुलता है। निर्वाणगत पुरुष का मरने के बाद क्या होता है, इस प्रश्न का उत्तर बुद्ध ने नहीं दिया। भौतिकवादी जहां कहते थे कि शरीर के अन्त से ही मनुष्य का अन्त है, वहाँ बुद्ध निर्वाण-प्राप्त मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त उसकी अवस्था के बारे में चुप रहे। इसका कारण यह था कि वह भौतिकवाद के प्रच्छन्न विरोधी थे; उसका खुल कर विरोध न कर रहे थे। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह कि आत्मा को न

मानते हुए भी वे आवागमन की शृंखला मानते थे। दुख का सब से बड़ा कारण कर्म-बन्धन और जन्म-मरण की शृंखला ही है। बुद्ध ने आत्मा के बदले पुनर्जन्म की प्रतिष्ठा की; शब्दों का भेद है, बात एक ही है। और मनुष्य पूर्वजन्म में भी था, इसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण गौतम बुद्ध के वचन ही हैं जो वेद की जगह ले लेते हैं। भौतिकवादी इस जन्म और जीवन से आगे-पीछे कर्म का कोई बन्धन न मानते थे। मुक्ति की जगह निर्वाण, आत्मा की जगह पुनर्जन्म, वेद की जगह बुद्ध के अपने वचन, इस तरह एक आत्मवाद की जगह दूसरा आत्मवाद प्रतिष्ठित हुआ। इसी कारण बुद्ध अभौतिकवादी अवश्य थे, लेकिन अनात्मवादी ऊपर से देखने पर ही लगते हैं।

बुद्ध से पहले भौतिकवाद की एक शक्तिशाली विचारधारा का प्रचार था। तारापद चौधरी के अनुसार भौतिकवाद की स्थापना ऋग्वेद ही में मिलती है (पूर्व और पश्चिम के दर्शन का इतिहास, खंड १ पृ० ५१)। दक्षिणारंजन भट्टाचार्य का कहना है कि वृहस्पति ने सबसे पहले ऋग्वेद में यह स्थापना की थी कि भूत ही अंतिम सत्य है (उप० पृ० १३३)। चारवाक वृहस्पति के अनुयायी थे। रामायण में जाबालि ने राम को भौतिकवाद का उपदेश दिया है। अजित केशकम्बली बुद्ध के समसामयिक थे और चारवाक-पंथ के अनुयायी थे। कोसल के लौहित्य नामक ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा था, "नए नए धर्म क्या हैं, जैसे कि एक पुराने बंधन को काट कर एक दूसरे नये बंधन में डालना।" (राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन, पृ० ४०)। कोसल के दूसरे भौतिकवादी पायासी ने बुद्ध के शिष्य काश्यप से कहा था, किसी ने मरने के बाद लौटकर नहीं कहा कि दूसरा लोक है और धर्मात्मा लोग भी मरने के लिए इच्छुक नहीं दिखाई देते (उप०)। कोसल में भौतिकवाद के अनेक अनुयायी थे और तर्क में उन्हें परास्त न करके बुद्ध चुप रह जाना ही श्रेयस्कर समझते थे। बुद्ध के सन्देश को भौतिकवादी (और आत्मवाद या आइडियलिज्म का विरोधी) समझना भ्रम है।

बुद्ध की तर्क-पद्धति को द्वन्द्ववादी कहा गया है। प्रमाण यह दिया

जाता है कि प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त से उन्होंने जगत्, समाज और मनुष्य सभी को क्षण-क्षण परिवर्तनशील घोषित किया। लेकिन 'बुद्ध का प्रत्यय ऐसा हेतु है जो किसी वस्तु या घटना के उत्पन्न होने से पहले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है।' (राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध दर्शन, पृ० ३३)। बुद्ध के लिये कारण और कार्य का प्रवाह एक विच्छिन्न प्रवाह है। उनके लिये एक क्षण में एक वस्तु या तो है या नहीं है ; 'है' और 'नहीं है' के द्वन्द्व की सत्ता एक ही क्षण में सम्भव नहीं है। लेकिन जड़वादी (मेटैफिजिकल) तर्क-पद्धति की यही विशेषता है। जड़वादी तार्किक के लिये कार्य कार्य है, कारण कारण है, अस्ति अस्ति है, नास्ति नास्ति है। वह एक ही दृष्टिकोण से घटनास्थल के एक ही पहलू को देखता है। इस एकांगिता और दृष्टिकोण की जड़ता के कारण ही बुद्ध के दर्शन का तर्कसंगत परिणाम शून्यवाद—इस विश्व की अस्वीकृति—है। श्री टी० आर० वी० मूर्ति ने ठीक लिखा है, 'बौद्ध चिन्तन में परिवर्तन का अर्थ एक इकाई की जगह दूसरी इकाई का आना है। इकाइयों की इस शृङ्खला में हर इकाई जन्मती है और पूरी तरह नष्ट हो जाती है ; एक इकाई दूसरी इकाई नहीं बन जाती।' (पूर्व और पश्चिम के दर्शन का इतिहास, खंड १, पृ० १९५)। इसी तर्क के अनुसार बुद्ध को केवल विशेष का परिचय होता है, सामान्य का नहीं (उप०)। द्वन्द्ववादी के लिये विशेष और सामान्य में यह जड़ अन्तर नहीं होता। इसके विपरीत जैनियों का अस्ति-नास्तिवाद द्वन्द्ववादी है। इसके अनुसार कोई वस्तु-विशेष एक दृष्टिकोण से अस्तित्व में है तो दूसरे दृष्टिकोण से उसका अभाव भी है। यहाँ विरोधी तत्वों की द्वन्द्वात्मक एकता स्थापित की गई है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, अप, तेज, वायु के परमाणु अविनश्वर हैं लेकिन उनके बने हुए समुदाय नश्वर हैं (उप० पृ० २२५)। यहाँ भी नश्वर और अविनश्वर तत्वों की भौतिक एकता स्थापित की गई है। इस सिद्धान्त से भौतिक जगत् की परिवर्तनशीलता समुदायों की नश्वरता, साथ ही मूल तत्वों की अविनश्वरता समझ में आती है। हर चीज़ को नश्वर कहना न तो द्वन्द्ववाद है न भौतिकवाद।

भौतिकवादी विचारक एंगेल्स के लिये प्रकृति के परमाणु अविनश्वर हैं और विज्ञान से पहले इस बात का पता लगाने का श्रेय एंगेल्स ने दर्शन को दिया है (देखिये, डायलेक्टिक्स ऑव नेचर)। एंगेल्स के अनुसार यूरोप के दर्शन ने आधुनिक विज्ञान से दो सौ वर्ष पहले इस बात का पता लगाया था ; भारतीय दर्शन ने इसी बात का पता आधुनिक विज्ञान से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले लगाया था।

सांख्य के अनुसार प्रकृति में रजोगुण जहाँ गति का कारण है वहाँ तमोगुण निष्क्रियता और गति के अभाव का कारण है। (पूर्व और पश्चिम के दर्शन का इतिहास, पृ० २४४)। यहाँ भी दो विरोधी गुणों की एकता का प्रतिपादन है। इस दृष्टिकोण से प्रकृति की गतिशीलता और सापेक्ष स्थिरता को समझने में मदद मिलती है। बुद्ध ने केवल एक पक्ष—हर क्षण में कारण के लोप—को ही देखा था। चारवाक-संप्रदाय कार्य-कारण सम्प्रदाय को अक्षुण्ण न मानता था। एक कार्य-कारण-सम्बन्ध भी अन्य घटनाओं से प्रभावित होता है (देखिये, चटर्जी और दत्त: ऐन इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन फिलौसोफी, पृ० ६१)। गीली लकड़ी जलाने से ही धुआँ उठेगा। चारवाक-सम्प्रदाय कार्य-कारण शृङ्खला को उसके परिवेश से अलग करके नहीं देखता। वह घोषित करता है कि विश्व के घटनाक्रम स्वतन्त्र न होकर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस तरह वह यथार्थ जगत् को हर पहलू से देखकर उसे समझने की बुद्धि देता है। चारवाक-सम्प्रदाय के लिये तत्वों के सम्मिश्रण से नये गुण भी पैदा हो जाते हैं। मानव-चेतना का जन्म वैसे ही हुआ है जैसे पान, कत्था, सुपारी, चूने से लाल रंग का। द्वन्द्ववाद में परिणाम का गुण में बदलना, परिणाम के बदलने से नये गुण का पैदा होना स्वीकार किया जाता है। उस सिद्धान्त की स्थापना बहुत पहले प्राचीन भारत में की गई थी। सारांश यह है कि द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त भारत में प्रचलित रहा है लेकिन वह बुद्ध के यहाँ नहीं, अन्यत्र ही मिलता है।

प्राचीन संस्कृति का मूल्यांकन करते हुए जो विद्वान् उसके उन तत्वों को भूल जाते हैं जो सांख्य, न्याय, वैशेषिक और जैन-दर्शन और चार-

वाक सम्प्रदाय में मिलते हैं, वे उस संस्कृति के साथ न्याय नहीं करते। इनकी तर्क-पद्धति में द्वन्द्ववाद के अनेक और महत्वपूर्ण सूत्र विद्यमान हैं। उन्हें भुलाकर प्रतीत्य-समुत्पाद को द्वन्द्ववाद कहना तर्क-संगत नहीं है। यह बात भी ध्यान देने की है कि बुद्ध भौतिकवादी नहीं थे, वरन् भौतिकवाद की एक समर्थ परम्परा का विरोध करके उन्होंने निर्वाण, कर्मबन्धन और तृष्णा के विनाश के सिद्धान्तों का प्रचार किया था। इसके विपरीत भारतीय महाकवियों में सक्रिय जीवन का आदर्श ज़्यादा प्राणवान और समाज के लिये कल्याणकारी है। बुद्ध ने आदिम समाज व्यवस्था की समानता से प्रेरणा नहीं ली, वरन् धनी सामन्तों और व्यापारियों के लिए ऐतिहासिक रूप से आवश्यक धर्म-संघ की स्थापना की थी, इस बात को अस्वीकार करना सत्य से मुँह मोड़ना होगा।

१९५६

निराला और पन्त की प्रतीक-योजना

निराला और पन्त दोनों ही छायावाद के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। अपने अभ्युदय-काल में पन्त सौन्दर्य के कवि रहे हैं तो निराला शौर्य और वेदना के कवि। आज उनका अभ्युदयकाल नहीं है। निरालाजी काफी दिनों से अस्वस्थ हैं। फिर भी वह लिख रहे हैं। मेरे एक मित्र ने २४ फरवरी ५४ के एक पत्र में सूचना दी है कि "महाकवि का स्वास्थ्य ठीक नहीं। दाहिने पैर में सूजन आने के कारण चलना भी कठिन हो गया। उपचार से लाभ अभी तक कोई नहीं हुआ।"

'राम की शक्तिपूजा" और "तुलसीदास", "जागो फिर एक बार" और "बादल राग" की उदात्त प्रतीक योजना या शौर्य की भावना अब उनकी कविताओं में नहीं है। इसके बदले उनकी वाणी करुणा में डूब गई है और स्वर व्यथित और वेदना-विभोर हो गये हैं।

पन्तजी सौभाग्य से रेडियो में ऊँची तनखाह का काम पा गये हैं। उन पर अरविन्द दर्शन का प्रभाव पड़ा है। अब वह पहले जैसे सौन्दर्य के कवि नहीं हैं। अब वह मानवजाति को आध्यात्मिक और चिरन्तन सत्य के दर्शन का संदेश देने वाले दार्शनिक कवि हो गये हैं।

दोनों कवियों की प्रतीक योजना में परिवर्तन हुआ है। दोनों में इस समय अपने अभ्युदयकाल से अन्तर आ गया है। दोनों की तुलना करने से उनकी वर्तमान रचनाओं पर ही नहीं उनकी पहले की कृतियों पर भी प्रकाश पड़ेगा।

सन्' ४० में निराला ने अपने बारे में लिखा था:—

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्यवेला।

पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।
जानता हूँ, नदी झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख
कोई नहीं भेला।

(भेला शब्द पर कवि का फुटनोट है, पुराने ढंग की नाव)।

एक ओर कवि की दैहिक जर्जरता है, दूसरी ओर उसकी यह व्यंग्य-भरी हँसी है कि उसके लिये कोई नाव नहीं है। इस दैहिक और मानसिक स्थिति से ही कवि की करुण प्रतीक-योजना का जन्म होता है। नूपुरों के स्वर मन्द हैं, कवि का जागरण मोहनिशा की स्नेह-गोद पर सोता है, गहन है यह अन्धकारा, और--

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

निराला की वेदना अहम् के वृत्त में सीमित नहीं है। वह उसे जन-जीवन की वेदना के और निकट ले आई है। वह कहता है,

धूलि में तुम मुझे भर दो।
धूलि धूसर जो हुए पर
उन्हीं के वर वरण कर दो।

और भी,

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर
जो द्वार द्वार फिर कर
भीख माँगता कर फैलाकर।

ये सब उद्धरण "अणिमा" नामक संग्रह से सन् ४० की रचनाओं से हैं। पिछले दिनों उन्होंने एक गीत लिखा था:--

दुखता रहता है अब जीवन

पतझड़ का जैसे वन उपवन ।
डालियाँ बहुत सी· सूख गईं,
उनकी न पत्रता हुई नई,
आधे से ज्यादा घटा विटप
बीज हो चला है ज्यों क्षण क्षण ।

निराला अपने जीवन और चारों ओर के वातावरण के प्रति कितना सचेत है, आप देखेंगे । विटप घट कर जैसे बीज हो चला हो, इस चित्र की अपूर्व व्यंजना निराला के लिये ही संभव है । दो पंक्तियों में जीवन का सारा शोक और ताप जैसे घनीभूत हो गया है ।

कवि कहता है,

सुख का दिन डूबे डूबे जाय,
तुमसे न सहज मन ऊब जाय ।

सुख का दिन डूब गया है । लेकिन केवल निराला के लिये नहीं । वह अपने चारों ओर के जनजीवव को भी दुख में डूबा हुआ देखता है । इसलिये वह कहता है—

माँ ! अपने आलोक निखारो
नर को नरक-त्रास से वारो ।

निराला की वेदना का मूल इसी संसार में, इसी जीवन में है, निराला के जीवन में, निराला के चारों ओर के संसार में । अपनी नितान्त अस्वस्थ दशा में भी यह कवि शोकसागर से काव्य के मोती हिंदी पाठकों को दे रहा है । निराला की रचनाएँ इस बात की साक्षी हैं कि सच्चा कवि बिक नहीं सकता, वह दुखी जीवन के प्रति आँखें नहीं मूँद सकता । निराला की रचनाएँ उसके अगाध हिन्दी-प्रेम और देश-प्रेम की परिचायक हैं, कारण यह कि जब उसे जीना दूभर है, तब भी वह मन मार कर नहीं बैठा । वह वेदना का कवि है लेकिन निराशा का नहीं । वह नरक-त्रास का कवि है लेकिन आलोक की आशा करना उसने अब भी नहीं छोड़ा ।

हर जगह उसकी प्रतीक-योजना सरल नहीं होती । शब्द-योजना

कहीं-कहीं पाठक को उलझन में डाल देती है। लेकिन जो भी धैर्य से निराला की रचनाएँ पढ़ेगा यानी पिछले दस-बारह साल की रचनाएँ, वह उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हुए बिना न रहेगा। यह सौन्दर्य कवि ने तिल-तिल कर छीजते हुए अपने जीवन से उत्पन्न किया है। नरकत्रास उसके लिये कुछ हफ्तों या महीनों के लिए नहीं रहा, वर्षों से वह नरकत्रास में है। फिर भी पुरवाई के झोकों की तरह उसका मन अब भी लहरा उठता है और वह गाता है—

पारस, मदन हिलोर न दे तन ।
बरसे झूम झूम कर सावन ।
वन द्रुम राजि साज सब साजे,
वसन हरे, उर उड़े बिराजे,
अलियों जूही की कलियों की
मधु की गलियों नूपुर बाजे,
घर बिछुड़े आये मन पावन ।

यही है कवि अपराजेय निराला जो जीवन-समर में क्षत-विक्षत और ध्वस्त हो गया है लेकिन हतप्रभ और त्रस्त नहीं है। इसके लिये हिन्दी-प्रेमी निराला के सदा कृतज्ञ रहेंगे।

पंत जी की रचनाओं में—पिछले दस-बारह साल की रचनाओं में-आपको इस तरह के चित्र न मिलेंगे। स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि आदि की रचनाएँ पढ़ कर आपका हृदय विगलित न होगा। बच्चन जी ने कवि पंत के लिये लिखा है,

संतों में सुमधुर कवि कवियों में सौम्यसन्त।

वर्तमान युग के सन्तों की तरह पंत जी संघर्ष के युग में शान्ति का सन्देश देते हैं। पंत जी उत्तरा की भूमिका में कहते हैं, "ऐसे विश्वसंघर्ष के युग में सांस्कृतिक संतुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं, जाग्रत चैतन्य मानव का कर्त्तव्य समझता हूँ। और यदि वह संभव न हो सका तो क्रान्ति का परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकंप, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही,

उसके अदम्वेग को कौन रोक सकता है।"

पंत जी क्रान्ति के इस अदम्य वेग से चिन्तित रहने वाले समाज के उच्च और सुसंस्कृत जनों की भावनाएँ व्यक्त करते हैं। उनकी प्रतीक-योजना का मूल स्रोत यह चिन्ता है। उनका विचार है कि धरती भूखी है, उसे अन्तर्जीवन का प्लावन भर देगा, भारत भूमि को जो भिखारिन समझते हैं, वे मूर्ख हैं, भारत भूमि जगत-तारिणी है। लोकसंघर्षों से मानव जर्जर हो गया है। उसे क्रान्ति से बचाने के लिये शान्ति या प्रतिक्रान्ति का सन्देश देने योगी अरविन्द का अवतार हुआ है। पंत जी संसार को स्वर्ण आलोक में नहाया हुआ देखते हैं। उनके लिये महान् और साधारण का भेद मिट गया है। जिस श्रद्धा से वह योगी अरविन्द को याद करते हैं, उसी श्रद्धा से वह काक नामक पक्षी को "भविष्यवक्ता जगविश्रु" कहते हैं और उसके मंत्रियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं, "मंत्री वृद्ध तुम्हारे कौशिक दिवा-भीत चमगादर"। पंत जी ने दार्शनिकता को सरस बनाने के लिये अर्ध विवृत जघनों, वक्षोजों के खुले घटों, चिर अधखुले उरोजों, चूम गंध रज आदि की भव्य प्रतीक-योजना की है। पंत जी ने जिस सौन्दर्यवाद से अपना कवि-जीवन आरंभ किया था, यह उसी की परणति है। साहित्य के नवों रसों से अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। वीभत्स और करुण से रीतिवादियों के समान आनन्द मिलता है। लेकिन अपने लिये तो—एको रसः करुण एव! और इस करुणरस का सिद्ध कवि है निराला।

१६५५

एशिया का प्राचीन शब्द "जन"

एशिया की भाषाओं में बहुत-से शब्द सामान्य हैं। इन परम गौरव-पूर्ण शब्दों में एक शब्द है—जन। एशिया की जनता जितनी प्राचीन है, उतना ही प्राचीन यह छोटा-सा शब्द है। भाषाओं के विकास-क्रम में बहुत-से शब्द बने और मिट गये लेकिन जनता की तरह यह शब्द भी अजर-अमर है। भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में यह शब्द सम्मान-प्रद आसन पर प्रतिष्ठित है। "स्तुये जनं सुव्रतं", "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता" इत्यादि। जनतंत्र और जन-आन्दोलनों के इस युग में इस शब्द को जैसे नया जीवन मिल गया है। जिस शब्द के साथ भी इसे जोड़ दिया जाता है, उसी का महत्व बढ़ जाता है—जन-साहित्य, जनभाषा, जनक्रांति इत्यादि। हिन्दीभाषी क्षेत्र की श्रमिक जनता के पत्र का नाम भी इसीलिए "जनयुग" है।

उत्तर भारत और दक्षिण भारत की भाषाओं का भेद "जन" शब्द के लिए नहीं है। तमिलभाषी श्रमिक जनता अपने पत्र का नाम "जन-शक्ति" उसी प्रेम से रखती है जैसे हिन्दी-भाषी जनता "जनयुग" नाम रखती है। जन शब्द ने ऐसी धाक जमा ली है कि पूँजीवादी पत्र भी अपने नाम के साथ उसे जोड़े बिना नहीं रह सकते। दिल्ली का स्वर्गीय पत्र "जनसत्ता" इसका उदाहरण है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि भाषा वर्गों के लिए अलग-अलग न होकर पूरे समाज की सेवा करती है।

जन शब्द का महत्व भारत तक सीमित नहीं है। वह जातीय-विद्वेष के पर्वत लाँघकर उत्तर और दक्षिण भारत की जनता को ही निकट नहीं लाता। उसका महत्त्व इससे बहुत बड़ा है। जन शब्द हिमालय की

तरह महान् और हिन्द महासागर के समान व्यापक है। जन शब्द हमारे पड़ोसी महादेश चीन की साठ करोड़ जनता से भी हमें मिलाता है। जनता, मनुष्य, इंसान के लिए चीनी जनता इसी जन शब्द का प्रयोग करती है। इस तरह संसार की आधी जनता नित्य-प्रति इस शब्द का प्रयोग करती है। किस भाषा के किस शब्द को यह गौरव प्राप्त है कि विश्व की आधी मानवता उसका जप करे? यह गौरव चीन और भारत के इस प्राचीन शब्द जन को ही प्राप्त है।

जन शब्द भारत-चीन मैत्री का प्रतीक है। वह दो महादेशों के हृदयों को बाँधने वाला अटूट भौतिक बन्धन है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—गिरा अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। यहाँ गिरा अरथ में कोई भिन्नता नहीं है। जनता का चीन, जनता का पत्र आदि टुकड़ों में यह शब्द सर्वाधिकार सुरक्षित करके वैसे ही चीन में जमा हुआ है जैसे भारत में। आकाश का गुण शब्द है। मानों यही सिद्ध करने के लिए दुर्गम पर्वतमालाओं की बाधा न मानकर यह एशिया के कोटि-कोटि जन-कंठों में बस गया है।

जन शब्द पर पुरुषों का अधिकार नहीं है। वह देवियों के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे अंग्रेजी में मैन के साथ वो जोड़कर वोमैन बनता है, वैसे ही चीन में जन के साथ न्वी जोड़कर नारी वाचक शब्द न्वी-जन स्त्री के लिए और फूजन पति के लिए आदि शब्द बनते हैं। हमारे दूसरे पड़ोसी देश रूस (और दूसरे स्लाव भाषा वाले देश) ज़ेन या ज़ेन्या को नारी वाचक अर्थ ही में लेते हैं। रूसी में पत्नी के लिए जेन्या, नारी के लिए ज़ेंश्चीना आदि शब्द एक ही मूल उद्‌गम की ओर संकेत करते हैं। प्राचीन ग्रीक में यह शब्द गेनौस, जन या गण अर्थ का वाचक है। लैटिन में वही गेन्स है। यह प्राचीन शब्द यूरोप और एशिया की भाषाओं को मिलाने वाला भी है। इस तरह इसे संसार का अति प्राचीन ही नहीं, अति प्रचलित शब्द मानना भी उचित होगा।

जन शब्द इस बात का प्रमाण है कि जनता जिन्हें हृदय से अपना

लेती है, उन्हें मिटाना असम्भव है। युगों-युगों से इस विशाल यूरेशिया भूखंड पर प्रचलित यह छोटा-सा शब्द मानों तमाम जन-द्रोहियों को चुनौती देता रहा है--आओ, हमें मिटा सकते हो तो मिटाओ। और आज यूरोप और एशिया के निवासियों की मित्रता दृढ़ हो रही है। विशेष रूप से भारत और चीन की मैत्री जन शब्द के समान ही अखंड और अविभाज्य है।

यह मैत्री एक दिन दासता और युद्ध की शक्तियों पर विजय पायेगी और तब यह छोटा-सा शब्द जन नये प्रकाश से जगमगा उठेगा। कहना न होगा कि भारत और चीन की भाषाओं में जन शब्द ही सामान्य नहीं है। उनमें शब्दों और दूसरी तरह की अन्य समानताएँ भी हैं। भविष्य में इन भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान और बढ़ेगा। इस परस्पर आदान-प्रदान से जो शब्द-राशि एकत्र होगी, उसमें मुक्ता के समान दूर से ही जन शब्द प्रकाशित होगा, यह निश्चित है।

१९५४

भाषा और समाज

भाषा-विज्ञान में ऐसी अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं जिनका सम्बन्ध विज्ञान से उतना नहीं है, जितना मनुष्य के जातीय, धार्मिक, सामन्तवादी, पूँजीवादी संस्कारों और अंधविश्वासों से है। मनोविज्ञान की तरह भाषा-विज्ञान भी अपेक्षाकृत एक नया विज्ञान है। कोई विज्ञान अपने में एकबारगी पूर्ण भी नहीं होता और वह क्रमशः पूर्ण सत्य की ओर बढ़ता है। यह बात हम फिजिक्स, केमिस्ट्री, बायलोजी आदि विज्ञानों में देख सकते हैं। उन्होंने क्रमशः उन्नति करते हुए अपनी वैज्ञानिकता को निखारा है। दुर्भाग्य से भाषा-विज्ञान इनकी तरह भूत-विज्ञान नहीं हैं और उसका शोध गणित के से नपे-तुले नियमों से करना कठिन है। इसीलिए वह आसानी से उन तमाम लोगों के हाथ में कठपुतली बन जाता है जो उसको तोड़-मरोड़कर अपने वर्ग-स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।

जर्मन राष्ट्रवाद के अभ्युदय को भाषा-विज्ञान की कुछ खास धारणाओं से बड़ी मदद मिली। इनमें से एक मुख्य धारणा आर्य-जाति की श्रेष्ठता है; सबसे पहले उसने अपनी भाषा और संस्कृति को विकसित किया और संसार के तमाम देशों और जातियों को—उनकी भाषाओं और संस्कृतियों को—विकसित करने में सहायता दी। यूरोप के साम्राज्यवादियों ने अपनी-अपनी भाषाओ की श्रेष्ठता घोषित करते हुए उपनिवेशों की भाषाओं को यथासम्भव दबा कर रखने की कोशिश की। उन्होंने अपने अधीन देशों की भाषाओं और संस्कृतियों का अङ्गरेजीकरण, फ्रांसीसीकरण आदि किया। ज़ारशाही रूस के लिये मशहूर है कि वह जातियों का कठघरा था। अन्य भाषाओं को दबाकर उनकी जगह रूसी को दी जाती थी। पिछड़ी हुई भाषाओं का तो कहना ही क्या, उक्रैनी

जैसी विकसित भाषा को भी अपने प्रदेश में स्वाधीनता पूर्वक फलने-फूलने का अवसर न दिया जाता था। इसी तरह अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान और दूसरे उपनिवेशों में अंग्रेजी को लादा और वहाँ की भाषाओं को उन्नत होने से रोका। यही नहीं कि हिन्दी, उर्दू, मराठी वगैरह उतनी उन्नति नहीं कर सकीं जितनी कर सकती थीं, और पच्चीसों भाषाओं को पनपने तक न दिया गया और वे आज भी भारत की 'आजादी' का मुँह जोह रहीं है कि नयी धूप और हवा में बढ़ें और फलें-फूलें।

साम्राज्यवाद की राजनीतिक विरासत संभालने वालों ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी उसकी निरंकुशता को कायम रक्खा है। अंग्रेजी के लादे हुए विभाजन के बाद पुरातनपंथियों को नया बल-सा मिला। उन्होंने जाति और धर्म को भाषा का आधार घोषित करना शुरू कर दिया। अन्य भाषाएँ दबायी जाने लगीं और उनके बोलने वालों की इच्छा का ध्यान रक्खे बिना उन पर अपनी विशेष भाषा लादने की कोशिश की जाने लगी। पाकिस्तान में उर्दू और बंगाली को लेकर खून-खराबे की नौबत आ गयी।

कहा जाता है कि आर्य-परिवार की भाषाओं का मूलरूप एक था। आरम्भ में एकता थी। समय पाकर आपस में भेद हो गया और साधारणतः हर भाषा की अलग स्थिति हो गयी।

यह दरअसल वही सतयुग और कलियुग वाला सिद्धान्त है कि पहले हम सभ्यता के शिखर पर थे और गिरते-गिरते रसातल पहुँच गये हैं। सभ्यता के शिखर पर शायद इसलिये थे कि ईश्वर ने देववाणी में हम से बातचीत की थी और वैसे तो सभी इन्सान उसके बच्चे हैं लेकिन आर्य उसकी विशेष रूप से जायज संतान थे। पैगम्बरों ने ईश्वर के यहाँ से आकर जाति विशेष के जायजपन की रजिस्ट्री कर दी। जब से पैगम्बरों का आना-जाना बन्द हो गया तब से ईश्वर और उसकी जायज सन्तान के बीच आमदरफ्त भी कम हो गयी। इसलिये उन पैगम्बरों के अनुयायियों को पुरानी कही-सुनी बातें ही दुहरानी पड़ती हैं।

इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है कि सामाजिक विकास की भिन्न मंज़िलें पार करते हुए आदमी के बँटे हुए गुट क्रमशः एक दूसरे के नजदीक आये हैं। आदिम समाजव्यवस्था में यह अलगाव हद दर्जे तक बढ़ा हुआ था। सामंतवादी व्यवस्था में छोटे-बड़े सामन्तराज्य बने और मनुष्य का परस्पर आदान-प्रदान एक हद तक बढ़ा। यह आदान-प्रदान बहुत-कुछ यातायात के साधनों के बढ़ने पर निर्भर होता है। फ्रांस के दो गाँवों की मशहूर कहानी है जो कुछ ही मील के फासले पर बसे हुए थे; उनके निवासी एक दूसरे की भाषा बिल्कुल न समझते थे। यातायात के साधन बढ़ने पर वर्तमान काल में उनका यह अलगाव दूर हुआ। पूँजीवाद दूर देश के लोगों को, उनकी भाषा और संस्कृतियों को, एक दूसरे के निकट लाया, लेकिन भयानक नर-संहार के बाद, मनुष्य द्वारा मनुष्य को गुलाम बनाने के बाद। इसलिये एतिहासिक सत्य यह नहीं है कि पहले एक पूरी जाति की जाति अपनी विशेष भाषा के साथ एक निश्चित भौगोलिक प्रदेश में रहती थी—यह तो वर्तमान नैशनैलिटी की कल्पना है जो सामन्तशाही के ह्रास और पूँजीवाद के अभ्युदय काल की ऐतिहासिक घटना है। प्राचीन समाज-व्यवस्था में इस तरह की नैशनैलिटी की कल्पना करना सरासर विज्ञान का गला घोटना है। ऐतिहासिक सत्य यही है कि उस समय मनुष्य कबीलों और गुटों में बँटा हुआ था, जिनका परस्पर आदान-प्रदान सामन्तवादी या आधुनिक युग की अपेक्षा बहुत कम था।

भाषा-विज्ञान की एक विशेषता वह है, जिसे "तुलनात्मक भाषा-विज्ञान" कहा जाता है। इसने वैज्ञानिकता को वहुत सरल बना दिया है। चार शब्द लैटिन, ग्रीक, संस्कृत आदि से लीजिये और पेटर-पितर-फादर करके एक मूल भाषा सिद्ध कर दीजिये। यदि हम इसी नियम को यूरोप और एशिया की वर्तमान भाषाओं पर भी लागू करें, तो एक ही भाषा को दस-पांच परिवारों की सिद्ध कर सकते हैं। राहुलजी कहते हैं कि रूस के रोमनी और हिन्दुस्तान की डोमनी एक ही हैं और भोजपुरी के क्रियापद रोमनी क्रियापदों से मिलते-जुलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो

जाता है कि भारत की डोमनी ही रूस में जाकर रोमनी हो गयी।

हम यह पूछना चाहते हैं कि पेटर, पितर, फादर की समानता के बाद जो असंख्य असमान शब्द रह जाते हैं, उनके बारे में आपका क्या निदान है ? प्रश्न उन शब्दों का ही नहीं है जो समान रूप से एक परिवार की भाषाओं में मिलते हैं। प्रश्न उन बहु-संख्यक असमान शब्दों का भी है जो इस छोटे से शब्द-भण्डार के बाहर के हैं। जब तक हम यह स्वीकार नहीं करते कि धरती के अनेक प्रदेशों में बहुत-कुछ साथ-साथ अनेक भाषा-परिवारों की उन्नति हुई है (निश्चय ही भाषाओं का वह रूप आधुनिक भाषाओं जैसा नहीं था) तब तक इस समस्या का कोई समाधान नहीं होता।

१६४८

मोहेंजोदड़ो

मिस्र, क्रीट, सुमेर और सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता में जो बात सामान्य रूप से मिलती है, वह लिंगोपासना और प्रजनन-सम्बन्धी रीति-रिवाजों (fertility cults) का प्रचार है। भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व दोनों से ही इसकी पुष्टि होती है।

ग्रीस में बैकस शराब का देवता माना जाता है परन्तु उसका आदिम रूप दूसरा था। वह खेतों में पैदावार का रक्षक, प्रजनन-सम्बन्ध का देवता था। उसकी उपासना के विचित्र ढंग थे जिन्हें हेलेनिक जातियों ने अपने मन्दिरों की गुप्त उपासना में अपनाया। प्रजनन-देवता इन्द्र के समान बहुगुणसम्पन्न था। बैकस वाणी का देवता भी था, इसीलिए ग्रीक शब्द अबैकान्टी का वही अर्थ है जो संस्कृत "अवाक्" का है। "वाक्" और "बैकस" की जड़ एक ही है और सम्भवतः उसका छोर प्राचीन संस्कृति के गूढ़तम स्तरों में हैं।

पृत्सीलुस्की के अनुसार संस्कृत में "लांगल" शब्द की कोई मान्य व्युत्पत्ति नहीं है। उसका अर्थ हल और लिंग दोनों था। लिंगोपासना का जन्म खेती के रीति-रिवाजों से हुआ है। इसका आधार यह विश्वास था कि प्रजनन-क्रिया से खेतों की पैदावार बढ़ेगी। इसीलिए लांगल शब्द के दो अर्थ हैं जो वास्तव में सम्बद्ध हैं।

खेती के रीति-रिवाजों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक चिन्ह मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की मुद्राओं में मिलते हैं। एक मुद्रा पर नग्न-नारी-आकार अंकित है जिसका सिर नीचे को है और दोनों पैर ऊपर को है। उसकी जंघाओं के बीच से एक पौधा निकल रहा है। इससे खेती में प्रजनन-सम्बन्धी रीति-रिवाजों का प्रचलित होना स्पष्ट है। आगे चल कर इन्हीं रीति-रिवाज़ों का वाम-मार्ग और वज्र-यान में विकास हुआ।

मौहेंजोदड़ो की वे मुद्राएँ सुविख्यात हैं जिन पर पशुपति का चित्र अंकित है। मार्शल की पुस्तक की बारहवीं प्लेट में १७ वीं आकृति पशु-पति की है। वे योगासन मारे बैठे हैं; दोनों एड़ियाँ एक दूसरे से जुड़ी हैं और अँगूठे नीचे को हैं। हाथ घुटनों पर हैं और बर्मा की देहाती स्त्रियों की तरह कड़ों से ढके हैं। दाहिनी ओर हाथी और चीता हैं; बाईं ओर भैंसा और गैंडा हैं। सिंहासन के नीचे दो हरिण हैं।

सिंह वैसे भी वन का राजा समझा जाता है। वन का देवता या तो उसी का रूप धारण करता है या उससे किसी प्रकार सम्बन्धित रहता है। फ्रेंच लेखक आँरी बोदेस्सों ने हिन्द-चीन के असभ्य निवासियों के विश्वास के बारे में लिखा है कि चीता बन का स्वामी होता है; इसलिए किसी पेड़ को काटने के पहले उसकी आज्ञा माँगना आवश्यक होता है। अन्नाम प्रदेश के लोगों में पशुपति की उपासना प्रचलित है और इस देवता का चीते से निकट का सम्बन्ध है। यहाँ के असभ्य निवासी हाथी को पवित्र मानकर उसकी बलि देते हैं और उसकी जननेन्द्रियों को राँध कर खाते हैं।

नवीन और प्राचीन-दोनों ही प्रकार की अनार्य जातियों में लिंगो-पासना के साथ जगदम्बिका भवानी की उपासना भी प्रचलित है या थी। लाओशियन लोग ऐसे मन्दिर की यात्रा करते हैं जहाँ काली जैसी देवी की मूर्ति स्थापित है। इस काली देवी के हाथ में, जिसका रंग भी काला है, लिंग स्थापित है। पुरातत्त्व के विद्यार्थी जानते हैं कि नील नदी से लेकर सिन्धु घाटी तक प्राचीन काल में जगदम्बा की उपासना प्रचलित थी। इसके विपरीत आर्यों में पुरुष-देवों की प्रधानता थी और पुरुष देवों में पशुपति-पूजा या लिंगोपासना का अभाव था।

मोहेंजोदड़ों की संस्कृति में योग कितना विकसित हो चुका था, यह कहना कठिन है। उसके विकास का प्रमाण केवल मुद्राओं में अंकित आकार हैं। अनेक मुद्राओं में बैठने का एक विशेष आसन है—दाहिने पैर का घुटना छाती से लगा है और बाएँ पैर का घुटना समकोण बनाता हुआ सामने को है। पशु और वृक्ष-लता की उपासना को देखते

हुए यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि योग अपनी चरम सीमा तक विकसित न हुआ था। पशु और देवता एक मुद्रा में साथ-साथ बैठे ही नहीं मिलते वरन् उनके आकार भी बहुधा एक दूसरे से मिल जाते हैं। मोहेंजोदड़ों के बैल जिनका मुँह मनुष्य का है, क्रीट और असीरिया के गो-पुरुषों से मिलते-जुलते हैं। बैल, हाथी, वानर आदि देवता होने के साथ सम्भवतः सूर्य-चन्द्र की भाँति वंश चलाने वाले पुरखे भी थे ; जैसे चन्द्रवंशी और सूर्यवंशी क्षत्रिय होते थे, वैसे ही मिश्र में पशु-पुरखों की उपासना प्रचलित थी। मोहेंजोदड़ों की मुद्राएँ सम्भवतः इन्ही पशु-पूर्वजों की उपासना में बनाई गई थीं और उन पर जो अक्षर अंकित हैं, वे पूर्वजों के नाम अथवा मंत्र हैं, विशेषकर इसलिए कि मुद्राओं पर उनकी पुनरावृत्ति भी होती है। यदि बैल की उपासना गोवंशी करते थे तो मानना होगा कि इनके भाई-बन्द बहुत दूर-दूर तक फैले थे क्योंकि वृषभोपासना क्रीट से लेकर मोहेंजोदड़ों तक प्रचलित थी। ऋग्वेद में इन्द्र की वृषभ से तुलना करना क्या दासों को भयभीत करने के लिए न था ? तुम वृषभ की पूजा करते हो ? हमारा इन्द्र सौ वृषभों के बराबर है। ऐसी ध्वनि वृषभ से तुलना करने वाले मन्त्रों से निकलती है।

साधारण उपासना में अपना महत्त्व घोषित करने के लिए पुजारी या उपासक सिर में बैल के से सींग लगा सकता है। आसाम के "नागा' अब भी सिर में सींग लगाते हैं। मोहेंजोदड़ों के पशुपति के सिर पर भी दो विशाल सींग हैं। सुमेर ओर बैबिलोन में सींगों का इस भाँति प्रयोग किया जाता था। वृषभ की भाँति "वानर" भी पवित्र पशु था। मोहें-जोदड़ो की मुद्राओं पर बन्दरों को देखिए ओर हिन्द-चीन और आसाम के उन निवासियों का स्मरण कीजिए जो कमर से बन्दर की पूंछ बांधे रहते हैं। अनार्य संस्कृति का वह अजस्र प्रवाह पूर्वी-एशिया की घाटियों, उपत्यकाओं में ज्यों का त्यों बना है।

मोहेंजोदड़ो के निवासी लिंगोपासक थे। इसी तरह दक्षिण ग्रीस और क्रीट के प्राचीन निवासी भी शिश्नोपासक थे। ग्रीक (आर्य) जातियों ने इनसे लिंगोपासना सीखी। चौराहों पर ये लिंग स्थापित थे

और उनकी पूजा होती थी। सिसिली पर एथेन्स की सेना ने जब आक्रमण की तैयारी की थी, तब प्रयाण की रात्रि में ये लिंग चोरी चले गए थे। इसे अपशकुन माना गया था। हिन्दुस्तान के घरों में यह लिंग-गौरी की उपासना आज भी प्रचलित है।

१६४३

आधुनिक हिन्दी साहित्य की राजनीतिक विरासत

भारत में अंग्रेजी राज की जड़ जमने के साथ-साथ हिन्दी लेखकों ने उसके विरोध में अपनी आवाज़ भी बुलन्द की; अंग्रेजी राज्य की न्यामतों का पर्दाफाश करते हुए दुर्भिक्ष, महामारी, टैक्स और दमन की हकीकत का चित्र पाठकों के सामने रखा। देश की दशा सुधारने के लिए स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार को भारतेन्दु ने एक मुख्य साधन माना। २३ मार्च १८७४ की "कवि वचन सुधा" में उन्होंने अपना यह प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित कराया था : "हम लोग सर्वान्तिर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं, कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं, उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी न पहिरेंगे। हिन्दुस्तान ही का बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्राय: सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय की वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।"

भारतेन्दु ने इस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर ही न कराए थे, उन्होंने इन विचारों को अमल में लाने के लिए एक संस्था को भी जन्म दिया था जिसके सदस्यों को स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार करना होता था। इसलिए यह धारणा सही नहीं है कि सन् बीस से पहले लोग स्वदेशी का नाम न जानते थे या उसका नाम लेते भी डरते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारत में औद्योगिक शिक्षा के हामी थे। वह विदेशों से मशीनें मँगाकर यहाँ की औद्योगिक उन्नति करने के पक्ष में थे और इस तरह

वह उन लोगों से आगे थे जिन्होंने पचास साल बाद मशीनों का विरोध करके भारत को मध्यकालीन अवस्था में रहने की सलाह दी थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने राजनीतिक अनुभव का सारतत्व बतलाते हुए बलिया वाले अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में जनता से कहा था कि वह राजा-रईसों का भरोसा न करके अपनी शक्ति का भरोसा करें। सामाजिक उन्नति के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध का रास्ता न बतला कर उन्होंने सक्रिय प्रतिरोध का मार्ग दिखलाते हुए कहा था: "हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़ कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे, उसी तरह इस समय जो जो बातें तुम्हारे उन्नति-पथ की काँटा हों, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जाति से बाहर न निकाल दिये जायँगे, दरिद्र न हो जायँगे, कैद न होंगे, वरंच जानसे न मारे जायँगे तब तक कोई भी देश न सुधरेगा।"

स्वदेशी व्यवहार, अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध, जनता की मुक्ति के लिये स्वयं जनता की शक्ति का भरोसा—आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के जन्मदाता महान् देशभक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की हमारे लिए यही विरासत है।

भारतेन्दु युग के पत्रकारों ने अंग्रेजी राज की भारत-सम्बन्धी नीति की ही कड़ी आलोचना न की थी, उन्होंने साम्राज्यवादियों की अन्तरराष्ट्रीय युद्धनीति का सही रूप जनता के सामने पेश करके संसार के तमाम साम्राज्यविरोधियों का भाईचारा मजबूत किया था। जिस समय भारत के भावी उद्धारक अफ्रीका में जुलू लोगों के विरुद्ध अँग्रेजी फौज की हिमायत कर रहे थे, उस समय हिन्दी के एक पत्र "सारसुधानिधि" ने जुलू-पक्ष का समर्थन करते हुए लिखा था: "ये तो हम फिर भी कहेंगे कि जुलू इस युद्ध में प्रथम अपराधी नहीं है। इस महानरमेध का कारण निःसन्देह एकमात्र राजलोभ ही है।" इसी तरह चीन में पश्चिमी फौजों की लूट का वर्णन करते हुए गदाधर सिंह ने अपनी पुस्तक "चीन

में तेरह मास" में लिखा था : "किसी चीज की माँग होने पर तनिक भी विलंब होने से असहाय चीनी को सशरीर अर्पण होना पड़ता था। अवश्य चीज का चाहने वाला केवल चीज ही लेता था और लोथ को दया पूर्वक कुकुरों के भोजनार्थ दान कर देता था। कहा भी तो है—दान में दया देय, तीन लोक जीत लेय।" इस तरह साम्राज्यवादी लूट का क्रूर चित्र दिखाकर हिन्दी लेखकों ने तमाम साम्राज्यविरोधी शक्तियों के साथ सक्रिय सहानुभूति का रास्ता अपनाया। उन्होंने साम्राज्यवाद से तटस्थ रहना, उससे "नौनअलाइनमेंट" के रास्ते पर चलना हमें नहीं सिखाया। जब तक संसार में साम्राज्यवाद कायम है तब तक एक ही सही नीति हो सकती है—उसका सक्रिय विरोध, उसके विरोधियों से सक्रिय सहानुभूति।

भारत की जनता अंग्रेजी राज का सक्रिय विरोध करना चाहती थी, उसका सक्रिय विरोध करने के रास्ते पर बढ़ रही थी। जनता के इस बढ़ते हुए प्रतिरोध से भयभीत होकर अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने कांग्रेस को जन्म दिया जिससे जन-विरोध नर्म रूपों में प्रकट हो और जनता के सक्रिय प्रतिरोध में दरार पड़ जाय। हिन्दी के जागरूक लेखकों से यह कूटनीति छिपी न रही। अमरावती वाले काँग्रेस अधिवेशन पर बाल-कृष्ण भट्ट ने जो टिप्पणी की थी, वह हर देशभक्त के अध्ययन करने की वस्तु है। जनवरी-फरवरी १८९८ के "हिन्दी प्रदीप" के सम्पादकीय का शीर्षक है: "नये स्वर में पुरानी गीत। अकाल और महामारी का तेरहवां कानग्रेस।"

इस सम्पादकीय में कांग्रेस के जन्म का रहस्योद्घाटन करते हुए बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था:

"आप लोगों को मालूम है कि कानग्रेस, अंगरेजी शिक्षा और अंग-रेजों के साथ संपर्क होने का फल है—यह बीज इंगलैण्ड से आया और ह्यूम साहब की खेती से उपजा है—वेडरबर्न केन इत्यादि इसे सींचते रहते हैं—यदि इस खेती की हरियाली से आपकी आँख न जुड़ानी और इस हरे भरे बृक्ष के फलने का फल आपको न मिले तो दुर्भाग्य है—

इतना याद रखिये कि इंगलैण्ड ही की प्रजा होकर आप इस खेती को कर सकेंगे-इंगलैण्ड ही की रोशनी ऐसी है जो आपके हाथ में दी गई है कि ब्रिटिश शासक की त्रुटि को उस रोशनी से आप दिखावें और राजराजेश्वरी क्वीन इम्प्रेस के राज्य को जिसमें आपने अनन्त सुख उठाये हैं पुष्ट और चिरस्थायी कर दें—यही प्रयोजन प्रतिवर्ष के कानग्रेस का है जिसमें ब्रिटिश पार्लियामेंट को यह प्रत्यक्ष हो जाय कि ब्रिटिश राज्य के शत्रुओं को सर करने में बहुत सा रुपया खरच करना और बहुत से आदमियों के खून करने से कानग्रेस की सहायता लेना अत्युत्तम है—..." ।

इन वाक्यों का एक-एक शब्द सत्य उतरा है। कांग्रेस ने अंग्रेजी राज की त्रुटियों को अंग्रेजी रोशनी में देखा और दिखलाया । ब्रिटिश राज ने संगीनों को काफी न समझ कर कांग्रेसी नेतृत्व की सहायता लेकर जनता के क्रान्तिकारी विरोध को कुचला । आज भी भारत ब्रिटिश साम्राज्य उर्फ ब्रिटिश कामनवेल्थ का एक अंग है । भारत में ब्रिटिश पूंजी के रक्षक देश और जनता में अपनी जड़ें कायम होने की बातें करते हैं। वास्तव में उनकी जड़ें अंग्रेजी हितों की रक्षा में जमी हुई हैं, उनकी जड़ें भारत के बड़े-बड़े पूंजीपतियों और सामन्ती हितों की रक्षा में जमी हुई हैं। इसीलिए भारत की पीड़ित जनता को अपने साधारण हितों की रक्षा के लिए भी आये दिन लाठी-गोली का सामना करना होता है।

बालकृष्ण भट्ट के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्यकारों ने ह्यूम और वेडरवर्न से देशभक्ति का पाठ नहीं पढ़ा, उनमें राष्ट्रीय चेतना का असर ह्यूम और वेडरवर्न के वारिसों ने नहीं किया। उनकी देश-भक्ति का स्रोत भारतीय जनता थी, उनकी जड़ें वास्तव में देश की धरती और यहाँ की संस्कृति में थीं । इसलिये जहाँ वे अंग्रेजी राज के आलोचक थे, वहाँ उससे समझौते की चाह रखने वालों को भी उन्होंने नहीं बख्शा ।

बालमुकन्द गुप्त ने "शिवशंभू के चिट्ठे" और अपनी दूसरी व्यंग्य-

पूर्ण रचनाओं में अंग्रेजी राज की कड़ी आलोचना की। वह जैसा सुन्दर गद्य लिखते थे, वैसी ही शासकवर्ग की निर्भीक आलोचना भी करते थे। उन्होंने भारतीय जनता के स्वाधीनता-प्रेम को और आगे बढ़ाया। उन्होंने स्वाधीनता शब्द को एक नया अर्थ दिया। उनके लिए भारतीय जनता का अर्थ सबसे पहले यहाँ के गरीब किसान थे। उन्होंने धनी वर्ग को लक्ष्य करके लिखा था,

'हे धनियो ! क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार ?
जिसका मरे परोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।'

समाज में वर्ग भेद का उल्लेख करते हुए गुप्तजी ने लिखा था : –

'जिस अवसर पर अमीर सारे तहखाने सजवाते हैं।
छोटे-बड़े लाट साहब सिमले में चैन उड़ाते हैं।
उस अवसर पर मर खप कर दुखिया अनाज उपजाते हैं।
हाय विधाता उसको भी सुख से नहिं खाने पाते हैं।'

गुप्तजी ने यह कविता १८६० में लिखी थी। लेकिन देश के मौजूदा कर्णधार आज साठ साल बाद भी अपना दृष्टिकोण अमीरों का हित देखकर बनाते हैं, अनाज उपजाने वाले दुखियों के लिये उनके दिल में जगह नहीं है।

जैसे-जैसे भारत में प्रजा का शोषण बढ़ा और अंग्रेजी राज का दमन बढ़ा, वैसे-वैसे हिन्दी साहित्यकारों का प्रतिरोध भी बढ़ा। १९१७ की महान् रूसी क्रांति ने विश्व साम्राज्य का घेरा तोड़ दिया और एशिया का स्वाधीनता आन्दोलन और भी वेग से बढ़ा। तभी से साम्राज्यवादियों ने अपने दमन को न्यायपूर्ण ठहराने के लिये बोल्शेविज्म का हौवा भी खड़ा किया। यह ध्यान देने की बात है कि भारत में पहले पहल बोल्शेविज्म को दोषी ठहरा कर जनता को कुचलने का काम जलियानवाला बाग के हत्यारे माइकेल ओ डायर ने किया था। डायर की दलीलों की धज्जियाँ उड़ाते हुए बँगला पत्र 'प्रवासी' ने एक सुन्दर लेख छापा था। उसका अनुवाद अगस्त १९१९ की 'मर्यादा' में प्रकाशित हुआ है। उसी अङ्क के सम्पादकीय लेख में

अंग्रेज दमनकारियों को यह जता दिया गया है कि एशिया में बोल्शेविज्म का हौवा खड़ा करने से यहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन दबाये नहीं जा सकते।

यूरोप में हिटलर ने बोल्शेविज्म से संसार की रक्षा करने का बीड़ा उठाया था। वह अब माइकेल ओ डायर के साथ बैठकर अपने अनुभवों की चर्चा कर रहा होगा। वही काम फिर आइजनहावर और डलेस ने उठाया है। यदि इन्होंने अपना रवैया न बदला तो निःसन्देह ये भी शीघ्र ही डायर और हिटलर के साथ अपने अनुभवों की चर्चा करते होंगे।

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकन्द गुप्त आदि के सच्चे उत्तराधिकारी प्रेमचन्द ने १६१६-२० में अपना महान् उपन्यास 'प्रेमाश्रम' लिखा। इसमें उन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन में किसान-संघर्षों की महत्त्वपूर्ण भूमिका चित्रित की। किसानों के दमन और उनके प्रतिरोध का चित्र खींचते हुए उन्होंने यह परिणाम निकाला: 'सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।' समस्त नये हिन्दी साहित्य को सत्याग्रह से प्रभावित समझने वाले सज्जन इस वाक्य को ध्यान से पढ़ लें। साम्राज्यवादी प्रचार का खंडन करते हुए 'प्रेमाश्रम' का बलराज कहता है: 'मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है रूस में कास्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं।' प्रेमचन्द आजीवन किसानों के अधिकारों के हिमायती रहे और वह सच्चे देश-भक्त थे, इसीलिये वह आजीवन सोवियत संघ के समर्थक रहे। उन्होंने पूँजीपतियों के सोवियत-विरोधी प्रचार के बारे में लिखा था: 'सारी दुनियाँ के महाजनों की शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है; उसे शाप दे रही है। व्यक्ति स्वातंत्र्य, धर्म विश्वास की स्वाधीनता और अन्तरात्मा के आदेश पर चलने की आजादी, वह इन सब की घातक, गला घोंट देने वाली बताई जारही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जारहे हैं; नई-नई हुरमते तराशी जारही हैं। वह काले-से-काले रंग में रंगी जा रही है, कुत्सित से कुत्सित रूप में चित्रित की जारही है उन सभी साधनों से, जो पैसे वालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके

विरुद्ध प्रचार किया जारहा है, पर सचाई है, जो इस सारे अन्धकार को चीर कर दुनियाँ में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।' (हंस, सितम्बर १६३६)।

आज हिन्दुस्तान के बहुत से लोग यह उजाला अपनी आँखों से देख आये हैं। उन्होंने जो देखा है, उसे यहाँ की जनता को बता रहे हैं। इसी लिये महाजनों के प्रतिनिधि परेशान हैं। उन्होंने सोवियत संघ पर यह लांछन लगाया है कि कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा वह विभिन्न देशों में पूँजीपतियों के न्यायपूर्ण शासन का तख्ता उलट रहा है। इस तरह वह जनता के असन्तोष से अपने स्वार्थों की रक्षा करना चाहते हैं। लेकिन सचाई है कि अन्धकार को चीर कर दुनियाँ में अपना उजाला फैला रही है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यह प्रश्न उठाया था कि स्वाधीन भारत में स्वराज्य का रूप क्या होगा। 'गबन' का देवीदीन जनता का उद्धार करने वालों से कहता है: 'गरीबों को लूट कर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिये तुम्हारा इस देश में जनम हुआ है। साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। तुम्हारे और भाई-बन्धों की जिंदगी भले आराम और ठाट से गुजरे, पर देश का तो कोई भला न होगा। अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायगा, तब तो तुम गरीबों को पीस कर पी जाओगे।'

कांग्रेसी राज देखने के लिये प्रेमचन्द जीवित नहीं रहे लेकिन भविष्य क्या होगा, उन्होंने देख लिया था। 'गबन' के देवीदीन ने जिन 'देशभक्तों' के लिए कहा था कि गरीबों को लूट कर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है, वही काम वे सज्जन आज बेशर्मी से कर रहे हैं। देवीदीन ने जो चेतावनी दी थी, ये गरीबों को पीसकर पी जायेंगे, उसमें

भी उन्होंने कसर नहीं उठा रक्खी। ऐसे ही नेताओं के बारे में हिन्दी के महान् कवि निराला ने सन् १६३१ में लिखा था : 'अभी तो महलों में रह कर, कुटियों की सैर करके, देहात-दर्शन और देहातियों को उपदेश होते हैं—पुनः मोटर पर भ्रमण करते हुए। यह शिक्षा नहीं, शिक्षा का एक शिक्षाप्रद हास्य है।' (प्रबन्ध प्रतिमा, पृष्ठ ७८)।

सन् ३० से ४० तक के वर्ष हिन्दी साहित्य में बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन वर्षों में हिन्दी साहित्य यथार्थवाद की भूमि पर और आगे बढ़ा। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में महाजनों के कठिन शोषण के साथ-साथ राय साहब जैसे दुरंगी नीति पर चलनेवालों का भी चित्र खींचा। प्रसादजी ने 'तितली' में भूमि-समस्या का सही रूप पेश करते हुए बताया कि इस समस्या को हल करने के लिये चकबंदी आदि की योजनाएं बेकार हैं। जमीन जोतनेवाले को मिलेगी तभी यह समस्या हल होगी। निराला ने देवी, चतुरी चमार, कुल्ली भाट आदि अपने अपूर्व रेखाचित्रों में गरीबों की दशा का चित्रण ही नहीं किया वरन् जो उनके उद्धार का ढोंग रचते थे, उन्हें भी बेनकाब कर दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य' नाम के निबन्ध में चन्दाप्रेमी लेक्चरबाज नेताओं पर व्यंग्य करते हुए 'मेघदूत' में भारतवर्ष के चित्रण पर लिखा है : 'जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूल कर कभी-कभी मग्न हुआ करता है, वह घूम-घूम कर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी औसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश प्रेमी है।'

साहित्य और राजनीति के परस्पर भेद और सम्बन्ध पर उसी निबन्ध में शुक्लजी के ये वाक्य स्मरणीय हैं : 'यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रंदन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा

को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढँग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का।'

इस तरह हमारे साहित्यकारों ने जनता को स्वाधीनता-प्रेम ही नहीं सिखाया, उसे जनवादी चेतना भी दी। उन्होंने हिन्दी लेखकों को जनता का पक्ष लेना सिखाया। भारत में अंग्रेजी हितों के रक्षकों का विचार है कि भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता अन्याय का निष्क्रिय प्रतिरोध है। भारतीय संस्कृति से थोड़ा बहुत सम्बन्ध रामायण और महाभारत का भी है, वाल्मीक, व्यास और तुलसीदास का भी है। इनका कौनसा चरितानायक अन्याय का निष्क्रिय प्रतिरोध करता है? कृष्ण और अर्जुन ने कब दुर्योधन के आगे सत्याग्रह किया, राम ने कब लंका के दरवाजे भूख-हड़ताल की? मानव-करुणा के अनुपम कवि तुलसीदास ने ही राम से कहलाया है:

"जो रन हमैं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥"

प्रेमाश्रम, कर्मभूमि आदि में प्रेमचन्द के किसान वीरता से ब्रिटिश आतंक का सक्रिय विरोध करते हैं। निष्क्रिय प्रतिरोध से प्रभावित होकर हिन्दी में एक अच्छी कविता, एक अच्छी कहानी नहीं लिखी गई। कांग्रेस की प्रसिद्ध कार्यकर्त्री स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान ने राष्ट्रीय आंदोलन की सबसे लोकप्रिय कविता लिखी थी—झांसी की रानी लक्ष्मीबाई पर। उसकी लोकप्रियता का कारण था—भारतीय जनता के हृदय में छिपी हुई सक्रिय प्रतिरोध-कामना। निष्क्रिय प्रतिरोध का अर्थ कांग्रेसी नेतृत्व के लिए यही रहा है, जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष को रोकना और साम्राज्यवाद से समझौते के लिए द्वार खुला रखना। और अब तो उसने सक्रिय दमन का मार्ग अपनाया है। जनता को निष्क्रिय प्रतिरोध का भी अवसर न देकर वह आप सक्रिय दमन की राह पर चलता है। और इस दमन को छिपाने के लिये वह दावा करता है, जनता में अपनी गहरी जड़ें होने का!

हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण विरासत है, स्वाधीनता-प्रेम, संसार

की साम्राज्यविरोधी जनता से भाईचारा, गरीब जनता की तरफदारी और दुरंगी राजनीति का भण्डाफोड़। सोवियत क्रान्ति ने विश्व-साम्राज्यवाद का घेरा पहली बार तोड़ा। आज जब वह दरार कैन्तन और हानोई से लेकर प्राग और बर्लिन तक फैल गई है, तब हम अपनी जनता के सुखी भविष्य में अटूट विश्वास के साथ हिन्दी साहित्य की इस अमूल्य विरासत को गर्व के साथ याद करते हैं। १९५५

भारत में अंग्रेज़ी राज की स्थापना पर मार्क्स के विचार

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक कार्ल मार्क्स ने भारतीय इतिहास के घटनाक्रम (६३२ ई० से लेकर १८५८ ई० तक) की एक संक्षिप्त तालिका तैयार की थी। इसे १६४७ में मार्क्स-ऐंगेल्स-लेनिन इन्स्टीट्यूट मौस्को ने रूसी भाषा में प्रकाशित किया था। इन्स्टीट्यूट के अनुसार यह पांडुलिपि मार्क्स के अन्तिम दिनों की है जिसमें मार्क्स ने अंग्रेजी राज के सिलसिले में इस बात का अध्ययन किया है कि भारतीय जनता के पाशविक शोषण द्वारा किस तरह ब्रिटेन का औपनिवेशिक साम्राज्य निर्मित हुआ।

मार्क्स ने भारत-संबन्धी अपने प्रसिद्ध पत्रों में अंग्रेज़ी राज की भूमिका के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका मत था कि अंग्रेज़ी राज के कारण यहाँ के ग्रामीण समाज में मौलिक परिवर्तन हुए, खेती और उद्योग-धन्धे, जो तब तक परस्पर जुड़े हुए थे, एक दूसरे से अलग हुए। इस तरह प्राचीन समाज-व्यवस्था के ध्वंस के बाद नयी प्रगति के लिए रास्ता खुला। कुछ लोगों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत में अंग्रेजी राज की भूमिका क्रान्तिकारी थी, इसलिए उस समय की प्रगतिशील शक्तियों ने अंग्रेजों का साथ दिया और सामन्तों आदि प्रतिक्रियावादियों ने ही अंग्रेजों का विरोध किया। यह स्थापना मार्क्स के भारत संबन्धी पत्रों से भी पुष्ट नहीं होती; भारतीय इतिहास के घटनाक्रम की तालिका से तो वह एकदम निर्मूल हो जाती है। इस तालिका में साधारणः तिथि देकर घटना का उल्लेख मात्र कर दिया गया है किन्तु घटनाओं के चयन से और जहाँ-तहाँ मार्क्स की सम्मति से भारतीय इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण समझ में आ जाता है। १८५७ के विप्लव का मूल्यांकन करने के लिए—या उसके

प्रति मार्क्स का दृष्टिकोण समझने के लिए—भारत में अंग्रेजी राज के संबन्ध में मार्क्स की कुछ मूल धारणाओं से परिचित होना आवश्यक है।

मार्क्स के लिये भारत से व्यापार करने और यहाँ अपना राज्य स्थापित करने वाले अंग्रेज शुद्ध लुटेरे हैं। उन्हें न सिद्धान्त-पालन की चिन्ता है, न देशभक्ति और सभ्यता का ध्यान है। उनका मूल मन्त्र है पैसा और इसके लिये वे हर झूठ और फरेब से काम लेने में जरा भी नहीं हिचकते। उन्होंने भारतीय सामन्तों को कर्ज़ दिया, उनके यहाँ फौजें रक्खीं, एक दूसरे को लड़ाया और इस तरह अपना उल्लू सीधा किया। अंग्रेज़ महाजनों ने आर्काट के नवाब मोहम्मद अली को कर्ज़ दिया। इनके लिए मार्क्स ने "सूदखोर डाकू" शब्दों का प्रयोग किया है, उन्हें कर्नाटक की जनता का "खून चूसनेवाले बदमाश" कहा है। निज़ाम को पामर एण्ड कम्पनी ने भारी रकमें कर्ज़ में दीं और इससे लाभ उठाने वालों में गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स भी था। उसने पामर एण्ड कं० को निजाम से कुछ "बहुत ही संदिग्ध समझौते करने की अनुमति दी थी"। सूदखोरी द्वारा दूसरों की संपत्ति हड़पना सामन्ती शोषण का सुपरिचित तरीका है। भारत में अंग्रेज वही तरीका काम में ला रहे थे।

भारतीय सामन्तों के यहाँ अपनी फौज रखकर उसके खर्च के लिये रुपया वसूल करना जनता को लूटने का दूसरा तरीका था। १७६१ की घटनाओं की तालिका इस प्रकार है: "दक्खिन के सूबेदार सलाबत जंग को उसके भाई निजाम अलीने पकड़कर कैदखाने में डाल दिया और अपने को नवाब घोषित कर दिया। मद्रास के गवर्नर ने 'कंपनी नवाब' (कर्नाटक के नवाब मोहम्मद अली) से पचास लाख रुपये अंग्रेजी सेना के खर्च के लिये मांगे जिसे रखने का वह वचन दे चुका था। मोहम्मद अली ने अंग्रेजों से कहा कि तंजोर से रुपया खींचो। मद्रास के गवर्नर ने तंजोर के राजा को धमकी दी कि रुपये न दिये तो

उसकी रियासत 'जब्त' कर ली जायगी। वह राजी हो गया। इस तरह कर्नाटिक में अंग्रेज सैनिकों के खर्च के लिये रकम वसूल की गई!" मार्क्सका आश्चर्यचिन्ह (!) इस व्यापार के प्रति उनकी भावना अच्छी तरह प्रकट करता है।

अंग्रेजों ने भारत को लूटने के लिये तरह-तरह के उपायों से काम लिया। अवध के नवाब से मिलकर उन्होंने रुहेलखंड लूटा। मार्क्स ने रुहेलों के विरुद्ध इस लड़ाई को "लज्जाजनक" कहा है और अंग्रेजों को "डाकू" की संज्ञा दी है: "डाकू रुहेलखंड से चले गये लेकिन इसके पहले वे उसे तबाह कर गये"। कर्नाटिक के नवाब की ओट में कम्पनी और अंग्रेजों ने तंजोर को लूटा और लूटका सबसे बड़ा हिस्सा नवाब के निजी महाजनों के हाथ लगा। मार्क्स ने इसे "तंजोर की घृणित कहानी" कहा है। अंग्रेजों ने अवधको अंग्रेजी राज में मिला लिया; इस कांड को भी मार्क्स ने "लज्जाजनक" कहा है। विलेज़ली ने अवध के नवाब से कहा कि वह अपनी सेना भंग कर दे और अंग्रेजी सेना रखकर उसका खर्च दे। "इसका अर्थ यह था : अवध की सारी सैन्य व्यवस्था कंपनी को सौंप दो और साथ ही अपनी गुलामी के लिये खर्चा भी भरो!"

इस अन्तिम उद्धरण से एक बात और स्पष्ट होती है—भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता की समस्या की ओर मार्क्स का ध्यान। अवध में नवाबी थी; फिर भी अवध स्वाधीन था। अंग्रेजी राज में मिलाने का अर्थ था—अवध को गुलाम बनाना। इस स्वाधीनता के लिये जो भी लड़ता है—जनता, सिपाही, सामन्त—उसके प्रति मार्क्स की सहानुभूति है। अंग्रेजों से सिराजुद्दौला की लड़ाई के सिलसिले में मार्क्स ने लिखा है, "अब बंगाल पूरी तरह और नितान्त आमूल रूप से बिन बुलाये अंग्रेज मेहमानों से मुक्त कर दिया गया।" मार्क्स ने सबसे पहले कलकत्ते की "ब्लैक होल" वाली प्रचार-कथा का पर्दाफाश किया था। "२१ जून १६५६ की शाम को 'बनिये बक्काल' (अर्थात् अंग्रेज—रा० वि०) भाग खड़े हुए। रात को 'जलते हुए कारखानों के प्रकाश में'

हालवेल ने किले की रक्षा की । तूफानी हमला करके किला ले लिया गया; किले के सैनिक बन्दी बना लिये गये । सिराज ने आज्ञा दी कि सवेरे तक सैनिकों में से किसी को भी कुछ न किया जाय। लेकिन (मालूम होता है अनजान में) १४६ सैनिक सबके सब बीस वर्गफुट के कमरे में ठूंस दिये गये जिसमें केवल एक खिड़की थी। दूसरे दिन सवेरे (यह कहानी खुद हालवेल की कही हुई है) २३ आदमी बचे जिन्हें हुगली में तैर कर निकल जाने की अनुमति दे दी गई। यही 'कलकत्ते की ब्लैक होल' की कहानी है जिसके बारे में मक्कार अंग्रेज अब तक इतना शोर करते रहे हैं।"

भारत की सामन्ती शक्तियाँ आपस में लड़ती रहीं और क्रमशः निर्बल होकर अंग्रेजों के लिये मैदान साफ करती रहीं। १६ वीं शताब्दी के आरंभ में "अंग्रेज के अलावा केवल एक बड़ी शक्ति बच रही मराठों की ।" ये भी आपस में लड़ कर क्षीण हो रहे थे । १८१७ की घटनाओं के सिलसिले में सिन्धिया के बारे में मार्क्स ने लिखा हैं, "अब सिन्धिया ही ऐसा सरदार रह गया था जिसके पास फौज थी और स्वाधीन सत्ता का कुछ आभास बना हुआ था।" स्वाधीनता का प्रश्न महत्वपूर्ण था, इसलिये अंग्रेजों का साथ देने वालों को मार्क्स ने गद्दार कहा है। क्लाइव ने "गद्दार मीरजाफर को बंगाल का सूबेदार बनाया" । मार्क्स ने इसी सन्दर्भ में अंग्रेजों के विरुद्ध सन् ५७ के विद्रोह को परखा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत के सभी सामन्त देश की स्वाधीनता के लिये लड़ रहे थे । मार्क्स की दृष्टि से सामन्तों की लूटपाट छिपी न थी।

१७७३ में "मराठों ने अवध को लूटने का विचार किया ।" १७८७ में "खूँखार रुहिल्लों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और दो महीने तक लूटमार करते रहे"। इसी तरह मार्क्स ने हैदर अली की निर्दयता और लूटपाट का उल्लेख किया है । अवध का नवाब आसफुद्दौला "आलस्य और विलासिता का जीवन बिताता रहा था" । आर्कट का नवाब "पक्का फिज़ूलखर्च" था । पिण्डारियों की लूटपाट और ठगों

का उल्लेख भी मार्क्स ने किया है। इस तरह अंग्रेज़ी राज कायम होने के पहले भारतीय सामन्तों ने आपसी लड़ाई और लूटपाट से जनता को तबाह कर रक्खा था। अंग्रेजों का चरित्र इन देशी सामन्तों से कुछ ज्यादा अच्छा न था। मार्क्स ने उन्हें "मूर्ख", "गधा', "बक्काल" आदि की उपाधियों से विभूषित किया है। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के संचालकों में एक हेनरी डंडास नाम का आदमी थी जिसके लिये मार्क्स ने "पाजी" या "नालायक" जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। मार्क्स ने अंग्रेजों की धूर्तता की अनेक मिसालों का ज़िक्र किया है: "निजाम की रक्षा के लिये अंग्रेजों ने हैदर अली से कर्नाटक जीतकर मराठों को चौथ देने की योजना बनाई; फिर उन्हीं अंग्रेजों ने दुरंगे समझौते करके हैदर अली और बादको टीपू को उत्तरी सरकार का राजा स्वीकार कर लिया"; कार्नवालिस ने निजाम को वचन दिया कि "वह अंग्रेजों का साथ देगा तो वे उत्तरी सरकार उसे दे देंगे!" सर जार्ज बार्लौ ने "जैपुर के राजा को जो अंग्रेजों का मित्र था, मराठों की लूट के लिए छोड़ दिया" इत्यादि।

अंग्रेजों ने यहाँ की न्याय-व्यवस्था में बिना समझे बूझे परिवर्तन किए। यहाँ की भूमि पर अपना अधिकार किया। अंग्रेजों के शोषण से जनता में घोर असन्तोष फैला। मार्क्स ने सामन्तों की तुलना में अंग्रेजों की नीति से जनता को अधिक रुष्ट दिखलाया है। १८ वीं सदी के उत्तराद्ध में कंपनी के चाकरों ने खूब धन बटोरा। "कम्पनी के चाकरों ने जो विशाल धनराशि बटोरी, उससे और उनके नवाबी रहन-सहन से भी इंगलैंड में ईर्ष्या पैदा हुई। पार्लियामेंट में इस धन राशि के उद्गम, उत्पीड़न और धन बटोरने की भयानक व्यवस्था और कम्पनी के तमाम कामकाज की तीखी आलोचना हुई।" क्लाइव ने कम्पनी के चाकरों को व्यापार करने की छूट दे दी थी; नतीजा— "उन्होंने रैयत को बुरी तरह लूटा।" "जनता में असन्तोष" फैला। जनता भावना-शून्य मांस-पिण्ड नहीं थी; अंग्रेजी अन्याय के प्रति उदासीन नहीं थी। १७७२ में कम्पनी के कारनामों की जाँच करने के लिये जो

कमीशन बना, उसने "व्यक्तिगत रूप से धन बटोरने के लिये जो धोखा-धड़ी, मारपीट, उत्पीड़न की व्यवस्था चलाई गई थी, उस सबका पर्दाफाश किया।" वारेन हेस्टिंग्स के समय में कम्पनी के चाकरों ने "धन बटोरा था, मेहनत से नहीं, हिन्दुस्तानियों से रुपये खींचकर।" कर्नाटक में अंग्रेज महाजनों ने देश को तबाह कर दिया। "ये मुफ्तखोर बड़े जमींदार बन बैठे और खूब धन बटोरने का अवसर मिला। इन्होंने रैयत को सताया। इन नये अंग्रेज जमींदारों ने देशी किसानों पर घोर अनैतिक अत्याचार किये। उन्होंने और नवाब ने सारे कर्नाटक को उजाड़ दिया।" इस तरह अंग्रेजों ने भारत की पतित सामन्ती शक्तियों के साथ मिलकर जनता को तबाह किया। कर्नाटक से अकेले पौल बेनफील्ड नाम के आदमी ने छः लाख पाउन्ड कमाये। उसने और अन्य लोगों ने पैसे खींचने का बिल्कुल शर्मनाक तरीका निकाला और कर्नाटक की जायज़ मालगुज़ारी नाजायज़ ढंग से हड़प ली। यह सब हेनरी डंडास के कारण सम्भव हुआ जिसका अन्त १८०६ के "सुअरपन" से हुआ। (उसने इंगलैण्ड में जल-सेना के सिलसिले में राज्य का पैसा गबन किया था)। नबाब पर कर्जे लादकर अंग्रेजों ने जनता को लूटा। "इस तरह अंग्रेजी शासन का संचालन किया गया! क्योंकि पिट का बिल पास होने के बाद, कम्पनी नहीं, पिट दुखी भारतीय जनता का स्वामी बन गया था।" भारत की दुखी जनता से मार्क्स का यह प्रेम वैज्ञानिक समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता का ज्वलन्त प्रमाण है।

बंगाल में पक्का बन्दोबस्त करके अंग्रेजों ने देशी जमींदारों के साथ मिलकर देश को लूटा। अंग्रेजों के न्याय से "जनता की हालत न सुधरी; उल्टे हालत और गिर गई, जनता और भी सताई गई और समूची कर-व्यवस्था विशृंखल हो गई।" यह असम्भव था कि जनता चुपचाप सब कुछ सहती रहती। बंगाल में इसका परिणाम यह हुआ: "किसानों की 'सामान्य और व्यक्तिगत संपत्ति' की इस लूट का तात्कालिक फल था, अपने ऊपर लादे हुए टैक्स वसूल करने वाले जमींदारों के खिलाफ किसानों के विद्रोहों का ताँता।" जो लोग समझते हैं कि

सन् ५७ में या उसके पहले अंग्रेजी नीति के खिलाफ जनता लड़ी ही नहीं, लड़े तो प्रतिक्रियावादी सामन्त ही "प्रगतिशील" अंग्रेजों के मुकाबले में अपने वर्ग-स्वार्थों के लिये लड़े, वे मार्क्स द्वारा उल्लिखित "विद्रोहों का ताँता" पर ध्यान दें। ये विद्रोह किसानों ने किये थे और उनका सीधा सम्बन्ध अंग्रेजों की भूमि सम्बन्धी नीति से था। इसी तरह मैसूर का राजा किसानों पर बड़े अत्याचार करता था "जिससे कि १८३० में आधे राज्य में विद्रोह फूट पड़े। अंग्रेज फौज ने विद्रोहों का दमन किया।" अंग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीति की यह एक और मिसाल है। सामन्ती शक्तियों से मिलकर वे विद्रोही किसानों को दबा रहे थे। राजा की पेन्शन नियुक्त कर दी गई। राज्य की मालगुजारी का पाँचवाँ भाग उसके लिए छोड़ दिया गया, "टैक्स बढ़ाने से यह आखिरी 'नेवाला' बहुत ही ज़ायकेदार हो गया। इस प्रकार राज्य हड़पने के बाद राजाओं और रजुल्लों को पेंशन देकर अंग्रेजों ने गरीब भारतवासियों पर नये बोझ लाद दिये।" इसके बाद ही मार्क्स ने संथाल आदि जातियों के विद्रोह का उल्लेख किया है जिनका दमन "भारी रक्तपात के साथ" हुआ। मार्क्स ने आगे सन् १८५५-५६ के संथाल विद्रोह का जिक्र किया है; "सात महीने तक छापेमार लड़ाई चलाने के बाद फरवरी १८५६ में विद्रोह दबा दिया गया।"

एशिया में अंग्रेजी राज के प्रसार के विरुद्ध जनता का रोष बढ़ रहा था, इसका प्रमाण अंग्रेजों से पठानों का युद्ध भी है। कन्दहार के विद्रोह को अंग्रेजों ने निर्दयता से दबाया। "हेरात की जनता ने अपने को खुल्लम खुल्ला अंग्रेजों के विरुद्ध घोषित किया। अंग्रेज हमलावरों के खिलाफ सारे देश में रोष फैल गया।" जो बात पठानों पर लागू होती है, वह उत्तर भारत की जनता पर भी लागू होती है। जिस समय अंग्रेज फौज अफगानिस्तान से लौट रही थी, उस समय दर्रे के पास की चट्टानों से स्थानीय निवासियों ने "अंग्रेज कुत्तों को गोलियाँ मारी।' इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय जनता को विदेशी अंग्रेजों से घृणा थी और मार्क्स ने इस स्वाधीनता की चेतन

पर ध्यान दिया। इससे अंग्रेजों द्वारा स्वाधीनता की चेतना फैलाने के किस्से हवा में उड़ जाते हैं।

इस सारी परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही १८५७ के विप्लव का महत्व समझा जा सकता है। मार्क्स ने घटनाओं की तालिका देने के अलावा इस विप्लव पर एक बहुत ही सारगर्भित वाक्य लिखा है। डलहौज़ी ने भारत में रेल-तार चलाने और मालगुजारी बढ़ाने के बारे में एक "गर्वपूर्ण रिपोर्ट" दी थी। "इस गर्वोक्ति का उत्तर थी १८५७-५६ की सिपाही क्रान्ति !" इस एक वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स के लिए सन् ५७ के विप्लव का कारण अंग्रेजों का अत्याचार और उससे मुक्ति पाने के लिए जनता का संघर्ष था।

विद्रोह के घटनाक्रम की तालिका में कारतूसों में चर्बी की बात, सिपाहियों की लूट पाट, अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों के मारे जाने का भी उल्लेख है। यह भी विद्रोह का एक पहलू था। इससे यह स्थापना खंडित नहीं होती कि वह स्वाधीनता-संग्राम भी था। वह स्वाधीनता संग्राम था, इसलिये मार्क्स ने सिन्धिया को "अंग्रेजों का वफादार कुत्ता" कहा। यही शब्द मार्क्स ने नेपाल के जंगबहादुर सिंह के लिये प्रयुक्त किये हैं। "पटियाला के राजा ने—कैसी लज्जा की बात है !—अंग्रेजों की सहायता के लिए भारी सेना भेजी !" मार्क्स के लिये अंग्रेजों की सहायता करना लज्जा की बात थी, न कि प्रगतिशील।

उत्तर भारत में विद्रोह ने व्यापक रूप लिया। "सारे हिन्दुस्तान में विद्रोह छा गया (यहाँ हिन्दुस्तान से तात्पर्य बहुत कुछ हिन्दी भाषी प्रदेश से है।--रा० वि०)। बीस विभिन्न स्थलों में एक साथ सिपाही-विद्रोह और अंग्रेजों के कत्ल शुरू हुए। मुख्य केन्द्र थे : आगरा, बरेली, मुरादाबाद।" मार्क्स ने रानी लक्ष्मी बाई को विद्रोह का "सबसे प्रमुख नेता" कहा है। मार्क्स की टिप्पणियों में अवध की विशेष भूमिका भी स्पष्ट है। "पिछले कुछ वर्षों में सिपाहियों की सेना का संगठन काफी शिथिल हो गया था। उसमें अवध के चालीस हजार

सैनिक थे जो अपनी बिरादरी और जातीय एकता से परस्पर संबद्ध थे। सेना का जीवन एक था। अधिकारी एक भी पल्टन को रुष्ट कर दें तो सभी पल्टनें इसमें अपना अपमान समझती थीं। अनुशासन छिन्न-भिन्न हो गया था। खुले विद्रोह बराबर होने लगे थे जिन्हें न्यूनाधिक प्रयत्न से दबाया गया था। चर्बी वाले कारतूसों से पहले ही सेना में यह विद्रोह फैल रहा था। सन् ५७ की भूमिका-रूप अनेक बार विद्रोह हो चुके थे। इसलिये सन् ५७ का विप्लव आकस्मिक घटना न थी।

विद्रोह दबा दिया गया। अंग्रेजों ने लखनऊ को लूटा "जहाँ प्राच्य कला की निधियाँ संगृहीत थीं।" "रानी मारी गई, उसकी सेना भयानक युद्ध के बाद परास्त हुई"। "अवध की भूमि का अपहरण, जिसे कैनिंग ने भारत की अंग्रेज सरकार की संपत्ति घोषित किया!" कम्पनी का राज खतम हुआ; "भारत 'महान्' विक्टोरिया के साम्राज्य का एक सूबा बन गया।" मार्क्स की पुस्तक का यह अन्तिम वाक्य है जिसका संकेत इस तथ्य की ओर हैं कि सन् ५७ के विप्लव के बाद भारत पराधीन हुआ। भारत की स्वाधीनता-समस्या पर विचार करते हुए मार्क्स ने पुस्तक को समाप्त किया है।

अंग्रेजों ने भारत में सामन्ती ढंग से, सूदखोरी और दगाबाजी से, युद्ध और अत्याचार से जनता को लूटा और अपना राज्य कायम किया। मार्क्स ने उनके लिये डाकू और लुटेरा शब्दों का प्रयोग किया है। भारतीय जनता ने अनेक बार विद्रोह किया और इन विद्रोहों में सामन्तों के खिलाफ किसानों के संघर्ष भी हैं। मार्क्स ने तटस्थ न रह कर भारतीय जनता का पक्ष लिया, उसके हितों से विश्वासघात करनेवालों को गद्दार कहकर उन्हें इतिहास के समक्ष अपराधी ठहराया। भारतीय इतिहास के प्रति मार्क्स का यह दृष्टिकोण उनकी वैज्ञानिकता और अन्तरराष्ट्रीयता का प्रमाण है। वह आज भी अपने पिछले इतिहास के समझने में हमारी सहायता करता है और भारत से सम्राज्यवादी और सामन्ती अवशेष खतम करने की प्रेरणा देता है। १९५६

मानव-संस्कृति और पूँजीवादी राष्ट्रवाद

मार्क्स ने एक जगह लिखा है कि कम्युनिज्म वह मानववाद है जिसका आधार व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है।

आदि मानव-समाज के बाद व्यक्तिगत संपत्ति के जन्म के साथ वर्तमान मानव-सभ्यता का भी जन्म हुआ। मनुष्य के विकास में व्यक्तिगत सम्पत्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका पूरी की है। मानव-संस्कृति के भौतिक आधार में इस व्यक्तिगत सम्पत्ति के विभिन्न रूप रहे हैं। दासों के स्वामी, भूमि के स्वामी, कल-कारखाने के स्वामी–किसी न किसी रूप में विशाल व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामी रह कर—ये सब मानव-समाज के उत्थान-पतन, उसके विकास और ह्रास में योग देते रहे हैं। लेकिन इस व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण शासकों और शासितों का परस्पर विरोध, विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के शासक वर्गों का परस्पर विरोध, एक ही शासक वर्ग का अपना अन्तर्विरोध भी उठ खड़ा हुआ है। अफ्रीका के कबीलों से यों पेश न पाकर गुलामों के सौदागरों ने उन्हें आपस में लड़ाया और उनका संयुक्त विरोध खत्म करके उन्हें गुलाम बनाया। प्राचीन यूनान के दो महान् राज्य एथेन्स और स्पार्टा एक लम्बे युद्ध में क्षीण होकर यूनान के पतन का कारण बने। अरब, तुर्क, ईरानी, पठान आदि जातियों ने एक दूसरे का न जाने कितना रक्त बहाया और दूसरों को भी गुलाम बनाया। बीसवीं सदी में इजारेदार पूंजीवाद के विकास के साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभूतपूर्व केन्द्रीकरण हुआ और संसार का बँटवारा करने के लिए ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, फ्रान्स, अमरीका आदि में भयानक युद्ध हुए।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में राजाओं और जागीरदारों का परस्पर युद्ध एक साधारण बात थी। तुर्कों की विजय का एक मुख्य

कारण यहाँ के शासक वर्ग का आन्तरिक विघटन था। अंग्रेज आक्रमण-कारियों ने नष्ट होते हुए सामन्तवर्ग में अपने साथी ढूँढ़ निकाले और "फूट डालो, राज करो" की नीति को पूरी तरह चरितार्थ किया। सन् ५७ में सामन्तवर्ग का एक हिस्सा स्वाधीनता-संग्राम में शामिल हुआ, लेकिन संगठन, एकता और युद्ध-कौशल में इसने अपनी पतनशीलता का परिचय दिया। अधिक योग्यता उन्होंने दिखाई जिनका जन-साधारण से गहरा सम्पर्क था या उन्हीं से निकल कर जो नेता बने थे। उनके विपरीत कुछ नेता स्वाधीनता-संग्राम के सहायक बनने के बदले अपनी अदूरदर्शिता और संगठन की अयोग्यता के कारण स्वाधीनता-संग्राम की असफलता के कारण बने। अंग्रेजों ने भारत की बहुजातीयता से पूरा लाभ उठाया। एक जाति को दबाने के लिए उन्होंने दूसरी जाति के सैनिकों का बराबर उपयोग किया। चीन में साम्राज्यवादियों की सीधी हुकूमत कायम न हो सकी, इसका एक कारण चीन में एक ही जाति की प्रमुखता थी। चीन भी बहुजातीय देश है, लेकिन भारत की तरह नहीं। वहाँ की गैर-चीनी जातियों की जनसंख्या बहुत थोड़ी है जब कि भारत में हिन्दी, मराठा, तमिल, कन्नड़, आन्ध्र, बङ्गाली, पंजाबी आदि अनेक बड़ी-बड़ी जातियाँ हैं। बीसवीं सदी में भारत के विभिन्न पूँजीवादी इलाकों में जैसे-जैसे पूँजीवाद विकसित हुआ, वैसे-वैसे पूँजीवादी राष्ट्रवाद की भावना भी फैली। अंग्रेजों ने इसे खूब पुचाड़ा दिया और बिहारी, बङ्गाली, तमिल, तेलगू, मराठा, गुजराती आदि के परस्पर जातीय द्वेषभाव को खूब उत्तेजित किया। अंग्रेजों की जातीय उत्पीड़न की नीति का एक रूप हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष भी था जिसके फलस्वरूप बंगाली और पंजाबी जातीयों का विभाजन और उनके साथ देश का विभाजन भी हुआ।

कांग्रेसी शासन में जातीय द्वेष घटने के बदले और बढ़ा है। भारत के बड़े पूँजीपतियों का आपसी विरोध, बड़े और छोटे पूँजीपतियों का विरोध, पड़ोसी जातियों के पूँजीपतियों का अन्तर्विरोध इस द्वेषभाव को बढ़ाने में सहायक हुए हैं। इसका एक रूप भाषावार प्रान्तों के लिए

ग्रान्दोलन को दबाना ग्रौर उसमें विभक्त हितों की टक्कर है। इस टक्कर में पूँजीपति ग्रपने साथ मध्यम-वर्ग के ग्रलावा किसानों ग्रौर मजदूरों को भी घसीटने की कोशिश करते हैं। भारत जैसे देश की एकता, सुरक्षा और विकास के लिए यह ग्रनिवार्य शर्त है कि यहाँ की जातियों में एकता ग्रौर सहयोग हो। ग्रगर बंगाली ग्रौर बिहारी, बङ्गाली ग्रौर ग्रासामी, गुजराती ग्रौर मराठे, तमिल ग्रौर तेलगू, तमिल ग्रौर मलयाली ग्रापस में लड़ें तो इससे देश की सुरक्षा, एकता ग्रौर प्रगति में बाधा ही पड़ेगी। इधर जातीय विद्वेष की भावना ऊपर के लोगों तक सीमित न रह कर मजदूरों में भी पनपने लगी है। इस स्थिति के प्रति कोई भी उदासीन नहीं रह सकता।

भारत की विभिन्न जातियों की एकता बनाये रखने ग्रौर उसे दृढ़ करने का एक ही उपाय है कि इन जातियों के समान ग्रधिकारों को हम स्वीकार करें, उनकी एकता समानता ग्रौर सहयोग के ग्राधार पर कायम की जाय, न कि ग्रसमान ग्रधिकारों ग्रौर जबर्दस्ती के ग्राधार पर। जहाँ भी पूँजीवादी स्वार्थ इस एकता के ग्राड़े ग्राते हैं उनका विरोध करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए। भारतीय जनता का मुख्य विरोध सामन्ती-साम्राज्यवादी हितों से है। इस विरोध को दूर करने के लिए ही पूँजीवादी राष्ट्रवाद का विरोध ज़रूरी है। दूसरे शब्दों में जातीय विद्वेष को खत्म करने के लिए तात्कालिक कर्तव्य यह नहीं है कि पूँजीवाद को तुरन्त खत्म करने के लिए संघर्ष छेड़ा जाय। पूँजीवादी राष्ट्रवाद पूरी तरह तभी खत्म होगा जब पूँजीवाद खत्म होगा लेकिन मज़दूर वर्ग ग्रपनी ग्रन्तर्जातीय नीति के बल पर स्वाधीनता की रक्षा ग्रौर जनवादी विकास के लिए जनता का विशाल एका कायम करके जातीय द्वेष को दबाकर उसे जनसाधारण से प्रायः निर्मूल कर सकता है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में जातीय द्वेष भावना कम नहीं है। मेरी भाषा सबसे मधुर है, मेरा साहित्य सर्वश्रेष्ठ है—इस तरह का जातीय ग्रहंकार पढ़े-लिखे लोगों में ग्रक्सर दिखायी देता है। जातीय सम्मान ग्रौर

जातीय अहंकार में भेद करना आवश्यक है। अपनी भाषा, सांस्कृतिक निधि और साहित्य के विकास पर गर्व करना हमारे लिये उचित ही नहीं हमारा कर्तव्य भी है। लेकिन यह गर्व दूसरों की भाषा, सांस्कृतिक निधि और साहित्य का भी आदर करे, मानवता का यही तकाज़ा है। अपनी संस्कृति का आदर हमें दूसरों की संस्कृति का आदर करना सिखाये, यह हमारी ही प्रगति के लिये आवश्यक है। इस देश की भाषाएँ एक दूसरे के सहयोग से आगे बढ़ी हैं, यहाँ की कला और संस्कृति परस्पर आदान-प्रदान से प्रगति कर सकी हैं। इस साहित्य की लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण उसमें जातीय द्वेष का अभाव है। १४ वीं से लेकर १८ वीं सदी तक यहाँ के संत कवि विभिन्न जातियों के साहित्य को प्रभावित करते रहे हैं। भारतीय साहित्य के नये अभ्युत्थान में देश प्रेम और जनतन्त्र की भावनाएँ विभिन्न भाषाओं के साहित्य को निकट लाई हैं। वर्तमान काल में मजदूर वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीयता, जनवादी अधिकारों के लिये संघर्ष, शान्ति और स्वाधीनता की रक्षा के लिये जनता की एकता वे संबल हैं जिनसे साहित्य अपने मानववादी मूल्यों की रक्षा और विकास करता है।

भारतीय जातियों की एकता के लिये हिन्दी-बंगाली जातियों की एकता बहुत आवश्यक है। हमारी भाषाएँ एक दूसरे के बहुत निकट हैं। हिन्दी के विकास में बंगाली लेखकों का बहुत बड़ा हाथ रहा हैं। कलकत्ते में हिन्दी का पहला पत्र निकला। यह नगर बालमुकुन्द गुप्त और निराला जैसे महान् साहित्यकारों का कार्यक्षेत्र रहा है। यहाँ के हिन्दुस्तानी और बंगाली मजदूरों ने साथ-साथ बहुत शानदार लड़ाइयाँ लड़ी हैं। पूँजीपतियों के स्वार्थ, विशेष रूप से अंग्रेज और बड़े मारवाड़ी पूँजीपतियों के स्वार्थ जातीय द्वेष उभार कर, जनता में फूट डाल कर अपना शोषण कायम रखना चाहते हैं। इस स्थिति में हिन्दी साहित्य महान् है या बंगला साहित्य महान् है, यह प्रश्न उठाना और वितंडावाद खड़ा करना जनता में फूट डालना और शोषक वर्गों की मदद करना है। इसके बदले ज़्यादा आवश्यक यह है कि हम एक दूसरे को अपने

साहित्य से परिचित करायें, अकेले महान् न बन कर दूसरों से सीखते हुए समूचे देश का सांस्कृतिक स्तर और ऊँचा उठाने की कोशिश करें। इस महत्वपूर्ण कार्य में कलकत्ते के हिन्दी साहित्यकार बहुत सहयोग दे सकते हैं। विशेष रूप से मार्क्सवादी लेखकों की यह जिम्मेदारी है कि वे जातीय अहंकार का विरोध करके अन्तर्जातीय भाईचारे का समर्थन करें, हिन्दी और बंगाली लेखकों को एक दूसरे के निकट लायें और दोनों जातियों का एका मजबूत करें।

गोवा के आन्दोलन में विभिन्न जातियों के नौजवानों ने जिस तरह आत्मबलिदान किया है उससे स्पष्ट है कि जनसाधारण में जातीय भाईचारे की भावना कितनी दृढ़ है। इसी को आधार बनाकर जातीय समानता और मैत्री के लिये संघर्ष में मजदूर वर्ग और उसके सहायक विजयी हो सकते हैं। मानव संस्कृति का विकास पूँजीवादी राष्ट्रवाद का दलदल छोड़ कर इस अन्तर्जातीय बन्धुत्व के राजमार्ग पर होगा।

मानव-समाज के विकास की मुख्य धुरी आज पैदावार के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं है। मुख्य धुरी पैदावार के साधनों पर सामाजिक अधिकार है। प्रायः आधी मानवता इस विकास-पथ पर बढ़ती हुई उस संस्कृति का निर्माण कर रही है जिसका मार्क्स ने सपना देखा था। कबीलों, जातियों और राष्ट्रों के युद्ध बीते युग की बात बनते जा रहे हैं। नया युग शान्ति और मानव-मुक्ति का युग है। भारतीय संस्कृति भी इस विकास से तटस्थ न रह कर उसमें योग दे रही है।

१९५५

नेहरूजी की आत्मकथा पर कुछ विचार

द्वन्द्व से बचाव का कोई भी मार्ग क्यों न खोजा जाय, वह द्वन्द को तो नहीं मिटा पाता। कुछ समय के बाद वे समस्याएँ फिर लौट आती हैं, शायद पहले से भी अधिक उग्र रूप में। नेहरूजी के साथ यही हुआ भी है। जिस सक्रियता में उन्होंने बचाव ढूंढ़ा, वह दीर्घजीवी न हुई।'बचाव' के अस्थायी संतोष के बाद तीव्र ग्लानि का प्रादुर्भाव हुआ है। अनेक स्थलों पर भारतीय आंदोलन के बंद होने पर जवाहरलालजी ने अपनी इस ग्लानि और मर्म-वेदना का वर्णन किया है। उनके मानसिक संगठन की कुछ ऐसी अवस्था थी कि वह सर्वथा विरोध का तिरस्कार करके आगे बढ़ नहीं सकते थे। उनके व्यक्तित्व में पर-निर्भरता की कुछ ऐसी पुट थी कि गाँधीजी से सदैव असंतुष्ट होते हुए भी वह उनका साथ न छोड़ सके। इस आंतरिक संघर्ष ने उनके व्यक्तित्व को एक अध्ययन की वस्तु बना दिया है। भावनाओं के विरोध और उनके उत्थान-पतन द्वारा उसमें नाटकीयत्व आ गया है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने स्वयं बड़ी सूक्ष्मता से अपने मनोभावों का विश्लेषण किया है।

जवाहरलालजी के अन्तद्वंन्द में गाँधीजी का विशेष स्थान है। जवाहरलालजी की अन्तरतम श्रद्धामूलक प्रवृत्तियाँ गाँधीजी में केन्द्रित हैं। जो क्लेश उन्हें गाँधीजी का विरोध करने में हुआ है, वह विदेशी राज्य के विरोध से भी बढ़ कर है। यहाँ पर उनके व्यक्तित्व के ही दो टुकड़े हो गए हैं और दोनों में से किसी एक का भी मोह त्यागने में उन्हें कठोर वेदना का अनुभव होता है।

जवाहरलालजी और उनके समान अन्य नव संतति के प्रभावशाली व्यक्तियों को एक राजनीतिक कार्यक्रम की आवश्यकता थी। उनके लिए गाँधीजी के जीवन-दर्शन से सहमत होना आवश्यक न था; कार्यक्रम ही काफी था। परंतु जवाहरलालजी को अपनी भूल बाद में मालूम पड़ी। एक आदमी की फिलासफी समझे बिना उसके बताये हुये कार्यक्रम को अपनाना खतरे से खाली नहीं है। उससे मानसिक असंतोष और अन्य प्रकार के मतभेद उपस्थित हो सकते हैं। वही हुआ भी है। पहले आशा थी, धीरे-धीरे गाँधीजी इन नवयुवकों के मत के हो जाँयगे। परन्तु गाँधी जी के व्यक्तित्व में एक कठोर चट्टान छिपी थी। इसका बोध उन्हें धीरे-धीरे ही हुआ।

गांधी और नेहरू जी किसी हद तक राजनीति में नवीन और पुरातन के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। दोनों ने ही सहानुभूति के साथ एक-दूसरे को समझने की चेष्टा की है। आज की राजनीति परिवर्तन की, संक्रमण-काल की दशा में है। इस परिवर्तन का पूरा चित्रण हम जवाहरलालजी के आन्तरिक द्वन्द में पाते हैं। इन दो नेताओं के आन्तरिक विभेदों में पहला भेद उनके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में ही है। गांधीजी का दृष्टिकोण धार्मिक कहा जाता है। आत्मा और ईश्वर की बात के के बिना वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ते। नेहरूजी राजनीति में धर्म को नहीं आने देना चाहते, वह समझते हैं कि इससे दिशाभ्रम ही हो सकता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणाओं के समाधान में धर्म की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु धर्म की सामाजिक रूप-रेखाएँ मनुष्य के लिए खतरे से खाली नहीं हैं। गांधी जी का एक महान् अस्त्र है,

उपवास । नेहरूजी का कहना है, इससे वे देश में अकस्मात् एक सनसनी पैदा कर सकते हैं; परन्तु इस प्रकार उपवास करना अविचार से खाली नहीं है । देशके लोग समझते रहे, महात्मा जी कोई चमत्कार दिखायेंगे, एकाएक स्वराज मिल जायगा और गाँधीजी ने भी यह चेष्टा न की कि लोगों में स्वयं विचार करने की प्रवृत्ति बढ़े । इस प्रकार श्रद्धा द्वारा देश को नेतृत्व देना कुछ समय के लिए लाभदायक हो सकता है, सदा के लिए नहीं ।

जवाहरलालजी ने एक मार्के की बात कही है । स्वतः विचार करने की प्रवृत्ति लोगों में पैदा हो, इस बात की चेष्टा गाँधीजी ने नहीं की । गांधीजी के राजनीतिक कार्यक्रम में तर्क-प्रणाली की गुंजाइश नहीं है । जब वह नेतृत्व करते हैं, तब सारी जिम्मेदारी वे नेता की समझते हैं । अनुसरण करने वालों का काम उनके पीछे चलना भर है । उनके व्यवहार में भी इस डिक्टेटरोचित मनोवृत्ति का परिचय मिलता है । जवाहरलालजी ने इस बात का भली भाँति अनुभव किया है । देहरादून जेल में बैठे हुए वे गांधी की कल्पना करते हैं "his old dictatorial self—'If you choose to follow my lead you have to accept my conditions', he said. "यदि मेरे पीछे चलना चाहते हो तो मेरी शर्तें स्वीकार करो ।" नेतृत्व का अर्थ प्रतिनिधित्व नहीं है । आज के दृष्टिकोण से हम राजनीतिक नेता को जनता का प्रतिनिधि मात्र मानते हैं, परन्तु गांधीजी का व्यक्तिवाद इसके प्रतिकूल है । जवाहरलालजी इस बात को मानते हैं । यदि तुम उन्हें चाहते हो, तो उन्हें स्वीकार करो–यह ठीक है, फिर भी ऊपर से लोगों पर दबाब बहुत ज्यादा डाला जाता है, लोग स्वयं विचार-विनिमय कम करते हैं ।

इससे कठोर आलोचना कांग्रेस की दूसरी नहीं हो सकती । कांग्रेस को एक जनवादी संस्था कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह रही है गाँधीजी की पार्टी, उनकी आज्ञानुसारिणी । जवाहरलालजी ने कहा है, "But Congress at present meant Gandhiji"; कांग्रेस की ऐसी निर्भरता गाँधीजी पर थी । उसके अन्य सदस्य स्वयं सोच कर

अपना रास्ता बनाएँ और उस पर गाँधीजी से चलने के लिए कहें, ऐसी हिम्मत किसी में न थी। वे आँखें मींच कर उनके पीछे चलने को तैयार थे। फिर भी गांधीजी को शिकायत रही कि लोग उनके बताये रास्ते पर चले नहीं! जवाहरलालजी ने इस शिकायत की शिकायत की है। जहाँ एक व्यक्तित्व का ऐसा ज़बर्दस्त दबाब हो, वहाँ एक स्वतंत्र-विचारक का क्या हाल होगा, यह सहज ही सोचा जा सकता है— विशेषकर ऐसी हालत में, जब कि वह स्वयं सहयोग में ही काम करना चाहता हो।

गांधीजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के अंध-विश्वास मिले हुए हैं। जिसने उसकी आधीनता स्वीकार की, उसे उन अन्ध-विश्वासों का अत्याचार भी सहना पड़ा। बिहार में भूकंप आया, गांधीजी ने लिखा कि यह अछूतों के साथ पाप का प्रायश्चित था। नेहरूजी बिहार में उस समय दौरा कर रहे थे। उनके अनुसार "Any thing more opposed to the scientific outlook it would be difficult to imagine" गांधीजी के लेखों में इस प्रकार के अन्ध-विश्वासों के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। अन्धविश्वासों का यह मोटा निदर्शन है। इस प्रकार की कथित धार्मिकता गाँधीजी की राज-नीति में सर्वत्र व्याप्त है।

स्वराज्य-प्राप्ति के लिए गाँधीजी ने खद्दर को प्रधान साधन माना। दरिद्रनारायण के नाम पर उन्होंने उसके लिए चंदा वसूल करना शुरू किया। जवाहरलालजी का दरिद्रता की उपासना से मतभेद प्रकट करना स्वाभाविक था। गाँधीजी सतयुग के स्वप्न की ओर बढ़ना चाहते हैं। जवाहरलालजी बीसवीं सदी के वैज्ञानिक युग का सामना करना चाहते हैं। देश की पुरानी राजनीति में खादी-प्रचार ने प्रमुख स्थान लिया है। नवीन विचारक भारत में मशीनों का प्रचार करना चाहते हैं और अन्य देशों की भाँति अपने देश में व्यवसाय और कल कारखानों को बढ़ाना चाहते हैं।

गाँधीजी की सबसे बड़ी देन है उनका अहिंसात्मक आंदोलन। जवाहरलालजी ने इस आंदोलन में भाग लिया था। पहले, १९२१ के आंदोलन में, उन्होंने भाग लिया। जिस समय आंदोलन आरम्भ हुआ, उस समय विश्वास था कि भारत को स्वतंत्रता शीघ्र ही मिलने वाली है और असहयोग के नवीन अस्त्र द्वारा शीघ्र ही सरकार पर वे विजयी हो जायँगे। परंतु हुआ यह कि १९२२ में गाँधीजी ने सत्याग्रह बंद कर दिया। इसका कारण बताया गया कि चौरीचौरा में कुछ गाँव वालों ने एक थाने में आग लगा दी थी। जवाहरलालजी और उनके साथियों को निराशा हुई, उन्हें क्रोध हुआ, परंतु गाँधीजी के आगे किसी और की नहीं चल सकती थी। आंदोलन समाप्त हो गया। दूसरी बार आंदोलन बंद करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताया, वह चौरीचौरा कांड से भी अधिक चमत्कार-पूर्ण था। आश्रम में गांधीजी के एक पुराने साथी आश्रम के नियमानुसार अपना काम पूरा करने के लिए तैयार न थे। यही सत्याग्रह के विरुद्ध आचरण हुआ। परन्तु इससे गांधीजी को अपनी ही निर्बलता का परिचय मिला; उन्हें अपने साथी की कमज़ोरी को जानना चाहिए, परन्तु वे अन्धे थे। "Blindness in a leader is unpardonable" इसलिए सत्याग्रह बंद कर दिया जाय ! पहले की भाँति जवाहरलालजी ने समझा कि सत्याग्रह बंद करके गांधीजी ने अच्छा किया, परन्तु "The reason he had given seemed to me an insult to intelligence."

धीरे-धीरे बीच का फासला बढ़ता गया और जवाहरलालजी ने देखा कि वे गांधीजी से अलग होते जा रहे हैं। "With a stab of pain" उन्होंने महसूस किया कि जिन बन्धनों ने उन्हें गाँधीजी से बाँध रखा था, वे टूट गए हैं।

उन्होंने सोचा था कि गांधीजी उन्हीं के रास्ते पर आ जायँगे। अब मालूम हुआ कि वे स्वयं गलत रास्ते पर चल रहे थे। अलीपुर की जेल में उन्हें बड़ा सूना-सूना सा लगने लगा। जीवन में एक सत्य का अनुभव हुआ कि कभी भी किसी पर निर्भर न रहना चाहिए।

परनिर्भरता जो उनके जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी थी, सहसा नग्न रूप में उनके सामने आ गई : "One must journey through life alone; to rely on others is to invite heart-break."

क्षुब्ध होकर जवाहरलालजी इस परिणाम पर पहुँचे। वही नहीं, उनके साथ एक नव संतति भी इसी विश्वास पर पहुँच रही थी। गांधी जी से लोग असंतुष्ट हो रहे थे; उनकी अहिंसा और असहयोग में उनका विश्वास डिग रहा था और धीरे-धीरे वे साम्यवाद की ओर बढ़ रहे थे। उनमें जवाहरलालजी भी एक थे। उन्होंने सोचा था कि गांधीजी भी साम्यवादी हो जायँगे, परन्तु तालुकदारों और ज़मीदारों के लिए गांधीजी ने सिर्फ यह कहा, जिनके पास धन है, वे उसका सदुपयोग करना सीखें। जवाहरलालजी ने इसे मध्ययुग की विचार-प्रणाली कहा हैं। गांधीजी वास्तव में रस्किन में पढ़ी हुई बात ही कह रहे थे। धनी धनी ही रहें; नहीं तो दया-धर्म के लिए स्थान कहाँ रहेगा ?

जवाहरलालजी ने गांधीजी के कार्यक्रम के अनुसार डटकर काम किया है। गांधीजी के साथ उनका सहयोग ही इस बुनियाद पर है कि वे उनके कार्यक्रम के अनुसार कार्य करें। बार-बार गांधीजी की उक्तियों ने जवाहरलालजी के हृदय पर जोर से धक्के दिये हैं; उनका हृदय क्रोध और निराशा से तिलमिला उठा है, फिर भी यह नहीं हुआ है कि वे गांधीजी के नेतृत्व को अस्वीकार करें। उनकी उस श्रद्धा को भारी धक्का लगा है जिसे उन्होंने गाँधी-चरणों में अर्पित किया था। धीरे-धीरे उन्हें बोध हुआ है कि असहयोग आँदोलन सफल नहीं हुआ; अहिंसा के प्रयोग में भी कमियाँ हो सकती हैं। गांधीजी के कार्यक्रम में जितनी भीं खूबियाँ वे ढूँढ़ निकाल सकते थे, उन्होंने निकालने में कसर नहीं उठा रखी। ऐसा करने में उन्होंने गांधीजी की ही सफाई नहीं दी, वरन् अपने हृदय को भी संतोष दिया है कि गाँधीजी के पीछे चलने से कम-से-कम इतना फ़ायदा तो जरूर हुआ।

१९३८

संगरमाल

कश्मीरी भाषा में एक सुन्दर शब्द है—संगरमाल। पर्वतश्रृंगों की माला—वही है संगरमाल। कश्मीरी कवियों ने अपनी रचनाओं में संगरमाल पर फैलती हुई उषा की लालिमा का बहुत बार वर्णन किया है। कश्मीर के नये साहित्यकार जब अपने देश को साम्राज्यवादी-सामंती अँधेरे से ढका हुआ देखते हैं, तब स्वाभाविक रूप से वह संगरमाल पर आज़ादी और जनतंत्र की लालिमा फैलने का सपना देखते हैं और जनता को ढाढ़स बँधाते हैं कि यह अँधेरा हमेशा न रह पायगा। प्रगतिशील कश्मीरी कवि "राही" के एक लोकप्रिय गीत की शुरूआत इसी रूपक से होती है—

> 'कति रोज़ य गट ज़ुल त्रट तूफाँ
> यिलि रव खस सुबहुच प्रव त्रावाँ।
> नटि हर्दिञ ज़र्दी पर्द चटित
> यिलि सोंतिखे सनवुत्रि साज़ वज़न।
> यिलि संगरमालन लाल फलन'
> असि बुलबुल दीशित नव्य गुलशन॥

"राही" के ही शब्दों में इसका अनुवाद इस प्रकार है—"कहाँ रह पायेगा यह घटाटोप अँधेरा, बिजली और तूफान, जब सुबह का सूरज तड़का लिये तुलू होगा? खिज़ाँ का पीलापन काँप-काँप उठेगा, जब बाहर के दिल में जगह करने वाले साज़ पर्दे चाक-चाक करके बज उठेंगे। जब संगरमाल पर लाले खिल उठेंगे तो बुलबुल नया गुलशन देखकर मुस्करा उठेगा, और पेचान का फूल मस्ती के आलम में ऊपर चढ़ेगा।"

कश्मीरी कवि का यह आत्मविश्वास और उसकी यह चुनौती—कहाँ

रह पायेगा यह घटाटोप अँधेरा, बिजली और तूफ़ान, जब सुबह का सूरज तड़का लिये तुलू होगा ?—उचित और न्यायपूर्ण है। कश्मीरी जाति का एक गौरवपूर्ण इतिहास है। इस जाति ने प्राचीनकाल में संस्कृत साहित्य और भाषा के बड़े-बड़े आचार्य उत्पन्न किये हैं। आज भी कश्मीरी पंडित प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों को भेड़ों की खाल में लपेटे शिवरात्रि के दिन पूजते हैं। कश्मीरी भाषा उत्तर भारत की भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत और फारसी के मुकाबले में सन्त-साहित्य और लोक-गीतों के माध्यम के रूप में विकसित हुई। कश्मीरी जनता को ललदेद और हब्बा खातून के पद उसी तरह याद हैं जिस तरह हिन्दी-भाषी जनता को मीरा और सूर के पद। कश्मीरी भाषा की अपनी लिपि है–शारदा–जिसे अँग्रेजी राज के पहले तक हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से काम में लाते थे।

कश्मीरी जाति सौंदर्य-प्रेमी और कला-प्रेमी जाति है। रेशम, लकड़ी और ऊन में उसकी दस्तकारी विश्व-प्रसिद्ध है। सौंदर्य-प्रेमी होने के साथ-साथ कश्मीरी जाति खुद भी सुन्दर है और उसे रहने के लिये कश्मीर जैसा सुन्दर देश भी मिला है।

कश्मीरी जाति एक शान्ति-प्रेमी जाति है। अत्यन्त प्राचीन काल से चीन और मध्य एशिया से उसका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। उसकी भाषा में पड़ोसियों से मित्रता के चिन्ह मौजूद हैं। आज भी कश्मीरी जनता चीन और सोवियत रूस को अपना सच्चा मित्र मानती है। कश्मीरी जाति एक स्वाधीनता-प्रेमी वीर जाति है। उसने अनेक बार आक्रमण-कारियों के दाँत खट्टे किये हैं और इन स्वाधीनता-संग्रामों में उनकी वीर नारियाँ वैसे ही प्रसिद्ध हुई हैं जैसे हिन्दी-भाषी प्रदेश में रानी लक्ष्मीबाई। दूसरे महायुद्ध के बाद आन्ध्र जनता के साथ कश्मीरी जनता ने साम्राज्यवाद और सामन्तशाही को चुनौती देते हुए "कश्मीर छोड़ो" का नारा बुलन्द किया। "कश्मीर छोड़ो" के आन्दोलन ने हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादी प्रभुत्व की नीवें हिला दीं। हिन्दुस्तान को आज़ादी देने के बाद अँग्रेजों ने पाकिस्तान को उकसा कर कबायलियों

और पाकिस्तानी फौज से कश्मीर पर हमला कराया। उस समय महाराजा का पता न था; साम्प्रदायिक संगठन के नेता जो जेहादबाज़ी में लियाकतअली के कान काटते थे, भाग खड़े हुए। उस समय कश्मीरी जननेताओं की रहनुमाई में वहाँ की जनता ने अपने सुरक्षा-दस्ते बनाये और एक बार फिर अपनी वीरता का परिचय दिया।

ऐसी वीर, स्वाधीनता-प्रेमी जाति जिसका एक गौरवपूर्ण इतिहास है, अंधेरे में दिन काटने के लिये नहीं पैदा हुई। साम्राज्यवाद और सामन्तवाद उसके सबसे कट्टर शत्रु हैं। कश्मीरी जनता दोहरे शोषण की चक्की में पिसती रही है जिसका एक पाट है अँग्रेजी राज और दूसरा पाट है सामन्तशाही। कश्मीर एक अत्यन्त उपजाऊ प्रदेश है और वहाँ के किसान थोड़े में गुजर करने वाले परिश्रमी किसान हैं। फिर भी कश्मीर में गरीबी और भुखमरी का राज है। साम्राज्यवाद ने कश्मीर के उद्योग-धन्धों को कभी विकसित नहीं होने दिया और अपने सामन्ती चाकरों के जरिये वहाँ की जनता को हमेशा दबा कर रखा है।

कश्मीर को अपने कब्जे में रखने के लिये साम्राज्यवाद ने बहुत सी धूर्तता-पूर्ण चालें चलीं हैं। उसके इशारों पर साम्प्रदायिक नेताओं ने जनता में मज़हब की बिना पर फूट डालने की कोशिश की है। इस काम में साम्राज्यवाद के चाकर सफल नहीं हो पाये। कश्मीर के हिन्दू-मुसलमान हिन्दुस्तान के किसी भी प्रदेश के हिन्दू-मुसलमानों के मुकाबले में एक दूसरे के कहीं ज़्यादा नजदीक हैं। हिन्दू-पंडितों के घर में मुसल्मानों को पानी भरते आप यहीं देखेंगे और हिन्दू विवाह-उत्सवों में मुसल्मान कवि महजूर के गीत गाये जाते भी आप यहीं सुनेंगे।

कश्मीरी जनता ने हिन्दुस्तान की बाकी रियासती प्रजा की तरह दूसरे महायुद्ध में और उसके बाद के आर्थिक संकट में बेहद कष्ट पाया है। कश्मीरी जनता का आन्दोलन हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-आन्दोलन का एक प्रमुख अंग बन गया। साम्राज्यवादियों ने हिन्दुस्तान का बँटवारा किया जिससे इस विराट् शक्तिशाली स्वाधीनता-आन्दोलन में एक कभी न पटने वाली दरार पड़ जाय। बँटवारे के बाद अपने दलालों के

ज़रिये साम्राज्यवाद ने बंगाल से लेकर पंजाब तक भयानक हत्याकाण्ड रचाए। सिर्फ एक कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे नहीं हुए। भला यह अंग्रेज षड़यंत्रकारियों को कब सह्य हो सकता था ? नतीजा यह कि उन्होंने कबायली-पाकिस्तानी हमला करा के हिन्दुस्तान के ज़रिये कश्मीर का मामला यू० ऐन० ओ० में ले जाकर यानी अपने हाथ में लेकर कश्मीर के भी दो हिस्से कर दिए और ब्रिटिश पूँजीपतियों का अखबार लन्दन "इकौनोमिस्ट" खुल्लम-खुल्ला लिखता है कि कश्मीर का बँटवारा होना चाहिए।

कश्मीर में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप कोई अनोखी घटना नहीं है। हिन्दुस्तान की जिस रियासत में भी जनता ने सामन्ती शोषण का विरोध किया है, साम्राज्यवाद ने किसी न किसी बहाने फ़ौजी दमन के ज़रिए उसे दबाया है। इसीलिए कश्मीरी जनता इस बात को समझ रहीं है कि उसका स्वाधीनता-आन्दोलन हिन्दुस्तान की जनता के स्वाधीनता-आन्दोलन का एक अभिन्न अङ्ग है।

कश्मीर में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप न सिर्फ कश्मीरी जनता के खिलाफ़ बल्कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के खिलाफ़ भी साम्राज्यवाद और उनके पिट्ठुओं की एक घृणित और घातक चाल है। इस चाल के ज़रिए वे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में—जहाँ भी आज़ादी, जनतंत्र और रोटी-रोज़ी के लिए आन्दोलन चले—उसे मात देना चाहते हैं। पाकिस्तान में हिन्दुस्तान के हमले का हौवा है और हिन्दुस्तान में पाकि-के हमले का। युद्ध की तैयारी के नाम पर जनता की रोटी-रोज़ी की माँगों को दबा कर साम्राज्यवादी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान से मिलने वाले मुनाफे सुरक्षित रखते हैं। उधर सोवियत रूस और जनवादी चीन के खिलाफ अड्डे बनाने के लिए उन्हें मौका अलग मिलता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कश्मीरी जनता हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की जनता के साथ यह चाहती है कि कश्मीर में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप बन्द हो।

साम्राज्यवादियों ने कश्मीर को जो रूप दिया, उसमें रियासत के

अन्दर सिर्फ कश्मीरी जाति नहीं है। इस रियासत में डोंगरी भाषा बोलने वाले जम्मू के लोग हैं, इसमें तिब्बती भाषा बोलने वाले लद्दाख के लोग हैं। इन्हें और इस तरह की दूसरी जातियों को अपना आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास करने की सुविधा नहीं रही। स्वयं कश्मीरी भाषा अपने ही घर में दासी की तरह है और समूची रियासत में राजकाज की भाषा का दर्जा उर्दू को दिया गया है। इसलिए कश्मीरी जनता के प्रगतिशील विचारक और नेता जहाँ कश्मीरी जाति के लिये आत्मनिर्णय का अधिकार चाहते हैं, वहाँ वे दूसरी जातियों को भी यही अधिकार देते हैं और सभी जातियों को मिल-जुल कर नया कश्मीर बनाने के लिए बुलावा देते हैं।

कश्मीर के प्रगतिशील लेखक और कलाकार संगठित होकर जनता की हालत बदलने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। उनके गीत कश्मीर के दूर-दूर पर बसे हुये गाँवों तक में सुनाई देते हैं। प्रेम और प्रकाशन की कल्पनातीत कठिनाइयों के रहते हुए भी उनका साहित्य जनता तक पहुँचता है। उन्होने कश्मीरी भाषा की शानदार परंपरा कायम रखते हुए कठिन शब्दावली और दुरूह शैली के ज़रिये अपने साहित्य को जनता से दूर नहीं होने दिया। कश्मीरी साहित्य के विकास के लिए यह एक बहुत ही लाभदायक परंपरा है। उनकी कहानियों में जनता की ज़िन्दगी की तेज़ झलक मिलती है और उनमें वह दर्द और बेकली है जो जनता के अन्दर घुलमिल कर रहने से ही पैदा होती है। कश्मीर में नए प्रतिभाशाली लेखकों की बहुत बड़ी तादाद है और हालाँकि हिन्दुस्तान के लेखक और पाठक अभी उनके बारे में ज़्यादा नहीं जानते, लेकिन वह दिन दूर नहीं जब उनके नाम और उनकी रच-नाएँ यहाँ के लोगों के दिल में इज्ज़त के साथ जगह पायेंगी।

कश्मीर में शान्ति कायम रखने के लिए और कश्मीरी जनता की ज़िन्दगी पलटने के लिए हिन्दुस्तान-पाकिस्तान-कश्मीर की जनता की एकता ज़रूरी है। साम्राज्य-विरोध इस एकता की फौलादी नींव है। कश्मीर के कवि साम्राज्यवादी सामन्ती अँधेरे से निकल कर संगरमालों

पर लाले के फूल खिलते देखना चाहते हैं। वे जनता की एकता के गीत भी सबसे बुलंद आवाज़ में गाते हैं। और आज उनकी यह आवाज़ सिर्फ कश्मीर की पर्वतमालाओं में नहीं गूँजती, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के हर कोने से हर भाषा में एकता की आवाज़ सुनाई देती हैं। आज अपने देश में शान्ति कायम रखने के लियें, जनता की गरीबी और बदहाली दूर करने के लिये, देश से साम्राज्यवादी-सामन्ती दासता के अवशेष खत्म करने के लिए, अपनी भाषा और संस्कृति के विकास के लियें जनता के पास एक ही अजेय अस्त्र है—एकता। कश्मीर के लेखक जनता के साथ खुद अपनी एकता दृढ़ करके शान्ति, स्वाधीनता और जनतन्त्र की नयी जिन्दगी पाने के लियें जनता का आह्वान करते हैं कि वह अपनी एकता मजबूत करे। राही के गीत का आखीरी बन्द इस प्रकार है,

"वल अस्ति समौ वल अस्ति रलौ,
वल अस्ति ड्यकस नौ नूर मलौ।
अदलस इंसाफस ग्यूर करौ,
जुल्मस गटवालौ ग्यूर तुलौ।
अरमानन पन्यन व्यूर तुलौ,
इन वालिस सुबहस दूर गरौ॥"

"आओ, एक साथ आओ, एक साथ आगे बढ़ो, अपने माथे पर नयी रोशनी मलो। इंसाफ और सचाई के झूले पर पैंगें लो, जुल्म पर अँधेरा बरसाकर उसे चकरा दो। अपने अरमान का पराग हासिल करने के लिये एक साथ आओ, आओ, नयी सुबह के शृङ्गार के लिये बुन्दे बनाओ।"

१९५२

काँग्रेसी मंत्रिमंडल और किसान-आंदोलन

काँग्रेस ने जब से मंत्रित्व स्वीकार किया है, तब से भिन्न-भिन्न प्रान्तों के किसान-सभा-आन्दोलन में एक प्रगति आ गई है। कांग्रेस ने चुनाव लड़ने के पहले कहा भी था कि वह मंत्रित्व स्थापित करने के बाद अपना ऐसा सुदृढ़ संगठन बनायेगी जिससे देश के आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सहायता मिलेगी। परन्तु इस किसान-आन्दोलन में नयी जान काँग्रेस के उस बड़े दल ने नहीं डाली जो चुनाव के पक्ष में था और जिसके प्रतिनिधियों ने मंत्रित्व स्वीकार किया था। वरन् परिस्थिति ऐसी हो गई कि इन्हीं मंत्रियों को किसान-आन्दोलन के प्रति एक दूसरी ही नीति बर्तनी पड़ी। आज काँग्रेस के नरम दल और किसान-सभाओं के बीच का संघर्ष काफी दूर तक पहुँच चुका है। हमें देखना है कि इस संघर्ष से काँग्रेस के संगठन, उसकी नीति, उसके विकास पर क्या प्रकाश पड़ता है। साथ ही किसान-आन्दोलन ने देश को और काँग्रेस को मजबूर किया है कि वे उसकी शक्ति पहचानें; इसलिये हमें यह भी सोचना है कि इस आंदोलन से हमारी स्वाधीनता की लड़ाई कहाँ तक बढ़ती है और इस तरह का आन्दोलन हमें कहाँ तक आगे बढ़ा सकता है।

अलग-अलग प्रांतों में काँग्रेस-सरकारों के बनने से पहले भी किसान सभाएँ जहाँ-तहाँ काम रही थीं। युक्त-प्रांत में किसान-संघ की स्थापना श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने सन् '३५ में की थी। इसी तरह बिहार-किसान-सभा का जन्म नवम्बर १९२९ में हुआ था; परन्तु किसान-सभाओं में तेजी आई काँग्रेसी सरकारें बनने के बाद ही, और इसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि किसानों से बड़े-बड़े वादे करके उनसे काँग्रेस के लिए वोट देने को कहा गया था। चुनाव के समय इस बात पर प्रायः

बिलकुल ज़ोर न दिया गया था कि विधान के भीतर से काँग्रेस उनके लिए नपे-तुले ही सुधार कर सकती थी। तब तो ऐसा दिखाया गया कि काँग्रेस के पद-ग्रहण करते ही उनकी सारी विपदाओं का अन्त हो जायेगा। इसलिए किसानों के लिए स्वाभाविक था कि वह बड़ी आशा से काँग्रेस के मंत्रिमंडलों का बनना देखते। ज़्यादा से ज़्यादा जो माँगने का वह साहस कर सकते थे उसे, उन्होंने काँग्रेस-सरकार के आगे रखा। जब काँग्रेस ने सुधार करने में देर की और सुधार किये भी तो किसानों के दुखों को नहीं के बराबर दूर किया, साथ ही किसानों पर ज़मींदारों का अत्याचार भी बढ़ा, तो अपने आप किसान-सभाओं को अपनी माँगें पूरी करने के लिए आगे बढ़ना पड़ा।

उनके बढ़ते आंदोलन का दूसरा कारण यह था कि किसान आंदोलन को अभी काँग्रेस अपने हाथ में लिये थी। जब उसके एक बड़े भाग ने पदग्रहण किया तो दशा बदल गई। जिस दल ने अपनी सरकार बनाई थी, वह अपनी ही सरकार के विरोध में किसानों को कैसे उकसाता? किसानों के दुःख ऐसे थे कि सुधारों के वादों पर या थोड़े सुधार देकर उन्हें चुप न किया जा सकता था। उनके आंदोलन को किसी न किसी तरह बढ़ाना ही था। तीसरा कारण किसानों का इस समय नये नेता पा जाना था। गरम दल ने पदग्रहण का विरोध किया था, इसलिये उसकी रुचि काँग्रेस के सरकारी काम में न थी। नरमदल वालों ने कहा था कि वे सभाओं में घुसकर नये शासन-विधान को तोड़ेंगे; वे वैसा ही करते तो शायद उन्हें इस दल का सहयोग मिल जाता। परन्तु इसके बदले उन्होंने सुधारों की योजनाएँ रखीं, यह जानते हुए भी कि जनता को सन्तुष्ट करने के लिए शासन-विधान में काफी गुंजाइश न थी। फिर इन सुविधाओं को देने में भी उन्होंने काफी देर की। इसलिये यह दल सरकारी दल से अलग इन किसान-सभाओं का संगठन करने लगा।

यह स्वाभाविक था कि काँग्रेस कमेटियाँ, जिन पर नरम दल का प्रभाव था और जो काँग्रेस-सरकार की समर्थक थीं, इन किसान-सभाओं की बढ़ती को पसंद न करतीं। किसानों का सच्चा हितचिंतक तो वे

अपने को समझती थीं, इसलिए किसान-सभाओं का बीच में यह टाँग अड़ाना उन्हें अच्छा न लगा। पहले उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि काँग्रेस किसानों की ही है, इसलिए किसान-सभाओं के बनने का प्रश्न ही नहीं उठता। बाद में उन्होंने उनकी शक्ति बढ़ती देखकर उनके आंदोलन में दोष दिखाने शुरू किये और कहाकि वे काँग्रेस-संगठन को नष्ट करने पर तुली हुई थीं। नरमदल के मुख्य अभियोग ये थे। किसान-सभाओं के अलग संगठन से काँग्रेस के सम्मान में कमी हुई है। वास्तव में काँग्रेस किसानों की है, इसलिये किसान-सभाओं का काम तो काँग्रेस कमैटियों को करना चाहिए। वर्ग-संघर्ष को प्रधानता देकर हम अपनी स्वाधीनता की लड़ाई को निर्बल कर रहे हैं और इससे बैरी लाभ उठायेंगे। किसान-सभा वाले काँग्रेस के सिद्धान्तों पर ही कुठाराघात करते हैं और हिंसा का प्रचार करते हैं।

पहला अभियोग कि किसान-सभाओं से काँग्रेस के मान में कमी हुई है, ठीक भी है, गलत भी। गलत इसलिये है कि किसान-सभाओं के जन्मदाताओं में पुरुषोत्तमदासजी टंडन और राजेन्द्रबाबू जैसे लोग थे, जिनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्होंने काँग्रेस का मान घटाने के लिए कोई काम किया होगा। वास्तव में उन्होंने काँग्रेस के होते हुए भी किसान-सभाओं की ज़रूरत को समझा था, इसलिये उनका संगठन किया था। परन्तु वे चाहते थे कि ये सभाएँ काँग्रेस द्वारा ही अनुशासित हों, इसलिये काँग्रेस के मान में कमी होने का उन्हें ध्यान न था। मान में कमी हुई, यह ठीक इसलिए है कि किसान-सभाओं के बनने से यह जाना गया कि अकेले काँग्रेस का संगठन किसान-आंदोलन को अपने में समेटने और उसे चलाने में असमर्थ रहा। आज किसान-सभाओं की नीति दूसरी हो सकती है, परन्तु क्या कारण है काँग्रेस-कमेटियों के होते हुए भी राजेन्द्रबाबू जैसे नेताओं ने किसान-सभाओं की जरूरत समझी थी? कारण यही था कि काँग्रेस इतने मिले-जुले वर्गों की संस्था थी कि उसके लिए किसानों के विशेष कष्टों की ओर ध्यान देना दूभर था। गया किसान-सम्मेलन के सभापति श्री नरेन्द्रदेव ने किसान-सभाओं

की आवश्यकता बतलाते हुए कहा था, 'कांग्रेस देश के विभिन्न वर्गों की संस्था है, इसलिए किसान इस राष्ट्रीय संस्था में अपने दावे को पूरी तरह पेश नहीं कर पाता है। दूसरे वर्गों के साथ अपने दावे को पूरी तरह पेश करने में हिचकिचाता है। विभिन्न वर्गों के समूह में वह अपने को खोया हुआ-सा पाता है। किसानों की यह संकोचपूर्ण मनोवृत्ति छुड़ाने और वे निर्भयतापूर्वक अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण को सामने रख सकने के योग्य बन सकें, इसकी आरम्भिक शिक्षा देने के लिए श्रेणी-आधार पर उनका संगठन आवश्यक है।' इसलिए किसान-सभाओं से यदि कांग्रेस के मान में कमी होती है तो यह ऐसा तर्क नहीं है कि उससे सभाओं का काम बन्द कर दिया जाय। कांग्रेस के मान के आगे किसानों की भी माँगों की सुनवाई होनी चाहिये।

दूसरा अभियोग है, किसान-सभाओं का काम कांग्रेस-कमेटियों को करना चाहिये। यह अभियोग वास्तव में किसान-सभाओं के ऊपर नहीं कांग्रेस-कमेटियों पर है। यदि ये कांग्रेस-कमेटियाँ ही काम करतीं तो फिर रोना ही काहे का था। परन्तु किसानों का अपना एक पीड़ित वर्ग है और कांग्रेस-कमेटियाँ, जिनमें विभिन्न वर्गों के लोग हैं, किसानों के सभी कष्टों को दूर नहीं कर सकतीं। नरेन्द्रदेवजी के शब्दों में चूँकि विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस के संगठन का धरातल भिन्न-भिन्न है और कई कमेटियों पर ज़मींदारी शक्तियों का नियन्त्रण है, इसलिए कांग्रेस के प्रस्तावों पर पूरा अमल नहीं हो पाता और अब वे प्रस्ताव कागज़ पर ही रखे रह जाते हैं। ऐसे स्थानों में कांग्रेस-कमेटियों से किसानों को जो सहायता मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाती। एक कारण और भी है। जब कांग्रेस ने मन्त्रिपद ग्रहण नहीं किया था, तब किसान-आन्दोलन की बागडोर उन्हीं लोगों के हाथ में थी जो कांग्रेस-कमेटियों के भी कर्णधार थे। कांग्रेस-सरकार बनने पर उनके लिए अब किसानों का पहले की भाँति नेता बनना असम्भव हो गया। वे सरकार की नीति का समर्थन ही कर सकते थे; उससे खुलकर माँगें पेश करना विद्रोह होता। इसलिए कांग्रेस-कमेटियों ने, उनके कर्णधारों ने, किसान-

सभाओं का नेतृत्व ही नहीं खोया वरन् उनके विरोधी भी बन बैठे।

तीसरा अभिभोग है कि वर्ग-संघर्ष को उकसाकर हम अपनी लड़ाई को कमज़ोर बनायेंगे। इसका उत्तर है कि साम्राज्यवाद के सच्चे विरोधी किसान रहे हैं न कि बड़े-बड़े ज़मींदार। किसान आगे भी उससे मोर्चा लेंगे और जो इसमें उनका साथ देंगे, उनके साथ से वे लाभ उठायेंगे। किसान-सभा के नेताओं ने बार बार कहा है कि वे साम्राज्यवाद का विरोध करने में काँग्रेस के साथ हैं और उनका कांग्रेस से सहयोग इसी साम्राज्यवाद के विरोध पर निर्भर है। फिर भी राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने तक किसान अपनें दुख लिये बैठे नहीं रह सकते !

चौथा अभियोग हिंसा का है। नरम दल वाले कह सकते हैं कि किसान-सभाएँ हिंसा का प्रचार करके काँग्रेस के मूल सिद्धान्तों को मिटाना चाहती हैं। किसान-सभाओं के सम्बन्ध में अपना एक वक्तव्य देते हुए श्री राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था कि लगान न देने के लिए उन्होंने नारा लगाया था, 'मालगुजारी लोगे कैसे, डंडा हमारा जिन्दाजाद'। किसान-सभाओं के नेताओं ने इसका जोरों से प्रतिवाद किया था और उन्होंने पचासों घटनाओं की ओर काँग्रेस के नेताओं का ध्यान आकर्षित किया जहाँ उन्होंने और उनके अनुयायियों ने चुपचाप ज़मींदारों के डंडे खाये थे। इस शांतिपूर्ण व्यवहार के होते हुए भी किसान-सभाओं के कुछ नेताओं का अहिंसा के प्रति एक स्पष्ट औद बदला हुआ रुख है। राजेन्द्रबाबू किसान-सभा के नेताओं को हिंसा के लिए दोषी ठहरा सकते हैं, लेंकिन किसानों के आंदोलन का दमन करने वाली पुलिस या ज़मींदारों को नहीं !

नरमदल वाले किसान-सभाओं को जितना हिंसा-प्रचार के लिए दोषी ठहराते हैं, उतना हिंसा के प्रमाण नहीं देते। इसके विपरीत किसान-सभा वालें पचासों उदाहरण देते हैं जहाँ बर्बर प्रहारों के सामने उन्होंने अपने को शांत रखा है। इसलिए यह अभियोग भी सही नहीं उतरता।

काँग्रेस-कमेटियों पर नरम दल का प्रभाव होने से और किसान-सभाओं के गरमदल का नेतृत्व पाने से दोनों का अन्तर बढ़ता गया। किसान-सभाओं को शिकायत रही कि कांग्रेस-कमेटियाँ जानबूझकर उनके काम में बाधा डालती थीं। किसान-सभा वालों का कहना था कि पटना में जब हरिपुरा-काँग्रेस के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव होरहा था तो कांग्रेस-कमेटी वाले खुल्लम-खुल्ला नारा लगाते थे, 'उजले बक्स में वोट दो, लाल बक्स का गला घोंट दो।' दरभंगा ज़िले में डंडेबाज़ी भी हुई और लोगों को यह कहकर बरगलाया गया कि किसान-सभा के कार्यकर्त्ता नास्तिक हैं और वे काँग्रेस से निकाल दिए गए हैं। जो जमींदार चुनाव के लिए खड़े हुए थे, उन्होंने अपने प्रतिद्वन्दियों को दबाने के लिए गुंडे लगाये। श्रीरामनन्दन मिश्र ने काँग्रेस-कमेटियों की अति का वर्णन करते हुए अपने एक वक्तव्य में कहा था, 'हमारी सभाओं में लाठियाँ लेकर शेंमर्शेम के नारे लगाना, चरखा-संघ से हमारे साथियों को निकालना, अत्याचारी जमींदारों और महाजनों का सहयोग लेंना, पोलिंग स्टेशनों पर लाठी, बरछा और दोनली बन्दूक लेंकर जाना, बोगस वोट डलवाना यदि अहिंसा और गाँधीवाद में दाखिल हो गया तो मालूम नहीं हिंसा किसे कहते हैं।' किसान-सभाओं और काँग्रेस-कमेटियों के झगड़े युक्त-प्रान्त में भी हुए। प्रान्तीय काँग्रेस-कमेटी की कार्यकारिणी ने अपने वक्तव्य में बड़ी दूरदर्शिता से कहा था, 'किसान सभाओं का संगठन ऐसे लोगों ने किया है जिन लोगों को जिला-काँग्रेस-कमेटी की कार्यकारिणी में जगह न मिली थी।'

इस संघर्ष का फल यह हुआ कि झगड़ा जमींदारों और किसानों के बीच ही न रहकर बहुत कुछ काँग्रेस और किसान-सभाओं के बीच हो गया। यद्यपि किसान-सभाओं के नेता भी काँग्रेस के सदस्य हैं, परन्तु कांग्रेस के हाई कमांड की नीति से मतभेद होनें के कारण वे जैसे उससे अलग हो गये हों। दोनों दलों में गहरा मतभेद हो गया है।

किसान-सभा और काँग्रेस के बीच अन्तर बढ़ाने के लिए काँग्रेस-सरकार भी उत्तरदायी है। सरकार की नीति से किसान-सभाओं को

असन्तोष रहा, इसलिए जमींदारों का विरोध करने, उस सरकार का विरोध करने के लिए भी वे बाध्य हुई जो उनकी माँगों पर उचित ध्यान न दे रही थी। यह विरोध किसान-मार्च, धारा सभाओं के आगे प्रदर्शन आदि के रूप में ही हुआ। किसान-सभा के नेता मानते थे कि बड़े-बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए शासन-विधान में गुंजाइश न थी, लेकिन उनका कहना था कि जितनों के लिए गुंजाइश थी, उतने परिवर्तन करने में भी काँग्रेस आनाकानी कर रही थी। बिहार के नेताओं का कहना था कि वहाँ जो टेनेंसीबिल पास हुआ, वह अपने पहले रूप में नहीं वरन् जमींदारों से बहुत से समझौते करने के बाद। इसलिए किसानों को विभिन्न उपायों से अपना असन्तोष प्रकट करना ही पड़ा। सरकार का रुख ऐसा था जिससे मालूम पड़ता था कि वह किसानों की तकलीफें दूर करने के लिए बहुत उत्सुक नहीं है। उन्नाव की एक सभा में गोविंदवल्लभ जी ने कहा था कि किसानों के लगान न देने से 'हमारी प्रतिष्ठा में धक्का लगेगा....लगान अदा न करना आपके सर्वोत्तम हितों के लिए हानिकारक है।' (संघर्ष ३ जनवरी सन् ३८)। यह प्रतिष्ठा का नया मर्ज जो उठ खड़ा हुआ था ! किसानों के प्रति न्याय करते हुए इसका भी बीच में ध्यानरखना पड़ता था। इसके सिवा काँग्रेस-कमेटियों ने उन कार्यकर्ताओं पर अनुशासन-सम्बन्धी कार्रवाई की जो किसान-सभाओं के आन्दोलन में भाग ले रहे थे। जमींदार जब इन कार्यकर्ताओं पर तरह-तरह से अत्याचार करते, तब काँग्रेसी सरकार चुप ही न रहती बल्कि किसानों के सत्याग्रह करने पर उन्हें जेल में भी ठूंस देती। पिता ने पुत्र को भी नहीं छोड़ा जैसा कि पश्चिमोत्तर प्रान्त में हुआ ; डा० खाँ साहब ने अपने पुत्र को किसान-आन्दोलन में भाग लेने के कारण जेल भेजा। कहने को काँग्रेस शासनविधान के व्यूह के भीतर घुसी थी उसे तोड़ने के लिए, लेकिन अब उसकी तमाम शक्ति इस नये आन्दोलन को दबाने में खर्च होने लगी। हाई कमांड उसकी नीति का निर्देशक था। काँग्रेस एक साम्राज्यवाद-विरोधी संस्था थी लेकिन उसका एक भाग किसान-आन्दोलन का ही विरोधी बन बैठा

और अपने साम्राज्यवाद-विरोध को भूल गया।

किसान-आंदोलन ने काँग्रेस के एक अंग का असली रूप हमारे सामने रखा है। यह भाग सुधारवादी, जमींदारों से समझौता करने-वाला और शक्ति चाहने वाला है। वह सच्चे रूप में क्रान्तिकारी नहीं है। लोगों की आदत है कि वे नेतृत्व के लिए काँग्रेस का मुँह जोहें। क्रान्ति के समय काँग्रेस पर इस भाग का शासन प्राणघातक हो सकता है। आन्दोलन को वह लोगों की आँखों में धूल झोंककर बड़ी आसानी से सुधार और समझौते की राह में ठेल सकता है।

काँग्रेस और किसान-सभाओं के इस संघर्ष से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पदग्रहण के बाद काँग्रेस ने जो भी क्रान्तिकारी कार्य किया है, वह इन किसान-सभाओं द्वारा ही। यह कार्य 'काँग्रेस' ने इसलिए किया है कि किसान सभाओं के कार्यकर्ता भी काँग्रेसी हैं। फिर भी काँग्रेस के एक बड़े भाग की सहानुभूति इस किसान-आन्दोलन से नहीं रही है और काँग्रेस कहने से बहुत कुछ उसी दल का बोध होता है। इस भाग की सुधारवादी मनोवृत्ति के आगे किसान सभाएँ क्रान्तिकारी अवश्य लगती हैं; परन्तु देखना है कि वे कहाँ तक क्रान्तिकारी कही जा सकती हैं और आगे क्या काम कर सकती हैं। बात तो यह है कि किसान-सभाओं का जन्म काँग्रेस की तरह सुधारों के लिए आंदोलन करने को हुआ था। बिहार में जब सन्' २६ में किसान-सभा बनी थी, तब उसका ध्येय जमींदारों की छत्र-छाया में ही अपनी दशा में सुधार करना था। धीरे-धीरे आंदोलन के बढ़ने पर किसान-सभाओं की खास माँग जमींदारी प्रथा का नाश हो गई है। अब उनका आन्दोलन इस प्रकार का नाश करने के लिए ही नहीं वरन् महाजनों से छुटकारा पाने के लिए, लगान में माफी के लिए, जङ्गल में लकड़ी काटने आदि के लिये भी है। काफी सुधार देने के लिए अगर सरकार राजी हो तो आंदोलन ढीला भी पड़ सकता है। सुधार की माँगें करने से किसान-सभाओं का क्रान्तिकारी रूप नष्ट नहीं हो जाता। ऐसा भी हुआ है कि

जो सुधारों की माँग लेकर चले थे, वे क्रान्तिकारी हो गये और जो पहले से ही क्रान्ति करने चले थे, वे सुधारवारियों से आ मिले। अभी किसान-सभाएँ पूरी तरह क्रान्तिकारी नहीं हैं लेकिन वे उस रास्ते पर चल जरूर रहीं हैं।

जब अगला आन्दोलन छिड़ेगा तब क्या ये किसान सभाएँ उससे अलग रहेंगी? जो लोग कहते हैं कि किसान-सभाओं से साम्राज्यवाद की ताकत बढ़ेगी, उन्हें पिछले आन्दोलन में किसानसभाओं की कार्य-वाही पर ध्यान देना चाहिये। पिछले आन्दोलन में बिहार का किसान आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन में घुल-मिल गया था और नतीजा यह हुआ था कि जब किसान-सभाओं के नेता जेल चले गये तो किसान-आंदोलन अपने आप बन्द हो गया। यही हाल अगले आन्दोलन में भी हो सकता है। बिना किसानों के राष्ट्रीय आन्दोलन का कोई अर्थ नहीं। जब राष्ट्रीय लड़ाई छिड़ेगी, तब किसान राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ायेंगे और उनकी लड़ाई अकेली और अलग न रह जायगी।

किसान-सभाओं से जो बहुत ज्यादा चिढ़ गये हैं या जो उन पर बहुत बड़ी आशाएँ बाँधे बैठे हैं, शायद दोनों ही वस्तुस्थिति को भूल गये हैं। जो किसान-आन्दोलन से डरते हैं, वे शायद इसलिए कि अन्त में कहीं उनके दल को पद-त्याग न करना पड़े। यह भय निर्मूल नहीं कहा जा सकता लेकिन उन्हें याद रखना चाहिये कि एक दिन कांग्रेस को धारा-सभाओं से निकल कर मैदान में आना ही पड़ेगा। तब जो आन्दोलन चलेगा उसमें किसान-सभाएँ अलग से न लड़ेंगी वरन् वे साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई में अपने को औरों से मिला देंगी। इसी तरह किसान-सभाओं के हाल के आन्दोलन से बहुत बड़ी आशाएँ रखना भी सही नहीं है। बिहार, आन्ध्र या यू. पी. की किसान सभाएँ अकेले कोई बहुत बड़ा काम नहीं कर सकतीं। उनके आन्दोलन के क्रान्तिकारी होने के लिए जरूरी है कि उसके पीछे साधारण मध्यवर्ग के लोगों को भी सक्रिय सहानुभूति हो और उसके साथ ही मजदूरों का भी एक संग-ठित आंदोलन चल रहा हो। बिना इन सबके एक सुसंगठित मोर्चे की

लड़ाई असम्भव है। इसलिए किसान-सभाओं के आन्दोलन का अभी यही मूल्य है कि वह किसानों को अधिक से अधिक सुधार दिलाये। वह प्रधानतः अभी एक सुधारवादी आन्दोलन है, क्रान्तिकारी नहीं। लेकिन उससे एक लाभ यह हुआ है कि उसने जनता को एकदम ही सुधारवादी मनोवृत्ति का नहीं बन जाने दिया वरन् जन-आंदोलन में लोगों की रुचि को बनाये रखा है। साथ ही उसने उस नेतृत्व के खोखलेपन को भी सब के सामने प्रकट कर दिया है जो किसान-मजदूरों का हित-चिंतक बनकर काँग्रेस को अपने कब्जे में किये हुए था। बिना किसान-सभाओं के आंदोलन के काँग्रेस के एक प्रतिक्रियावादी और सुधार-प्रिय भाग से लोग बेखबर ही रहते। कम से कम आगे के लिए जनता को काफी चेतावनी मिली है कि वह ऐसे लोगों के हाथ में अपने आन्दोलन की बागडोर न दे जो उसे अधबिच में ही छोड़कर समझौता कर लें।

१६४१

पं सालिगराम परसू के मिसिर

श्रीराम रोड (लखनऊ) पर थोक कपड़े के व्यापारियों की अनेक दूकानें हैं। पुलिस चौकी से चलते हुए बाँए हाथ को जिन दो दूकानों के साइनबोर्ड बाहर को त्रिकोणाकार निकले दिखाई देते हैं, उन्हीं में से दूसरी लाला शि···की दूकान है। बरामदे को पार कर दूकान के ऊपर सबसे पहले खम्भे की आड़ लगाये बोरे पर आसन मारे बैठे हुए पं० सालिगराम परसू के मिसिर ही आपको दिखाई देंगे। उनके नाम के साथ 'परसू के मिसर' जोड़ना आवश्यक है, क्योंकि सालिगराम अपनें कुल के आगे बाला के सुकुल और चत्तू के तिवारी किसी की भी उच्चता टिकनें नहीं देते। साँवला सा रङ्ग, सत्ताइस के उस पार और तीस कें इस पार उम्र, खद्दर की मैली सी टोपी, जिसमें घर पर धोने के कारण सिकुड़नें पड़ी हुईं और एक वैसा ही मिल के कपड़े का धारीदार कुरता, साधारणतः यही उनकी पोशाक है। बहुत जाड़ा पड़ने पर वह अपना एक कम्बल भी ओढ़ लेते हैं। बाईं जाँघ पर बायें हाथ का कुछ ज़ोर दिये, दाहिने से एक ओर की मूँछ कुछ ऊँची करते हुए सालिगराम न जाने श्रीराम रोड के उस पार किस अनन्त की ओर देखा और सोचा करते हैं। यदि किसी ने रहस्यवादी कवि को न देखकर उसके कार्टून या किसी ऐरे-गैरे समालोचक का लिखा उसका वर्णन ही पढ़ा हो, तो वह पं० जी को देखकर अवश्य ही कह उठे—"यह बस वही है!" धूल उड़ाती, पों-पों, काँ-काँ, सीपों-सीपों और अनेक अवर्ण-नीय शब्द करती मोटरें, टिन्-टिन् या अविराम गति से घन्नन् घण्टी बजाती साइकिलें, गुमान भरे ताँगे और उन सबसे निम्न लखनऊ के दर्शनीय प्रातः-स्मरणीय इक्के, टिक-टिक, "चलना हुज़ूर" की पुकार—भक्त को माया की भाँति सालिगराम को यह सब कुछ भी नहीं लुभा

सकता। सामनें कबर वाली पूड़ी की दूकान में सदा भीड़ लगी रहती है; वह कुछ वहाँ देखते हों, ऐसा भी नहीं। उनकी दृष्टि में कुछ ऐसी विचित्रता है कि वह ऊपर देखते हैं या नीचे, नज़दीक या दूर, कुछ देखते भी हैं या नहीं, कुछ भी दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता।

सात बरस पहले गाँव में खेती-बारी के सम्बन्ध में अपने बड़े भाई से लड़-झगड़ कर वह परदेश कमाने चले थे। लखनऊ में उनके जीजा थे; वहीं वह अपनी माँ के साथ आकर टिके। बचपन में उन्होंने ऐसी अनेक कहानियां सुनी थीं जिनमें सौतेली रानी का राजकुमार राज छोड़कर परदेश कमाने चला था। लखनऊ में इसी दूकान पर वह पल्लेदार रखवा दिये गये। किसी मिठाई वाले, दूधवाले या जनरल मर्चेन्ट की दूकान में उनकी नौकरी क्यों नहीं लगी, यह कहना कठिन है। सालिगराम से जब पूछा गया—"क्या काम कर सकते हो ?" तो बोले—"जब नौकरिही करै चलेन है तब मेहनत मजूरी जऊँ कइहौ, सबै करब।" पूछा—"लोगे क्या ?" तो बोले–"दुइ पैसा रोजु ल्याब।" सालिगराम की तनख़ाह आजकल सात रुपये हैं। पर दो पैसे और उससे बढ़कर चार पैसे से अधिक उनके लिए कोई संख्या नहीं। सालिगराम का काम है फुटकर दूकानदारों का कपड़ा अपनी दूकान से लेकर उनकी दूकान तक पहुँचा देना। ग्राहकों ने मजदूरी के दो-तीन या चार पैसे दिये तो वह प्रसन्न मन दूकान पर आकर बैठ जाते हैं। कहीं उसने इकन्नी-दुअन्नी दे दी तो वह क्रुद्ध हो, भौंहें टेढ़ी किये दुर्वासा या परशुराम का मौन अवतार बन जाते हैं। बहुत पूछने पर अगर बोले भी तो सिपाही को एक पैसा देकर उस दूकानदार को थाने में बन्द करा देने की धमकी देते हैं।

सालिगराम के चार पैसे से अधिक का मूल्य न आँक सकने के कारण दूकान के आदमियों को कभी-कभी बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। यदि पान मँगाने की ज़रूरत हुई और खाने वाले ज्यादा हुए तो सालिगराम को तीन-चार बार रटा देना पड़ता है कि दो आने या दस पैसे के पान लाना। कहीं वह पान वाले की दूकान

जाते जाते भूल गये तो फिर दो ही पैसे के पान लेकर लौटेंगे। और ठीक पैसे न देकर उन्हें कहीं चौअन्नी-अठन्नी दे दी गई तो बाकी पैसे भी वह अपनी ओर से माँग कर न लायेंगे; वही दे दे तो दे दे। इसी भाँति यदि सालिगराम से कहा जाय कि फलानी दूकान पर दस थान गिना आओ तो वह थान वहाँ तक ले जाने का वादा तो करते हैं, पर उन्हें गिनने का भार उसी पर छोड़ देते हैं।

लोगों का कहना है कि सालिगराम की जगह दूकान में दूसरा आदमी हो तो वह दिन में न जाने कितना कमाये, पर उन्हें कमाना आता ही नहीं। पहले तो वह अपनी मजदूरी कम लेना पसंद करते हैं और फिर किसी दूकानदार ने कहीं कह दिया कि "दाम फिर ले जाना" तो सालिगराम अपने आप जाकर उससे माँगने के नहीं। उनमें स्वाभिमान का अंश औरों की अपेक्षा कुछ अधिक है। यदि पान वाले ने अपने आप पैसे लौटाकर न दियें तो सालिगराम को उन्हें फिर लेने उसके पास भेज देना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। उन्हें जो कहना-सुनना होता है, एक ही बार कह-सुन लेते हैं; यदि दूसरा उसके अनुसार काम न करे तो उस पर वह मन ही मन क्रुद्ध हो लेते हैं, पर उससे कुछ नहीं कहते। एक बार उन्हें दूकान से कुछ कपड़ा मुनीम जी के घर दे आने को दिया गया। सालिगराम ने दरवाजे पर जाकर एक आवाज़ दी। पूछा गया—"कौन है ?" तो निरुत्तर ! दरवाजे पर प्राय: एक घन्टे बैठे रहे, पर जिस आदमी ने उनसे उनका नाम पूछने की ढिठाई की थी, उसे उन्होंने फिर बुलाना स्वीकार न किया। अन्त में वह दूकान लौट आए और कहा कि वहाँ कोई दरवाज़ा ही न खोलता था !

लखनऊ में इतने दिनों से रहते हुए भी जैसे औरों को होता है, उन्हें यहाँ की हवा नहीं लगी ! उनका जीवन प्रायः उतना ही संकुचित या विस्तृत है, जितना कि उनके यहाँ पहले-पहल आने के दिन था। सड़क पार करते समय अब भी उन्हें पाँच से पन्द्रह मिनट तक जो न लग जाएँ, वह थोड़े। उसके जीवन से वह कभी परिचित नहीं हुए। मोटर वहाँ जब एक भी न हो, और साईकिल, इक्के आदि भी

काफी दूर हों, तभी वह एक सपाटे में उसे पार करते हैं। लखनऊ में रहने का उन्होंनें एक बार अवश्य उपयोग किया, अपने व्याह के सिलसिले में। जब इनको लोग देखने आते थे तब वह अपना एक पुराना रेशमी कुर्ता पहन कर और बहुत दिनों का गैरधुला गुलाबी साफ़ा बांध कर दूकान के भीतर बैठ जाया करते थे, जिसमें वे यह न समझें कि वह कोई साधारण पल्लेदार हैं, उन्हें दूकान का ही कोई आदमी समझें। कभी-कभी लोग उनके इस अभ्यास का अनुचित उपयोग भी करते थे। "देखुआ आ रहे हैं" कह देने पर वह भीतर जा बैठते और ग्राहकों का सामान ले जाने के नाम पर टस से मस न होते। जब सालिगराम का ब्याह तै हो गया और एक दिन बारात इनकी ससुराल पहुँची तो साथ के लोगों ने इन्हें समझा दिया कि घर में लोग तुमसे मज़ाक करें तो कोई जवाब न देना। सालिगराम जब कलेवा करने गये तो साली-सलहजों और पास-पड़ोस की स्त्रियों ने इन्हें छेड़ना शुरू किया। पहले तो वह चुप, शायद पलंग पर पाल्थी मारकर अपने स्वाभाबिक रूप से बाईं कोहनी का बायें पैर पर जोर दिये दाहिने हाथ से अपनी मूँछ कुछ ऊँची करते हुए बैठे रहे। लेकिन छेड़-छाड़ बहुत बढ़ती देखी तो एक ही बार में उन्हें चुप कर देने का विचार करके बोले—"जनती नहीं हौ, हम लखनऊ माँ रहित है, जहाँ इमामबाड़ा और बनारसी बाग हैं। हियाँ का बातैं करती हो, हुँआ आवो तो तुमका जवाब देई।"

सालिगराम अपनी बात छिपाना नहीं जानते! लोग जो पूछते हैं, वह बता देते हैं। उनके वैवाहिक जीवन का मौखिक आनन्द उनके मुँह से सभी दूकानवाले लूट चुके हैं। जब काम करते-करते जी ऊब जाता है तो किन्हीं नियमित प्रहरों में पास-पड़ोस के लोग आकर इकट्ठा हो जाते हैं। पैसे-पैसे की मटर या चाट लेकर वे सब वहाँ खाते हैं और सालिगराम को छेड़-छेड़ कर उनको बातें सुनते हैं। किस प्रकार पलँग पर बैठे हुए वह उचक-उचक कर अपने चारों ओर देखते रहे, इस भय से कि कोई स्त्री उनका कुर्ता गलीचे में सी न दे। इसे सालिगराम अपने हाव-भाव, आकार-इङ्गितों से बड़ी कुशलता-पूर्वक प्रकट करते हैं। सुनने

वालों का आनन्द इससे और भी बढ़ जाता है। सालिगराम जब कलेवा करने चले तो उनके जीजा ने कह दिया था कि "खाओ" कहने पर झट से खाने न लगना। यह बताते हुए कि उस बात का स्मरण रख कर मंडप के नीचे सबके लाख कहने पर भी उन्होंने किसी प्रकार भोजन न किया, वरन् सारी रात जीजा के ही खाना खाने के लिए कहने न आने तक चुपचाप बैठे रहे, वह ऐसे गम्भीर हो जाते हैं मानो अशोक के समय की बौद्ध-शिलाकारी का एक अनुपम नमूना हों। ख़ैरियत तभी तक है जब तक सब लोग उन्हीं की भाँति गम्भीरता से उनकी बातें सुना करें। यदि उनमें से किसी को हँसते उन्होंने देख लिया तो लाख बुलाने पर भी वह नहीं बकुरते। दूकान के दलाल, आते-जाते ग्राहक, सभी बिना सालिगराम से एक दो बातें किये वहाँ से नहीं जाते। उनके इसी व्यवहार के कारण शायद वह साधारणतः कुछ रिसौंहें से भौंहें टेढ़ी किये 'मिलिटेंट' मूड में बैठे रहते हैं।

श्रीराम रोड पर थोक कपड़े की दूकान पर बैठे पं० सालिगराम चित्र की केन्द्र-मूर्ति के समान हैं; अन्य वस्तुएँ तथा आकार चित्र के पश्चात् भाग में पड़े जैसे उन्हीं को उभार कर दिखाने के लिए हों। दूकान में सैकड़ों रुपये का माल आया-जाया करता है। एक से एक व्यापारी नित्य आते-जाते हैं, गद्दी पर बैठे मुनीमजी न जाने कितने की रोकड़ नित्य मिलाते हैं, किन्तु उनमें से किसी का भी जैसे सालिगराम से अधिक मूल्य न हो। वहाँ जाते ही उन पर दृष्टि अटक कर रह जाती है। इसी भाँति संसार में विदेह के समान रहते हुए उनके दिन कटते जाते हैं; शायद जब तक यह दूकान रहे तब तक वह भी रहें। केवल एक बार जीवन के इस सुख-प्रवाह में उच्छृङ्खलता उत्पन्न हुई थी, जब उनकी माँ का स्वर्गवास हुआ था। सालिगराम अपनी माँ को बहुत प्यार करते थे। दूकान से तनख़ाह या दिन की मेहनत-मजूरी का जो कुछ भी धेली-सूका मिलता, माँ को ही देते। जब अन्तिम क्रिया करके दूकानपर आये तो किसी ने पूछा —"सालिगराम, अपनी माँ को फूँक आये ? माँ को, जो तुम्हें इतना प्यार करती थीं ?" सालिगराम

आँखों में आँसू भरकर अपने किये पर पछताते से बोले—"हम तो न फूँकित रहै, मुला जीजा कहै लागि फूँकि दियो तऊँ फूँकि दीन।" फिर पूछा—"जलने के पहले कुछ कहा था माँ ने?" बोले—"साइद कहा तो तेइन मुला हम दूरि रही तौं सुनि नहीं पावा।"

सालिगराम को कोई सीधा, दया की वस्तु समझते हैं, कोई मूर्ख। मेरी समझ में अपने समय के बाहर उत्पन्न वह सतयुग की एक अमूल्य विभूति हैं, जिसका आज के लोगों के लिए मूल्य आँकना कठिन है।

१९३६

आज़ाद चीन में ज़मींदारी प्रथा का ख़ात्मा

चीन की आबादी कुल ४५ करोड़ के लगभग है जिसमें ८० फ़ीसदी किसान हैं।

चीन की कुल ज़मीन का लगभग ८० फ़ीसदी हिस्सा मुट्ठी भर ज़मींदारों के हाथ में है या अब तक रहा है और बाकी किसान बहुत थोड़ी ज़मीन पर या बिना ज़मीन के ही ज़िन्दगी बसर करते रहे हैं।

चीन एक खेतिहर देश है। उसकी अधिकांश जनता किसान है। यूरुप के देशों की तरह उसके उद्योगधन्धों का विकास नहीं हो पया। इसका कारण पहले विदेशी ताकतों की दखलंदाज़ी, फिर जापानी हमला और उसके बाद अमरीकी पूँजीपतियों की आततायी नीति रही है। पच्छिमी साम्राज्यवाद ने चीन को अपना उपनिवेश बनाकर रखा है जिससे उसके उद्योग-धन्धे पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये। अमरीकी पूँजीपतियों ने चीन के धन्धों में साझापत्ती करके अपना कारबार खोलकर और अमरीका में बना हुआ माल लाकर चीन की आर्थिक व्यवस्था को बिलकुल चौपट कर दिया। ऊपर से देखने में मालूम होता था कि अमरीकी इजारेदार चीन की मदद करते हैं। दरअसल वे चीन को तबाह किये दे रहे थे। चीनी उद्योग-धन्धे बन्द हो रहे थे और बेकारी बढ़ रही थी। शंघाई में लाखों की तादाद में बेघरबार लोग दरदर भटकते हुए भूख और बदहाली का सामना करने लगे।

अमरीकी हस्तक्षेप से चीन के आर्थिक ढाँचे ने जो झोंके खाये, उनका असर खेती पर भी पड़ा। किसानों को जरूरी चीज़ें बड़े महँगे दामों मिलती थीं और अक्सर वे मिलती ही न थीं। जापानी लड़ाई के दौरान में चीन में भयानक अकाल पड़ा। किसान पत्तियाँ और मिट्टी

खाकर जान बचाने की कोशिश करने लगे, फिर भी लाखों आदमी अकाल के शिकार हुए। च्यांग के फौजी अफसर इन दिनों जापान से लड़ने के बदले किसानों में लूटमार किया करते थे।

चीनी प्रजातंत्र कायम होने पर, सुनयात सेन के ज़माने में, किसानों ने अपनी सभाएँ बनाकर साम्राजी सर्दारों को हटाने में बहुत मदद की थी। १९२७ में च्यांग ने जब क्रान्ति-विरोध शुरू किया, तब उसने ये किसान-सभाएँ तोड़ दीं और हजारों किसानों को कत्ल करा डाला। १९२७ से अब तक च्यांग ने खेती में सुधार करने के लिये कई बार वादे किये लेकिन जिसकी हुकूमत ही ज़मींदारों के भरोसे चल रही हो, वह खेती में कौन से सुधार कर सकता है ?

किसानों के पास हलमाची पुराने ढंग के हैं। पहाड़ काट-काट कर उन्होंने खेत बनाये हैं। अक्सर फावड़े से गोड़-गोड़ कर वे खेत बोते हैं। सिंचाई के लिये नहर से पानी मिले तो वे भाग्यशाली समझे जाते हैं, वर्ना कुओं से सिंचाई होती है और कभी-कभी तो नीचे से पानी भर कर वे बाग की तरह खेत सींचते हैं। ह्वाङ्हो की भयानक बाढ़ से रक्षा करने का कोई साधन नहीं है। बाढ़ से हजारों गाँव तबाह हो जाते हैं। उस पर बचे-खुचे किसानों से लगान वसूल करने च्यांग के अफसर पहुँच ही जाते हैं या कभी पहुँच जाते थे। च्यांग की फौज बाढ़ और महामारी से कम खतरनाक साबित नहीं हुई। रँगरूट भर्ती करने वाले गाँवों में पहुँच कर गरीब किसानों के लड़कों को पकड़ लेते थे और उन्हें रस्सों में बाँध कर ले चलते थे। खाते-पीते किसानों से रुपये लेकर उनके लड़कों को छोड़ देते थे। रँगरूटों को शहर तक ले जाते समय अक्सर खाना नहीं दिया जाता था। कहा जाता था कि खाना देने से वे बगावत करने लगें गे। रास्ते में जो भूख से मर जाता था, उसे एक किनारे डाल कर अफ्सर लोग आगे बढ़ जाते थे।

च्यांग की फौज के अफ़सर ज़मींदार घराने के थे। क्या फौज में और क्या गांव में, वे किसानों से गुलामों जैसा व्यवहार करते थे। मारना, पीटना और गाली देना मामूली बात थी। जापानी लड़ाई के वक्त

मौरर ने एक स्टेशन पर देखा था कि स्पेशल में चंद अफ़्सर बैठे शराब पी रहे हैं और हजारों सिपाही थके माँदे और घायल दूसरी गाड़ी का इन्तजार कर रहे हैं जो पता नहीं कब आये और उसमें जगह भी हो या नहीं। ("मौरर इन चाइना")

सिपाहियों की मरहम पट्टी का जो सामान आता था उसे ये अफ़्सर ब्लैक में बेच लेते थे और सिपाही बेचारे बिना मरहम पट्टी के जान दे देते थे।

जापानी लड़ाई में सिपाही मारे जाते थे लेकिन अफ़्सर उनकी तादाद ज्यों कि त्यों दिखाते थे जिससे रसद बराबर मिलती रहे और वे उसे बेच कर मालामाल हो सकें।

चीन में घूसखोरी, बेइमानी और चोरबाजारी ने जो बेहिसाब तरक्की की है, उसका सबब च्यांग के समकक्ष ये जमींदार हैं। यही सबब है कि मौका मिलते ही च्यांग के सिपाही उसका साथ छोड़ कर जनवादी फौज से जा मिलते हैं और जा ही नहीं मिलते, उल्टा च्याँग के खिलाफ लड़ाई छेड़ कर पुराना बदला भी चुकाते हैं।

चीन के ज़मींदार फसल का ७० फीसदी से लेकर ६० फीसदी तक हिस्सा हड़पते रहे हैं। १० से ३० फीसदी तक जो कुछ बचता था, उसी में किसान अपने कुटुम्ब का पालन करता था और बैल-बधिया पर खर्च करता था। इतने से काम न चलता था तो किसान कर्ज़ लेता था। अक्सर महाजन और ज़मीदार एक ही आदमी होता था। खेत बोने के लिए किसान बीज उधार लेता था और उस पर उसे १०० फीसदी सालाना सूद देना पड़ता था! सूद की माहवारी दर १५-२० फीसदी से कम न होती थी।

तिथि-त्यौहार पर या जमींदार के घर नाती-पोता होने पर किसान मुर्गी-बतख वगैरह की भेंट भी ले जाता था और ज़मींदार गाँव में पधारे तो किसानों को उनकी पालकी भी उठानी चाहिए। ज़मींदार को कानून ने बहुत हक दे रखे हैं कि वह जैसा चाहे किसान से व्यवहार करे। ज़मींदार इसके अलावा भी कुछ ज्यादती करे तो कानून उस पर

ध्यान नहीं देता। कर्ज़दारों को सताने के लिए ज़मींदारों ने अपने जेलखाने तक बनवा रखे थे। कर्ज न दे पाने पर जमींदार किसान का माल असबाब ही न कुड़क कर लेता था, उसकी बीबी-लड़कियों तक को अपना गुलाम बना लेता था।

गरीबी और भुखमरी की बजह से हर साल लाखों किसान जान से हाथ धो बैठते हैं। इतनी जानें जाने पर भी देहात में बेकारी बढ़ते-बढ़ते इस साल के शुरू में सवा दो करोड़ के लगभग पहुँच गई थी।

च्यांग काई-शेक ने जैसे-जैसे कागजी नोटों के अंबार लगाने शुरू किये, वैसे वैसे नोटों का भरोसा न करके स्वयं उसके अफ़सर और नौकरशाह ज़मीन खरीद-खरीद कर जमींदार बनने लगे। कुओमिङतांग पार्टी कहती थीं, हम जमींदारी-प्रथा मिटायें गे। लेकिन मिटानी तो दूर, उसके सदस्य खुद जमींदारियाँ खड़ी कर रहे थे। इनकी जमींदारियाँ देश में सब से बढ़-चढ़ कर थीं। सैंया भये कोतवाल अब डर काहे का! खुद ही हाकिम, खुद ही ज़मींदार, फिर ज़मींदारी इनकी न बढ़ती तो किसकी बढ़ती?

च्यांग के अफसर जहाँ फौज लेकर जाते थे, वहीं किसानो की शामत आ जाती थी। अपनी मर्ज़ी से कीमत तै करके वे किसानों से अनाज 'खरीदते' थे। किसानों के घरों में ज़बर्दस्ती सिपाही टिकाये जाते थे। लूटमार और अन्धाधुन्धी का बाजार गर्म हो उठता था। फौज के आते ही किसान घरों में घुस कर भय से दरवाजे बंद कर लिया करते थे।

च्यांग ने देश के गरीब और तबाह किसानों की हालत सुधारने के लिए एक पाई खर्च नहीं की। अमरीका के हाथों अपना देश बेच कर उसने करोड़ों डालर जमींदारी-प्रथा कायम रखने में लगा दिए। अमरीका ने डालर ही नहीं, लड़ाई का ढेरों सामान भी च्यांग को दिया और कनाडा से भिजवाया। फिर भी च्याँग देश के ९० फीसदी किसानों को पुराने जुलम और बदहाली के नीचे दबाकर नहीं रख सका।

चीन के गरीब किसानों को वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी ने एक नया संदेश, एक नयी आशा, एक नया जीवन दिया।

१६२७ के पहले ही चीनी कम्युनिस्टों ने किसानों को अपने संगठन बनाकर खुद अपने पैरों खड़े होना सिखा दिया था । जहाँ भी कम्यु-निस्ट पार्टी का यह संदेश एक बार पहुँच गया, वहाँ च्याँग की दाल फिर नहीं गल सकी।

जापान-विरोधी लड़ाई के दिनों में कम्युनिस्ट पार्टी की अगुवाई में चीनी किसान एक बहुत बड़े इलाके में जापान से आज़ाद हो गए थे। उनका लगान और कर्ज़ वगैरह कम कर दिया गया था।

लड़ाई खत्म होने पर च्याँग ने समझौते का नाटक किया। शान्ति कायम करने के नाम पर ट्रूमैन के साथी मार्शल ने च्याँग की फौजी तैयारी कराई। अमरीकी हवाई जहाज़ों से च्याँग की फौजें उत्तरी चीन भेजी गईं। मंचूरिया से सोवियत फौजें हटाने पर च्याँग ने वहाँ अपनी फौजें भेज दीं।

च्याँग की फौज ने ज़मीदारों के गुंडा-दलों की मदद से किसानों पर खूनी राज कायम करना शुरू कर दिया। आज़ाद इलाकों में जो जन-वादी हुकूमत कायम हुई थीं, उन्हें खत्म करना शुरू कर दिया । लाचार किसानों को आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाने पड़े।

याद रखना चाहिए कि जापान-विरोधी लड़ाई खत्म होने के काफी दिन बाद गृह-युद्ध शुरू हुआ। इस बीच च्याँग लड़ाई की तैयारी करता रहा था। जापान से लड़ने के दिनों में भी वह एक भारी फौज के ज़रिए आज़ाद इलाक़ों का घेरा डाले हुए था। मार्शल की मदद से उसने फौजी तैयारी पूरी की और लड़ाई छेड़ दी।

इस लड़ाई में पहलक़दमी च्याँग के हाथ में थी। उसके पास भारी फौज थी, लड़ाई का सामान था और पीठ पर हाथ रखने वाला दुनियाँ का सबसे बड़ा पूंजीवादी देश अमरीका था। लेकिन यह लड़ाई चीन की विशाल जनता के खिलाफ़ मुट्ठी भर टोडियों और अमरीका के गुलामों ने छेड़ी थी। च्याँग राजनीतिक रूप से उसी दिन हार गया था जिस दिन उसने चीन के किसानों से अमरीका के डालरों का ज़्यादा भरोसा किया था।

च्यांग सन् २७ से वादा करता आरहा था कि खेती में सुधार करेगा। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में आज़ाद किसानों ने वह काम छः महीने में कर दिखाया।

सितम्बर १९४७ में आज़ाद किसानों ने एक विराट् सम्मेलन किया जिसमें जमींदारी-प्रथा खत्म करने का प्रस्ताव पास किया गया। इसमें कहा गया कि गाँव में जमींदार की तमाम ज़मीन किसान सभा के कब्जे में आजाय गी। किसान-सभा बूढ़े, जवान, औरत, मर्द का भेद किए बिना ज़मीन किसानों में बाँट देगी।

यह प्रस्ताव किसानों के नाम पर पूँजीवादी नेताओं ने न पास किया था जो पास करके उसे भूल जाते। यह प्रस्ताव खुद किसानों ने पास किया जिसे लागू करने वाली सभाएँ खुद उनकी अपनी थीं। इसलिए सरकारी अफसरों को हिदायत कर दी गई कि किसान-सभाओं के फैसले के खिलाफ कोई भी अफ़सर काम करेगा तो उसे नौकरी से उरखास्त कर दिया जायगा।

गाँव-गाँव में सभाएँ हुई। किसानों ने इस कानून का ज़ोरों से स्वागत किया और उसे तुरन्त लागू करना भी शुरू कर दिया। लाखों किसानों को अपना खेत जोतनें को मिला जिन्होंनें कभी किसी ज़मीन के टुकड़े को अपना कहा ही न था।

जनवादी सरकार पैदावार बढ़ाने में किसानों की मदद करती है। किसानों को बीज, हल, माची, बैल-बधिया और जरूरी पूँजी जुटाने में मदद करती है।

आजाद चीन के ज़मीदारों का बोरिया-बँधना उठ चुका है। सैकड़ों साल से चली आने वाली एशिया की गुलामी वहाँ खत्म हो चुकी है। चीनी किसान अब हुकूमत में हिस्सा लेते हैं। च्यांगशाही ने उन्हें कोई राजनीतिक हक नहीं दिया था, उसके लिये तो वे जानवरों और गुलामों से बदतर थे। च्यांगशाही से आज़ाद होकर वे एक नयी संस्कृति की तरफ बढ़ रहे हैं। वे हुकूमत के लिये अपने भीतर से खुद अपने प्रति-निधि चुनते हैं। जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, वे प्याले में बीन का दाना डाल

कर वोट देते हैं। वे अपना राजनीतिक हक पहचान गये हैं। और उसे वे अच्छी तरह काम में लाते हैं। अब किसी नौकरशाह की मजाल नहीं कि उन्हें घुड़काये और उनसे घूस ले। वे खुद गाँवों में जनता की अदालतें देख चुके हैं और उनमें हिस्सा ले चुके हैं। जनता की अदालतें उन जमींदारों और नौकरशाहों को सज़ा दे चुकी हैं जो अपने आगे किसी को गिनते न थे, जो किसानों पर जुल्म ढाते वक्त कभी यह सोचते न थे कि ये अपढ़ किसान भी उनके मुकाबले में उठ खड़े होंगे। जनता की अदालतों में किसानों के बेटों ने ही इन जालिम हाकिमों और जमीदारों की हेकड़ी भुला दी। इस जीत को कोई किसान भला कब भूल सकता है? इसलिये च्यांग की फौज, जिसके मददगार अमरीका के धन्नासेठ थे, आज काई की तरह फटती चली जा रही है। इसलिये जनवादी फौज, जिसके मददगार चीन के ४५ करोड़ किसान और मजदूर हैं, एक सैलाब की तरह च्यांगशाही को घेर कर उसे डुबा रही है।

खेती-सुधार के कानून के मुताबिक फौज में लड़ने वालों को दूसरे किसानों के बराबर ही जमीन मिलती है। यही नहीं, च्यांग की फौज के जो सिपाही इस तरफ आ जाते हैं और उनकी तादाद लाखों है, उन्हें भी जनवादी सरकार खेती करने की सुविधाएँ देती है। कल तक जो च्यांग के सिपाही थे, वे दो दिन बाद ही जनवादी फौजों के साथ रह कर चौगुने उत्साह से च्यांग के खिलाफ लड़ने लगते हैं।

जब तक ज़मींदारी प्रथा थी, तब तक किसान अपढ़ और पिछड़े हुए थे। अब आजाद होने पर वे शिक्षा और संस्कृति में तरक्की कर रहे हैं। उनके बच्चे स्कूल जाते हैं और वे जनवादी चीन के नए आजाद नागरिक बन रहे हैं। तेज लड़के शहरों में ऊँची शिक्षा पाने के लिये जाते हैं क्योंकि उन्हें अपने पिछड़े हुए देश को बहुत जल्दी आगे बढ़ाना है।

च्यांग के छेड़े हुए गृह-युद्ध ने और अमरीकी दखलंदाजी ने चीन की आर्थिक व्यवस्था को भारी हानि पहुँचाई है। फासिस्ट-विरोधी लड़ाई में जापान की हार होने के बाद एशिया की जनवादी ताकतें तेजी से आगे

बढ़ती जा रही हैं। दुनियाँ का पूँजीवाद संकट में पड़ा हुआ है, अपनी मौत की घड़ी टालने के लिये वह जनवादी ताकतों पर गोले बरसाता है। फिर भी जनवादी ताकतें आगे बढ़ती जा रही हैं।

सोवियत संघ ने निस्संदेह चीन की जनवादी ताकतों को मदद पहुँचाई है—हथियार या पैसा देकर नहीं, बल्कि मंचूरिया में जापान को परास्त करके। चीन की खेतिहर क्रान्ति उसी क्रान्तिकारी लहर का एक हिस्सा है—सबसे जबरदस्त हिस्सा—जो फ़ासिस्ट-विरोधी लड़ाई के बाद सारे एशिया में छा गई है।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीन के मजदूरों और किसानों ने देश को बड़ी तेजी से बहाल करना शुरू कर दिया है। च्यांग के मददगार अमरीकी हवाई-जहाज रेलों और उद्योग-धन्धों को जितना तबाह करते हैं, उतना ही धीरज से, लगन से और जल्दी से चीन के मजदूर उन्हें बहाल भी कर लेते हैं। इसीलिये जनवादी फौजें जब आँधी की तरह आगे बढ़ती हैं तो आवाजाही के रास्ते बदस्तूर कायम रहते हैं और सिपाहियों को रसद की कमी नहीं पड़ती। इस बहाली के काम में चीनी किसान बहुत बड़ा हिस्सा ले रहे हैं। ज़मींदारी प्रथा खत्म होने पर ख़ुद पैदावार बढ़ाने में वे पहलकदमी करते हैं और जो इस काम में नम्बर मार ले जाता है, उसे "वीर" की उपाधि दी जाती है।

चीनी किसानों ने उन्नति के रास्ते में एक बहुत बड़ा कदम यह उठाया है कि मंचूरिया में उन्होंने एक विशाल पंचायती खेत कायम किया है जिसमें हज़ारों किसान मिलकर मशीनों से खेती करते हैं। यह एक आदर्श फार्म है जिसे देखकर और सूबों में भी ऐसे ही फार्म खोले जायँगे। कहाँ बीघे भर ज़मीन में गधे से खेती, और कहाँ मीलों लंबे खेत में ट्रैक्टर पर बैठ कर नयी खेती! चीनी किसानों नें इतिहास का एक नया पृष्ठ उलट दिया है।

जनवादी फौजें नानकिंग का दरवाजा खटखटा रही हैं। मैडम

च्यांग उड़कर ट्रूमैन से दुखड़ा कहने गई हैं। वह दिन दूर नहीं कि बाकी चीन के किसान भी उत्तरी चीन के भाइयों की तरह आज़ाद हो जायेंगे। उस दिन के डर से ही एशिया के तमाम प्रतिक्रियावादियों की नींद हराम हो रही है।

१९४९

आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की

समुद्र में जलने वाली आग से भी भयानक पेट की आग है।

पानी में आग कैसे ?

वैसे, जैसे भारत की अन्नपूर्णा धरती पर भुखमरी।

अपना देश चमत्कारों का देश है। यहाँ समुद्र की नील जलराशि में आग दहकती है ; फल-फूल और धन-धान्य से भी भरी हुई धरती पर लोग भूखों मरते हैं।

बाबर जब हिन्दुस्तान आया था, तो उसने देखा था, "किसान और नीचे तबके के लोग नंगे फिरते हैं। वे नाभि के नीचे लँगोटी नाम की चीज़ बाँधे रहते हैं।"

बाबर ने यह भी देखा था कि अरब, खरब, नील, पदम और संख तक की गिनती यहाँ की अपार संपदा की साखी है। २

यह अपार संपदा ही मध्य एशिया के लुटेरों को बार-बार हिन्दुस्तान खींच कर लाई थी।

किसान और नीचे तबके के लोग लँगोटी बाँधे हुए दासों और अर्द्ध दासों की हालत में ईश्वर के अवतार राजा के लिये अन्न और धन उपजाते थे! ये ईश्वर के अवतार अपने को प्रजापालक कहते थे। प्रजापालन के लिये आतुर होकर आपस में लड़-लड़ जाते थे। कुछ विदेशी आक्रमणकारियों से मिल जाते थे, कुछ प्रजा-पालन के लिए उनका मुकाबला करते थे। लेकिन किसान और कमकर जनता की लँगोटी वैसे ही न छूटी जैसे सुदामा के घर से टूटा तवा और फूटी कठौती।

जनता के कवि देखते थे कि किसान की खेती उसका पेट नहीं भरती। जीविका के साधन न पाकर लोग एक दूसरे से कहते हैं—कहाँ जायँ, क्या करें ? जनता के कवि यह सब देखते थे, लेकिन इस व्य-

स्था को बदलने का रास्ता न पाकर वे दुखी होकर कृपालु राम की तरफ बाहें उठाकर यही कह उठते थे—"दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबन्धु दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।"

किसी ने ठीक कहा है—

"बीसियों, नहीं सैकड़ों बार कमकर जनता ने कोशिश की है कि अपनी पीठ पर से उत्पीड़कों को उतार फेंके और खुद अपने भाग्य की स्वामिनी बन जाय। लेकिन हर बार उसे पीछे हटना पड़ा और हृदय में पराजय और अपमान, निराशा और क्रोध की ज्वाला छिपाये उसने रहस्यमय आकाश की तरफ हाथ उठाये कि वहाँ से उसे मुक्ति मिलेगी।"

बीसियों, नहीं सैकड़ों बार, हिन्दुस्तान की जनता ने भी देशी और विदेशी उत्पीड़कों का जुआ उतार फेंकने की कोशिश की लेकिन हर बार उसे पीछे हटना पड़ा और आज वह फिर बीसवीं सदी के बीचो-बीच हृदय में अपमान और क्रोध की ज्वाला छिपाये भुखमरी का सामना कर रही है।

इतिहास गवाह है, भारत की जनता ने आसानी से अपनी मेहनत का फल ईश्वर के अवतारों को नहीं सौंप दिया। बाबर को शिकायत थी कि "जब कोई हिन्दुस्तान जाता है तो पहाड़ों और मैदानों से अनगिनत गूजर और जाट उसे लूटने के लिये टूट पड़ते हैं।"

बाबर समझता था कि लूटने का काम करने वाले पहाड़ों और मैदानों के अनगिनत लोग हैं। लुट जाने वाला वह खुद है।

लेकिन बात सिर्फ गूजरों और जाटों की नहीं थी। बाबर ने यह भी लिखा था, "मैदान के बहुत से हिस्सों में जहाँ रक्षा के लिये कटीले जंगल हैं, परगनों की जनता बुरी तरह सरकश हो जाती है और टैक्स नहीं देती।"

बाबर के ज़माने में हिन्दुस्तान की जनता प्रकृति की सहायता से अपनी रक्षा करती थी और टैक्स देने से इन्कार कर देती थी।

वारन हेस्टिंग्स के ज़माने में जब किसानों को लगान देने के लिये

बाल-बच्चे बेचने पर मजबूर किया जाने लगा, तब उन्होंने विद्रोह कर दिया।

अंग्रेजों की फौज जंगलों में उनका शिकार खेलने निकल पड़ी।

१८५७ के विद्रोह में तालुकदार और राजे नवाब तोपों से नहीं उड़ाये गये। अवध के किसान तोपों से बाँधकर हवा में छर्रों जैसे उड़ाये गये; उनके गाँव जलाए गए; उनकी औरतों को बेइज्जत किया गया; उनके बच्चों के कत्ले-आम हुए।

जिन्होंने अपने बच्चे बेचकर टैक्स दिया था, जिन्हें पिजड़े में बन्द करके धूप में खड़ा किया गया था, वही अवध के किसान १८५७ में कह उठे थे—

"रिपु बलवंत देखि नहीं डरहीं,
एक बार कालहु सन लरहीं।"

पर अकाल पर अकाल पड़ते रहे।

१८७७ से लेकर १९०० तक "कम करके आँकने पर" भी एक करोड़ पचास लाख आदमी अकाल और भुखमरी के शिकार हुए।

फिर पहला विश्वव्यापी युद्ध और हिन्दुस्तान में महामारी और अकाल का प्रकोप। और दूसरा महायुद्ध और बंगाल का अकाल।

फिर तीसरे महायुद्ध की लपटें पूसान और सिंगापुर में। हिन्दुस्तान में बच्चों का विक्रय, आत्महत्याएँ, भुखमरी से "स्वाभाविक" मौत और खाद्यमंत्री का वन-महोत्सव।

वेवल और माउन्टबैटन के ज़माने में, या स्वतंत्र भारत में, ठीक नहीं कह सकता, श्री जे० सी० कुमारप्पा और उनके साथी किसानों की दशा जाँचने दक्षिण भारत के एक गाँव में गये। उन्होंने देखा कि बहुत से घर उजाड़ दिये गये हैं। गाँववालों ने बताया कि ज्यादा मजदूरी माँगने पर मिरासदार के गुंडों ने उनकी फसलें बरबाद कर दी थीं और अनेक घर उजाड़ दिये थे।

'भयानक दृश्य था। मूसलाधार पानी बरस रहा था लेकिन भूखी अधनंगी औरतें रोती बिलखती हुई कमेटी के चेयरमैन और मेम्बरों के

पैरों पर गिर पड़ीं और रक्षा के लिये बिनती करने लगीं। कुल मिला कर ३० मकान बरबाद किए गए थे जिनमें उनके नेता का भी घर था। गाँव वालों का कहना था कि मिरासदार ने रामनद ज़िले में गुंडे बुलवा कर तबाही बरपा की थी। उनका यह भी कहना था कि जो मकान उजाड़े गए, उनकी छतों की लकड़ियों को गुण्डों ने ईंधन की तरह जलाया।"

ये बाबर और वारेन हेस्टिंग्स के सिपाही नहीं थे। ये हिन्दुस्तान के मिरासदार और उनके गुंडे थे जिन्होंने किसानों की फसलें उजाड़ी थीं और उनके घर बरबाद किए थे।

श्री कुमारप्पा और उनके सहकारियों ने देखा कि कई स्कूल बर्बाद किए गए हैं। जब कमकरों ने ज़्यादा पगार माँगी तो मिरासदार ने ग़ुस्सा होकर कहा कि शिक्षा ने ही उनका सिर फेर दिया है। इसलिए उसने स्कूल ही बरबाद करा दिये।

यह हिटलर या मैकआर्थर के सिपाही नहीं थे जिन्होंने स्कूल गिराए थे। यह हिन्दुस्तानी किसान की कमाई खाने वाले मिरासदार थे जो उनके स्कूल गिरवा रहे थे।

श्री कुमारप्पा ने यह रिपोर्ट सन् ४९ में छापी है। हो सकता है, ऊपर की घटनाएँ स्वतन्त्र भारत की हों या स्वतन्त्रता मिलने के पहिले की हों।

लेकिन सन् '५० में, आजादी के तीन साल बीतने पर, बंगाल में—जिस बंगाल ने सन् ४३ में ३५ लाख को भूख से दम तोड़ते देखा है—भूखों पर आँसू गैस और लाठियों की वर्षा की गई।

बंगाल, बिहार, राजस्थान, आन्ध्र, तमिलनाड—एक प्रदेश के बाद दूसरे पर अकाल के बादल घिरते आ रहे हैं। और उपचार के लिये लाठी, गैस, बन्दूक।

काँग्रेसी मंत्रिमंडल जमींदारी प्रथा खत्म करने और किसानों को जमीन देने की तीन साल से कोशिश कर रहे हैं लेकिन क्या करें बेचारे, न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी! न अपढ़ किसान दस-

गुना देंगे, न जमीदारों को मुग्रावजा देकर जमींदारी प्रथा खत्म होगी।

हिन्दुस्तान की जनता ग्रपनी रक्षा कर सकती है। बह ग्रकाल में घुल-कर मरने से ग्रपनी संतान को बचा सकती है। जनता की एकता, उसका संगठन वह सबसे प्रबल ग्रस्त्र है जो ग्रकाल के दैत्य को परास्त कर सकता है। रहस्यमय ग्राकाश की तरफ निराशा ग्रौर पराजय से क्षुब्ध होकर हाथ उठाने के दिन बीत गए। यह दूसरा युग है जब देश-देश की जनता स्वयं ग्रपनी भाग्य विधाता बन रही है। रूस के किसान जो तीस साल पहले लकड़ी की फाल वाले हल चलाते थे, ग्राज ट्रैक्टरों से खेती करते हैं। चीनी किसान, जिन्हें ग्रंग्रेजों, ग्रमरीकियों ग्रौर वहाँ के सामन्तों ने मनों ग्रफीम खिलाई थी कि वे कभी न जागें, वे दास प्रथा के बन्धन तोड़ कर स्वाधीन हो गए हैं। हिन्दुस्तान में भी तमाम देशभक्तों की एकता, जनता का विशाल ग्रौर ग्रटूट जनवादी मोर्चा देश को भूख की ग्राग से ग्रौर समस्त एशिया को तीसरे महायुद्ध की ग्राग से बचा सकता है।

मीठी बातों से किसी का पेट नहीं भरता। सत्य ग्रौर ग्रहिंसा की परख कामों से होती है ग्रौर परखने भर को बहुत से काम ग्राँखों के सामने ग्रा चुके हैं। मोर भी मीठा बोलता है लेकिन खाता है साँप !

बोलहि मधुर बचन जिमि मोरा।
खाइ महा ग्रहि हृदय कठोरा।

जनता ग्रपने भरोसे, ग्रपनी एकता ग्रौर संगठन के बलपर ही ग्रकाल ग्रौर दासता पर विजय पा सकती है।

यह सच है कि "ग्रागि बड़वागि ते बड़ी है ग्रागि पेट की" लेकिन जन-समुद्र की लहरें उसे बुझा भी सकती हैं।

ग्रन्नपूर्णा धरती पर भारत की जनता का भूखों मरना पानी में जलती दुई ग्राग जैसा चमत्कार है। स्वाभाविक यह है कि ग्रन्न पैदा करने वाला ग्रन्न खाने का भी हकदार हो; मेहनत करने वाला मेहनत का फल पाने का हकदार हो।

हिन्दी के लेखक जानते हैं:—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई॥

क्या वे अपने प्रिय देश को सुखी और स्वतंत्र देखने के लिए इस वाक्य के अनुसार आचरण न करेंगे?

१९५०

मृत्यु की प्रयोगशाला

साहित्यकारों को हम सहज ही प्यार करते हैं । उनकी रचनाओं से हमारा माथा ऊँचा होता है । वे हमारे शिक्षक हैं, हमारे लिए नयी सृष्टि रचने वाले हैं । इसलिए उनका घुल-घुल कर मरना पूरे समाज को चुनौती है, पूरे समाज के लिए कलंक भी है !

हमारे युग का सबसे बड़ा लेखक प्रेमचन्द बहुत ही कठिन परिस्थितियों में हमसे विदा हुआ । 'हंस' को बचाने के लिये उन्होंने क्या नहीं किया । एक प्रकाशन-संस्था से कुछ प्रबन्ध करके उसे चलाने की कोशिश की लेकिन नाकामयाब रहे । सिनेमा में नौकरी की लेकिन वहाँ पर अपनी रुचि से लिखने की उन्हें छूट न थी । गरीबी और बीमारी में वीर की तरह आखिरी साँस तक लड़ते हुए प्रेमचन्द शहीद हुए ।

एक जनकवि था पढ़ीस । अवधी में लिखता था । एक देशी राज्य में नौकर था । नौकरी छोड़ दी । राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ दिया । रेडियो में नौकरी की । आखिर खेत में हल जोतते हुए घायल होकर सेप्टिक से जान दी । बलभद्र दीक्षित पढ़ीस हिन्दी गद्य के सुन्दर लेखक हास्य और व्यंग्य के आचार्य, जनता का पक्ष लेने वाले लेखक थे । उनकी मृत्यु के बाद छः महीने के भीतर ही उनका प्रतिभाशाली पुत्र, कवि, लेखक और संगीतकार बुद्धिभद्र दीक्षित भी बाईस साल की उम्र में संसार से विदा हुआ ।

जब मैं लोगों को 'कला कला के लिए' की बात करते सुनता हूँ तो प्रेमचन्द, पढ़ीस और बुद्धि भद्र के चेहरे मेरी आँखों के सामने घूम जाते हैं । उन चेहरों पर मृत्यु की छाया पड़ चुकी है, उनमें जीने और साहित्य रचने की चाह बुझते हुए दीपक की लौ की तरह दमकती

दिखाई देती है। जब तक आदमी इन्सानियत से ही उदासीन न हो तब तक वह 'कला कला के लिये' की बात कैसे कर सकता है ?

पिछले दिनों प्रयाग में निरालाजी के दर्शन किये। दाढ़ी बढ़ा रखी थी, सिर के बाल करीब-करीब सफेद हो चुके हैं। दाहना हाथ अब मुश्किल से ऊपर उठता है। फिर भी कविताएँ लिखते हैं, इसलिए कि जीने के लिए इस कवि ने कभी किसी का अहसान नहीं लिया। तीन साल से ऊपर हो गए, निराला समाज के रूढ़िवादियों से लड़ते-लड़ते अब ध्वस्त और जर्जर हो गया है। एक प्रयोगवादी कवि जिनके लिए कविता के महानतम विषय शाम की उदासी या सुराही का लुढ़कना हैं, निराला से कुछ और महान् रचनाएँ करने के लिए आग्रह करने लगे ! अचानक शेर की तरह निराला गरज उठा—

"I have never compromised" "मैंने कभी समझौता नहीं किया।"

मुझे राज्य-परिषद के एक लेखक-सदस्य की याद आई जिसने अपनी मजबूरी का जिक्र करते हुए एक खत में लिखा था—जमुना मैया दूर हैं और ऐसे हयादार हम हैं नहीं जो चुल्लू भर पानी में डूब मरें।

सवाल कला का ही नहीं, हया का भी है। निराला ने कभी आत्म-सम्मान बेचा नहीं। उसका अस्तित्व—तिल-तिल कर घुलता हुआ अस्तित्व—साहित्य के उन सब सूरमाओं के लिए एक चुनौती है जिनके लिए चुल्लू भर पानी काफी नहीं है।

दारागंज में एक दूसरा साहित्यकार अपने एक शिष्य के यहाँ जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था—लक्ष्मीधर वाजपेयी। कवि और लेखक लक्ष्मीधर की हड्डियों में माँस के चिन्ह जहाँ तहाँ ही दिखाई देते थे। आवाज बहुत कोशिश करने पर ही सुनाई देती थी। फिर भी यह जर्जर लेखक मज़ाक करने और मज़ाक पर खुले दिल से हँसने का हौसला रखता था मानों मौत ने उसके शरीर को हाथ लगाया हो, पर उसके दिल तक उसकी पहुँच न हो।

मुझे वे खाते-पीते कवि याद आये जो अपनी चिता पर आप ही

अंगारे रखकर जल जाने की बात करते है, जिनकी कविता नामर्द की सिसकी के अलावा कुछ नहीं है। ये जिन्दा भी मरे हुए हैं जबकि लक्ष्मीधर वाजपेयी मौत को देखकर हँसते हैं ।

पटने के अस्पताल में निराला के सहयोगी, हिन्दी के समर्थ गद्य-लेखक, हास्यरस के कलाकार शिवपूजन सहाय पटने की भयानक गर्मी में टी० बी० अस्पताल के दोतल्ले पर बिना खस की टट्टी और पंखे के कमरे में लेटे हुए थे। उनकी वह परिचित स्वच्छन्द हँसी हृदय के रक्त के साथ बह चुकी थी। आवाज़ मुश्किल से सुनाई देती थी। मैंने उन्हें जो सबसे सुखद समाचार दे सकता था, दिया—"निराला जी अच्छी तरह हैं"। एक बार शिवपूजन बाबू की आँखें चमक उठीं, मानों टी० बी० अस्पताल और पटना की गर्मी भूलकर वह फिर मतवाला आफ़िस में पहुँच गये हों। कमरे से बाहर निकलकर हमलोग खुली छत पर आये। फिर उधर से निकलते हुए दरवाजे से झांका—शिवपूजन बाबू आँखों से आँसू पोंछ रहे थे।

क्या यह सब दैवी गति है ? क्या निराला, लक्ष्मीधर वाजपेयी, शिवपूजन सहाय की इस दशा के लिये कोई ज़िम्मेदार नहीं हैं ? आप आज उन्हें रुपयों से तोप दीजिये लेकिन "का बरखा जब कृषी सुखाने"। इनका तिल-तिल कर घुलना आज नहीं शुरू हुआ; हमने उसे देखा सिर्फ़ आज है।

यह मृत्यु की प्रयोगशाला अब बंद होनी चाहिए।

१९५३

जन-संग्राम और नारी

पराधीनता पुरुषों को खल जाती है; अपनी सुख-स्वाधीनता के लिये वह पंख फड़फड़ाने लगता है। लेकिन नारी—? उसे तो पराधीनता खा जाती है; सुख-स्वाधीनता के लिए वह अपने पंख भी नहीं फड़-फड़ा सकती। उसे ऐसा लगने लगता है कि उसका जन्म ही व्यर्थ हुआ, ऐसी निराशा से घिरा हुआ जीवन देखकर तुलसीदास कह उठे थे—

कत विधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥

यदि विधाता ने नारी की ज़ंजीरें अपने हाथ से गढ़ी होतीं तो शायद उसके लिये कोई आशा न होती परन्तु सौभाग्य से मनुष्य के आपसी सम्बन्धों में विधाता ज्यादा दखल नहीं दे पाता। मनुष्य अपने आपसी सम्बन्ध खुद बनाता है और उन्हें बदल भी सकता है। इसलिये हर देश के जन-संग्राम में नारी भी आगे बढ़कर हिस्सा लेती है; वह समाज की जंजीरें काटने के साथ अपने बन्धन भी उतार फेंकती है। विधाता की बार-बार दुहाई देने पर ये बन्धन कसे के कसे नहीं रह जाते।

समाज के ठेकेदार इस पराधीनता को सतयुग का एकमात्र स्मृति-चिह्न कह कर सुरक्षित रखने में कुछ उठा नहीं रखते। नारी को वे धर्म की गहरी घूँटी देते हैं। पूजा-पाठ, ईश्वर-भजन उसके बाँटे खास तौर से पड़ता है। घर का आंगन धोते-धोते भले उसे टी० बी० हो जाय, ठाकुरजी के आगे उसका घंटी बजाना बन्द नहीं होता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जब अपनी लड़कियों को स्कूल पढ़ने भेजा था तो इन ठेकेदारों ने उन्हें क्रिस्तान घोषित कर दिया था। नारी लक्ष्मी है, सरस्वती है; लेकिन शिक्षा? राम राम! पति सेवा छोड़ कर उसने वर्णमाला साधना की तो उसका सारा लक्ष्मी-सरस्वतीपन एक क्षण में

नष्ट हो जायगा। लोगों ने खूब हवा में उंगलियाँ कोंचीं; पच्छिमी सभ्यता का हौवा दिखाया लेकिन वे नारी को शिक्षा के प्रकाश से वंचित न रख सके। हमारी बहनों ने अपने देश के गौरव के अनुकूल मान-अपमान की चिन्ता न करके प्रकाश की ओर पग बढ़ाया।

यह सही है कि स्त्रियों की एक नगण्य संख्या ही इस शिक्षा तक पहुँच पाई है। और उस शिक्षा का रूप भी सदा वैसा नहीं रहता जैसा होना चाहिये। लेकिन जिन्होंने अपने दफ्तरों के लिये क्लर्क तैयार करने के लिये स्कूल खोले थे, उन्होंने कब सोचा था कि उनमें से क्रान्तिकारी युवक भी निकल पड़ेंगे? विधाता का विधान समझने वाले कभी-कभी मनुष्य का विधान समझने में बड़ी भूल कर जाते हैं। स्त्री-शिक्षा का रूप आदर्श न होते हुए भी उसने समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा कर दिया है जो अब पराधीनता का विधान मिटा कर ही छोड़ेगा।

शिक्षा पुस्तकों से ही नहीं मिलती। जब तिरंगा झंडा लेकर स्त्रियों ने पुलिस की लाठियों का मुकाबला किया था तब उन्होंने एक ऐसी बात सीखी थी जो पुस्तकों में न लिखी थी। उन्होंने देखा था कि जो देश का शत्रु है, वह उन पर दया नहीं दिखाता। अपनी पूँजी की रक्षा करने के लिये वह स्त्री-पुरुष दोनों का खून बहाने को तैयार है। इसलिये देश के जन-संग्राम में भाग लेने के लिये नारी और भी तत्परता से आगे बढ़ी। क्रान्तिकारी युवकों के साथ कल्पना दत्त ने भी शस्त्रागार पर हमला किया; सन् ४२ के फरारों के साथ अरुणा ने भी गुप्त राजनीतिक जीवन बिताया। मिल-कारखानों की हड़तालों में बहादुर मजदूर औरतों ने पुलिस के दमन का सामना किया। जल-सेना के विद्रोह में जब अंग्रेजी फौज ने बम्बई को गोलियों से भून दिया तब वीरनारी कमल धोंदे ने भी उनकी गोलियों का सामना करके अपने प्राण दिए। जन-संग्राम में अपना रक्त देकर नारी ने अपनी शिक्षा पूर्ण की है।

और बङ्गाल के अकाल में हिन्दुस्तानी कहलाने वाले—हिन्दुत्व और इस्लाम का दम भरने वाले—समाज के गल्ला-चोर ठेकेदारों को भी

उसने देखा। क्या अकाल की शिक्षा को नारी कभी भूल सकती है ? आध पाव चावल के लिए उसकी लाज बेची गई; देखते-देखते चालीस हज़ार युवतियाँ वेश्यालय में अपनी जीविका का साधन ढूँढ़ने लगीं। उधर भूखे किसानों की जमीनें खरीद-खरीद कर उन ठेकेदारों की ज़मीदारियाँ बढ़ती चली गई थीं। मनुष्य के बनाए हुए अकाल ने पुरुषों को तो खाया ही; स्त्रियों और बच्चों को उसने घुला-घुला कर, सता-सता कर मारा। दूसरी तरफ नए महल बन गए, नई मोटरें आईं, एक छोड़ पाँच-पाँच ब्याह रचाए गये, गोरक्षा के हामी कसाई से भी ज्यादा निर्दयता से नारी के गले पर छुरे फेरते रहे।

समाज के ठेकेदार आखिरी बार ज़ोर लगा कर कहते हैं—जनतन्त्र भारतीय परम्परा के प्रतिकूल है।

रियासतों के महाराज कठपुतलीसिंह भी धर्म के ठेकेदारों की हाँ में हाँ मिला कर कहते हैं—राजसत्ता ही भारतीयता के अनुकूल है !

अंग्रेजी छत्र-छाया में राज करने वालों के पैरों में अब बेड़ियाँ होंगीं। अँग्रेजी संगीनों के सहारे वे अब तक जिन पर राज करते आए हैं, वे उन्हें उतार कर अपना जनतन्त्र कायम करेंगे। इस नये जन-संग्राम में पुरुष के साथ अपने सबल हाथों में मुक्ति की पताका लेकर नारी भी आगे बढ़ेगी।

१९४७

कलाकार बाबू गुलाबराय

बेशक, बाबू गुलाबराय कलाकार भी हैं। चित्रकार नहीं, शिल्पकार नहीं, कवि और गायक भी नहीं, आलोचक हैं, संपादक हैं, संकलनकर्ता हैं और इन सब कामों में कला का समावेश होता है; बाबू गुलाबराय ने इन सब रूपों में एक चतुर कलाकार की झलक कहीं न कहीं दिखा दी है। लेकिन यहाँ तो सिर्फ झलक है, और झलक से कहाँ सन्तोष होता है। हमें चाहिए पूरी झाँकी। कलाकार की यह भरी-पूरी झाँकी हमें मिलती है बाबू गुलाबराय के निबन्धों में।

निबन्ध भी कई तरह के हैं। समन्वयवादी बाबू गुलाबराय ने सभी को खुश किया है, कला के पारखियों को भी, बिरादरीवालों को भी जो कला के नाम पर सिर्फ डाँड़ी मारना जानते हैं। उन्होंने व्यापार से लेकर मनोविज्ञान तक, व्यापारियों के मनोविज्ञान और मनोविज्ञान के व्यापार तक नाना विषयों पर निबन्ध रचे हैं लेकिन न मनोविज्ञान में और न व्यापार में कोई बिषय इतना रोचक है जितना स्वयं बाबू गुलाबराय। इस विषय पर उन्होंने जितने निबन्ध लिखे हैं, वे ऊँचे दर्जे का सरस साहित्य हैं और ललित निबन्धों की चर्चा करते हुए कोई भी आलोचक या इतिहासकार उन्हें दरकिनार नहीं कर सकता। अपनी खैर चाहे तो उनकी चर्चा उसे करनी ही होगी।

बाबू गुलाबराय आगरे के तमाम साहित्यकारों के बाबू जी हैं। नौजवानों की तो बात छोड़िए, बुज़ुर्गों तक को उन्हें बाबूजी कहते आप सुन सकते हैं। वह दार्शनिक और रसिक दोनों हैं यद्यपि रसों में वह हास्यरस को ही व्यवहार में प्रधानता देते हैं। कभी-कभी सड़क पर बात करते-करते जब वह अचानक गायब हो जाते हैं और उनसे विदा लेने का आकांक्षी घूम कर देखता है कि बाबूजी अनासक्त योगी की तरह

वापस चले जा रहे हैं तब यह कहना कठिन हो जाता है कि उन्हें दर्शन से अधिक प्रेम है या हास्यरस से।

बहुत दिनों तक महेन्द्र, जैनेन्द, नगेन्द्र, सत्येन्द्र नामों को एकसा इन्द्रमय देख कर और इनमें से अनेक को "बाबूजी" मात्र से बाबू गुलाब राय का संकेत करते देखकर मैं समझता रहा था कि ये सब एक ही बाबू जी की सन्तान हैं। बाद को पता लगा कि यह भाईचारा काफी बड़ा है और इसके लिये इन्द्र का अनुप्रास आवश्यक नहीं है।

कोई कलाकार ही इतनी बड़ी जमात का बाबूजी बन सकता है, उसकी देखभाल कर सकता है, उसकी साहित्यिक गतिविधि पर निगाह रख सकता है और नये लेखकों की रचनाएँ देखकर उन्हें प्रोत्साहन देकर, और कुछ नहीं तो उनसे बेकार की बातें करके ही, उन्हें अपना बना सकता है और नित नए कुटुम्बियों से अपना कुनबा बढ़ा सकता है। बाबू गुलाबराय अपने जीवन में कलाकार हैं। उनके हर काम में अदा है, कोट पहनने और टोपी देने से लेकर मकान बनवाने और भैंस पालने तक उनके हर काम में एक बाँकपन है। इसलिए जिन-जिन निबन्धों में चर्चा का विषय स्वयं बाबू गुलाबराय हैं, उनमें रस-निष्पत्ति भी खूब हुई है।

बाबू गुलाबराय बहुत मुहावरेदार भाषा लिखते हैं। कहावतों का उनके पास भारी पिटारा है जिसमें से हिन्दी-संस्कृत के अलावा फारसी के वाक्य भी निकल पड़ते हैं। कहानीकार की तरह मज़ेदार घटनाओं से अपना और दूसरों का मनोरंजन करते चलते हैं। उनके उपमान अनूठे और रूपक अनुपम होते है। हजामत की चर्चा करते हुए न्याय-शास्त्र का हवाला देना उनके लिए कुछ कठिन नहीं। तुलसीदास की पंक्तियाँ कैसे असाहित्यिक और अदार्शनिक प्रसंगों में उद्धृत की जा सकती हैं, मानों यह दिखाने के लिए ही उन्होंने बहुत से निबन्धों में उनके उद्धरण दे डाले हैं। इसमें जहाँ उन्होंने गोस्वामी जी के साथ मज़ाक किया है, वहाँ अपने को बख्शा नहीं है। दरअसल वह इतने उदार हैं कि दूसरों को बनाने के बदले खुद बनना ज्यादा पसन्द करते हैं।

लेकिन जो व्यक्ति लिख सकता है, "हमको लक्ष्मी और सरस्वती की पूजा करनी होगी," वह दूसरों को बना जरूर सकता है, बन नहीं सकता। बनता दिखाई दे तो समझ लीजिये कि यह भी दूसरों को बनाने के लिये है। यही तो कला है।

धोखा देना आसान काम नहीं है। कुशल अभिनेता भी रंगमंच पर कुछ क्षणों के लिए ही धोखा दे सकता है लेकिन उसकी कला की क्या तारीफ की जाय जो संसार को ही रंगमंच समझता है और गंभीर से गंभीर विषय की चर्चा करते हुए भी थोड़ा अभिनय करने से बाज़ नहीं आता।

प्रसिद्ध है कि बाबू गुलाबराय परम आस्तिक, अध्यात्मवादी और अहिंसावादी हैं। अपने समन्वयवाद का तो वह खुद भी काफी विज्ञापन करते रहे हैं। लेकिन यह समन्वयवाद रंगमंच के मेकअप से ज़्यादा महत्वपूर्ण नहीं है। जो लोग मेकअप को ही बहुत बड़ी कला मानते हैं, वे उनके समन्वयवाद की प्रशंसा करते नहीं अघाते। स्वयं बाबू गुलाबराय भी इनको दाद देते हैं—तुम जैसा कला-पारखी दूसरा नहीं है। लेकिन हम पहले ही देख चुके हैं कि कला तो बाबू गुलाबराय के जीवन में है। फिर उन्हें मेकअप की क्या जरूरत!

भाषा, शैली, मुहावरों और कहावतों की चर्चा से उनकी कला नहीं परखी जा सकती। यह तो विद्यार्थियों को बहलाने की बातें हैं। असली कला तो है, वह दिखाते हैं कुछ और, हैं कुछ और।

अगर मैं कहूँ कि बाबू गुलाबराय भौतिकवादी हैं, उन्हें ईश्वर में ज़रा भी विश्वास नहीं है, उनकी सारी आस्तिकता अपने बिरादरी-वालों पर रौब जमाने भर के लिये हैं तो आप मेरी बात का यकीन न करेंगे। मेरे प्रति बहुत उदार हुए तो आप बाबू गुलाबराय के पास पहुँचेंगे और आप चाहें तो उनसे लिखा भी ला सकते है कि उन पर नास्तिकता का आरोप बिलकुल झूठा है। लेकिन उनसे कुछ लिखाने के पहले वह जो लिख चुके हैं, उसे ज़रा ध्यान से पढ़ लीजिये।

देखिये उनका मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ। इसमें न्यायशास्त्र के कर्ता अक्षपाद गौतम की चर्चा है जो आसमान देखते देखते एक दिन गढ़े में गिर पड़े थे। इस सिलसिले में बाबू गुलाबराय आजकल के दार्शनिकों के बारे में कहते हैं—और दार्शनिक होने के नाते वह खुद भी उनमें शामिल हैं—"आजकल के दार्शनिकों को ईश्वर में विश्वास नहीं"। मानना होगा कि बाबू गुलाबराय आजकल के ही दार्शनिक हैं। इसलिए उन्हें ईश्वर में विश्वास नहीं है। कैसी सफाई से नास्तिकता का प्रचार कर गए हैं। शायद आप कहें, पुरानी चाल के आदमी हैं, दार्शनिक भी पुराने ढंग के होंगे। आप ही ऐसा सोचें तो सोचें। गौतम पुरानी चाल के ही थे जिनके बारे में उन्होंने लिखा है कि "एक दिन विचार करते-करते एक गढ़े में गिर पड़े थे।" जाहिर है हमारे बाबूजी इस तरह के दार्शनिक नहीं है। गढ़े में गिरना तो दूर, उसमें वह मकान खड़ा कर चुके हैं। मानना होगा, नयी चाल के ही दार्शनिक हैं, इसलिए नास्तिक भी।

शायद आप कहें, यह तो वकीलों की सी जिरह है, यह सबूत कुछ जमा नहीं। अच्छा तो दूसरा सबूत लीजिए और देखिए यह जमता है कि नहीं। आपने सुना होगा कि शास्त्र में लिखा है नास्तिको वेदनिन्दकः, वेद की निन्दा करने वाला नास्तिक कहलाता है। बाबू गुलाबराय ने कितने कलापूर्ण ढंग से वेदों की निन्दा की है, देखते ही बनता है। लिखते हैं, "मेरे घर में किसी के वेद पढ़ने की आशंका नहीं।" क्यों साहब, आपके घर वाले क्यों वेद नहीं पढ़ना चाहते? इसकी अशंका क्यों नहीं है? इसलिए कि आपको वेदों में विश्वास नहीं है, आप उन्हें। ईश्वरकृत मानते ही नहीं। आपने लिखा है, "स्त्रियों में मन्त्र द्रष्टा हैं" धन्य है! ईश्वर ने वेद नहीं रचे! ऋषि-मुनि भी भाड़ में गए। "सहज अपवान नारि"—ये वेद रचने पहुँच गईं! इससे बड़ा प्रमाण नास्तिकता का और क्या होगा?

इस पर भी आप मेरी व्याख्या से सहमत न हों तो "मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ"—इस निबन्ध का अंतिम वाक्य ही पढ़ लीजिये। पढ़िये,

ध्यान से पढ़िये। लिखा है, "मैं मोक्ष के लिए उत्सुक नहीं हूँ।" जिस मोक्ष के लिये शंकराचार्य से वेदान्ती और सूर-तुलसी जैसे महात्मा जन्म भर अपने शरीर को कष्ट देते रहे, उसके लिये आप उत्सुक ही नहीं हैं। इस पर भी कोई कहे कि बाबू गुलाबराय परम आस्तिक हिन्दू हैं तो उसकी बुद्धि पर तरस खाने के सिवा कोई क्या कर सकता है।

और जरा आत्मविश्लेषण वाला निबन्ध देखिये। आप धर्म के मामले में अपने से बड़ा प्रमाण किसी को नहीं मानते। विदेशी शिक्षा से भारतीय संस्कृति की हत्या किस तरह हो रही है, इसका ज्वलन्त उदाहरण देखिये। लिखते हैं :

"मैंने धर्म के विषय में 'स्वस्य च प्रियमात्मनः के आधार पर अपने को ही अधिक प्रमाण माना है।" अब कहिये। न गीता न भागवत, न वेद न पुराण; धर्म के लिये प्रमाण हैं खुद आप। इससे जो नतीजे निकले, वह भी उन्हीं के श्री मुख से सुन लीजिये। "मेरे इस बुद्धिवाद से मेरे पूज्य पिताजी और मेरे कई धार्मिक मित्र भी अप्रसन्न रहे।" क्यों न रहते! वे आपकी नस-नस से वाकिफ थे। आप उन्हें समन्वयवाद की दुहाई देकर कब तक धोखे में रखते? अब भी पहचान सकते हों तो पहचानिये। यह खुला बुद्धिवाद है, धर्म और प्राचीन संस्कृति को खुली चुनौती है। अपनी बुद्धि पर नहीं तो बाबू गुलाबराय के पूज्य पिताजी की साखी का भरोसा कीजिये। मानिये कि आपके परम श्रद्धास्पद बाबू जी घोर नास्तिक और परम अधार्मिक हैं। मानिये कि वह श्रेष्ठ कलाकार हैं जो अपने समन्वयवादी अभिनय से अब तक आपको चकमा देते रहे हैं।

आस्तिकता और अध्यात्मवाद तो दूर, बाबू गुलाब राय ऐसे कट्टर भौतिकवादी हैं जैसा बदनाम चारवाक भी न था। वह कलाकार न था, वर्ना बदनाम न होता। इसी भौतिक संसार में सुखी रहने की लालसा के लिये बदनाम हुआ जब कि नेकनाम बाबू जी खुले खजाने फ़र्मा रहे हैं, "जीवन के सुखभोग और वैभव से वैराग्य नहीं धारण किया।" इतनी ही नहीं, चारवाक का सबसे बड़ा कसूर यह है कि वह

"ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" का सिद्धान्त मानता था, कर्ज की मैं तो न पीता था लेकिक घी ज़रूर खाता था। बाबू जी भी मैकश नहीं हैं, भैंस के घी से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं लेकिन यह सब कर्ज़ के भरोसे ही। लेकिन "कर्ज़ लेकर घी खाओ"— बात को यो भोड़े ढंग से न कहकर कितने कलापूर्ण ढंग से बाबू जी लिखते हैं, "मैं दूसरे की बात तभी मानता हूँ जब उसे अपनी बना लेता हूँ। उस आत्मीकरण की क्रिया में अपनी पराई का समन्वय हो जाता है।" अब समझे आप समन्वयवाद का रहस्य ? राम राम जपना, पराया माल अपना; अपना माल तो अपना है ही। अपने पराये माल का यह तालमेल ही असली समन्वयवाद है। इसीलिये व्याख्या के रूप में आगे लिखा है, "दूसरों की बात का सार ग्रहण करने को तैयार रहता हूँ किन्तु अपनी बात को भी हेय नहीं समझता। भारतीय समन्वयवाद मेरे जीवन का लक्ष्य रहा है।" क्यों न रहा हो, जब दूसरों के माल को अपना बनाने की इतनी सुविधा रहती है ! लेकिन तब चारवाक को भी समन्वयवादी क्यों न कहा जाय ?

इन सब बातों को आप विद्वानों की विनम्रता न समझें। बाबूजी यह काम बड़े नियमित ढङ्ग से और एक चतुर कलाकार की तरह करते हैं। फिर भी कर्ज तो कर्ज ही है, चाहे पुस्तकों से लीजिये, चाहे तिजोरी से। वैसे, बाबू जी ने बहुत ईमानदारी से अपनी डायरी में लिख भी दिया है : "रात को सबेरे की साहित्यिक चोरी के लिये कुछ पढ़ा।"

इतने पर भी कुछ लोग बाबू जी की विद्वत्ता से आंतकित हैं। इनमें ज्यादातर वही लोग हैं खुद जिनके पल्ले विद्या नामचार को ही पड़ी है। कुशल व्यापारी के गुण बतलाते हुए बाबू जी ने ईमानदारी से लिखा है, "जहाँ तक पढ़ने का सम्बन्ध है, हमें याद रखना चाहिये कि अधिक पढ़ने से बहुधा लाभ नहीं होता।" फिर भी आप समझें कि बाबू जी ने बहुत पढ़ा है और उन्हें पढ़ने से बहुत लाभ हुआ है तो मैं इसे उनकी कुशल कला का एक दूसरा प्रमाण ही कह सकूँगा।

बाबू जी अपने कांग्रेस भक्त होने की भी काफी घोषणा कर चुके हैं। लेकिन अस्लियत जाहिर हो ही जाती है। "विज्ञापन की कला" नामका

निबन्ध देखिए। आपको आपत्ति है कि "सीमेंट की उपयोगिता दिखाने के लिए उसके बने हुए स्वच्छ विशाल भवन दिखाए जाते हैं। उसमें लोगों की राष्ट्रीय भावना से लाभ उठाने के लिए उन इमारतों पर तिरंगा झण्डा फहराया हुआ दिखाया जाता है।" यानी राष्ट्रीयता से सीमेंट के व्यापारी लाभ न उठायें, यही मतलब है न आपका? लेकिन इन व्यापारियों के बिना कांग्रेस जिन्दा कैसे रहेगी, यह भी सोचा आपने?

चाय के व्यापारियों पर भी आप अप्रसन्न हैं क्योंकि "राष्ट्रीय भावना से चाय वालों ने काफी लाभ उठाया है। वे उसे स्वदेशी पेय बतलाते हैं। चाय पैदा अवश्य भारतवर्ष में होती है किन्तु उसका अधिकांश भाग विलायती कम्पनियों को जाता है।" अजी विलायती कम्पनियों को अभी क्या क्या नहीं जाता।

बाबू जी स्वयं कुशल कलाकार हैं, इसलिए दूसरों की कला भी खूब पहचानते हैं। स्वतन्त्र भारत के प्रथम चुनाव में "धवल धौत खद्दर धारी नेताओं" ने किस तरह गली-गलियारों की खाक छानी, इस पर गोस्वामी जी की चौपाई का यह रूपान्तर उन्होंने पेश किया है।

"कठिन भूमि कोमल पदगामी।
चुनाव हेत बन बिचरहिं स्वामी।"

और बड़े ही कौशल से कांग्रेसी प्रचार का मजाक उड़ाते हुए लिखा है, "प्रोपेगैन्डा प्रभू के पूर्व वैभव में दर्शन हुए। साइकिल से लगाकर जीप, मोटर, सैलून, लारी, मोटर, ट्रक और हवाई जहाज तक प्रायः सभी यान्त्रिक बाहनों का प्रयोग हुआ। केवल टैंकों की जरूरत नहीं पड़ी। बारह बरस बाद बैलों की जोड़ी के भी भाग जागे।" अन्धा भी इस व्यंग्य को समझ लेगा। बाबू जी के अन्ध भक्त अब भी न समझें तो इसे उनकी कला की सफलता समझिये।

बस, एक उदाहरण और देकर बाबू जी के समन्वयवाद का रहस्य-प्रकरण समाप्त करता हूँ। मजदूरों को पूंजीपतियों से अक्सर असन्तोष रहता है। उन्हें कौन संगठित करता है, कौन भड़काता है, आप

जानते ही हैं। दाद दीजिए बाबू गुलाबराय को जो मजदूरों के इस हक का समर्थन करते हैं कि अपनी मांगों के लिए हड़ताल करो। कितने कौशल से मिनिस्टरों और मजदूरों को एक ही तराज़ू पर तौलते हुए लिखा है, "जिस प्रकार स्त्रियों और बालकों का रोना बल होता है और मिनिस्टरों का त्यागपत्र दे देने का बल होता है, उसी प्रकार मजदूर का 'हड़ताल' एक प्रबल अस्त्र होता है।' कहिए, हड़तालों का इससे खुला समर्थन किसी भी हिन्दी लेखक ने किया है?

इसलिए हे पाठक, हे पाठिका, स्वीकार कीजिए कि बाबू गुलाबराय श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी कला समन्वयवाद के भेस में अपना नास्तिक, भौतिकवादी और हड़ताल-समर्थक असली रूप छिपाने में है।

१९५६

पं० हृषीकेश चतुर्वेदी

परिडत हृषीकेश चतुर्वेदी वह व्यक्तित्व हैं जिनके लिए सम्पादक-शिरोमरिग आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की सरस्वती फूट पड़ी थी—

त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।

द्विवेदीजी ने चतुर्वेदीजी की 'विजया वाटिका' पर सम्मति देते हुए ये पंक्तियाँ लिखी थीं। उस समय पं० हृषीकेश आचार्य द्विवेदी के हृदय में स्थित थे, किन्तु साधारणतः वह इस भौतिक जगत् के आगरा नाम से विख्यात नगर में ही स्थित रहते हैं।

लोग आगरा शहर अनेक उद्देश्यों से आते हैं। बकौल पं० हृषीकेश यह वह शहर है जहाँ बड़ों-बड़ों की अक्ल ठीक कर दी जाती है। यहाँ आप सौभाग्य या दुर्भाग्य से आएँ तो हमारे चौबेजी से मिलना न भूलें। हमारी निगाह में लोग आगरे में जितनी दर्शनीय वस्तुओं के लिए आते हैं, उन में हृषीकेशजी का व्यक्तित्व जरा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। स्टेशन से रिक्शे वाले को दुअन्नी टिकाइए और फव्वारे पहुँच कर फुलट्टी की ओर मुड़ने के बदले किनारी बाजार के लिए दाईं ओर चलिए। इसे अब अपनी ही रियासत समझिए। चौबेजी यहाँ के बादशाह हैं। दाहिने हाथ पर ये जो चप्पल वाले बैठे हैं, पहला फाटक छोड़ कर दूसरा और आगे ऊपर को ज़ीना और यह रही पं० हृषीकेश की बैठक।

यहाँ आप अनेक चित्र-विचित्र पदार्थ देख कर अपना मनोरंजन और ज्ञान-वर्द्धन कीजिए। भगवान राम के लिए नल-नील ने जिन तैरते हुए पत्थरों से सेतु बाँधा था, उनमें से बचा हुआ एक यहाँ भी है। देखिए, जरा पानी में डाल कर; मजाल है डूब जाए। यहाँ आपको

ऐसे दुरंगे चित्र देखने को मिलेंगे जो बाईं ओर से एक नेता के हैं तो दाईं ओर से दूसरे के। अनेक भावमय छन्द, चित्र-काव्य, गणित के चमत्कार आदि दीवालों पर लिखे और टँगे हुए मिलेंगे और इन के बीच लगभग पचास के चौबेजी भौंरे-जैसे बालों पर बाँकी टोपी दिए सेंदुर की बेंदी वाले मस्तक में हँसी की रेखाओं से आप का स्वागत करते हुए विनम्रता से करबद्ध, सफल रसाल की भाँति नमित दिखाई देंगे। पान, शबत, चाय—कैसे आपका स्वागत होता है, यह आप के भाग्य पर निर्भर है; किन्तु चौबेजी स्वयं हाथ पर तौलिया लपेट कर कैसे पान ग्रहण करते हैं, वह व्यापार देखना आप चाय-शर्बत में न भूलें।

चौबेजी दो युगों के प्रतिनिधि हैं। उनकी आधी रियासत द्वापर में है तो आधी कलियुग में। उनके यहाँ एक ओर समस्या-पूर्ति, चित्रकाव्य, राधाकृष्णमय उच्चाटन-वशीकरण का वातावरण है, तो दूसरी ओर कलँगी और तुर्रे की परम्परा, मियाँ नज़ीर और खयालबाजों की अखाड़ेबाजी, विजया-वाटिका, छेड़-छाड़ और नवीन-लेखक-संघ की फ़िज़ा भी है।

चौबेजी का साहित्य प्रकाशित कम, अप्रकाशित अधिक है। आगरे के साहित्य-प्रेमियों के लिए तो यह मौखिक-रूप से सदा प्रकाशित होता रहता है। कोई लेखक-संघ, कोई साहित्य-समाज, कोई कवि-सम्मेलन चौबेजी के बिना अपनी कार्यवाही सम्पन्न नहीं कर सकता। इस के सिवा चौबेजी का निवास-स्थान स्वयं एक स्थायी कवि-सम्मेलन और साहित्य-समाज है। सम्भवतः इसी कारण उनका साहित्य प्रकाशित होते हुए भी अमुद्रित है। सबसे बड़ी बात यह है कि चौबेजी के श्रीमुख से उनके साहित्य को श्रवण करके जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह छापे के निर्जीव अक्षरों में दुर्लभ है।

मैं चौबेजी की चौमुखी प्रतिभा का पुराना प्रशंसक हूँ। उन पर कभी लिखा इसलिए नहीं कि जिस साहित्य पर लिखूँगा वह आपको प्राप्य न होगा। अब इसलिए लिख रहा हूँ कि आगरे की तीर्थ-यात्रा में आप चौबेजी के दर्शन-लाभ से अधिक वंचित न रहें। यहाँ उनके साहित्य

की कुछ बानगी देखिए। चौबेजी संस्कृत, ब्रज, खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू दोनों) में कविताएँ रचते हैं। पहले देववाणी से आरम्भ कीजिए। उनका "श्री कृष्ण ताण्डव स्तोत्रम्" छप गया है। उसी का एक छन्द देखिए।

ब्रजांगनाधिनायिका धरारबिन्द-कन्दली-
रसोपलब्ध - माधुरी-विजृभणा-मधुव्रतम्।
अघान्तकं हयान्तकं बकान्तकं वृषान्तकं
गजेन्द्र कंसकान्तकं तमम्बरान्तकं भजे।

उपर्युक्त पुस्तक के अन्त में लिखा है कि केशव की पूजा कर के जो स्तोत्र पढ़ेगा, उसे कीर्ति और लक्ष्मी प्राप्त होगी। इस तरह देववाणी की साधना से चौबेजी ने अपने और पाठक के लोक-परलोक दोनों साधे हैं।

चौबेजी राधाकृष्ण के उपासक हैं, किन्तु सीताराम से उन्हें चिढ़ नहीं है। 'राम-कृष्ण-काव्य' में उन्होंने दोनों का समन्वय कर दिया है। समन्वयवादी बाबू गुलाबराय के शब्दों में "बाईं ओर के पाठ में राम-पक्ष है, दाईं ओर के पाठ में कृष्ण-पक्ष है।" प्रगतिशील लेखक डाक्टर रांगेय राघव ने इस काव्य की विशेषता बतलाते हुए लिखा है–"वस्तुतः यह चित्र-काव्य है, किन्तु चित्र-काव्य होते हुए भी इसे अधम काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस में केवल कौतूहल की शान्ति नहीं हो जाती, वरन् बुद्धि को उनके भाषा के अधिकार से प्रभावित होकर भाषा की शक्ति पर विचार करने की प्रेरणा मिलती है।" डाक्टर राँगेय राघव की बात बिलकुल ठीक है। उनकी भारतीय इतिहास सम्बन्धी खोज पढ़ कर लगता है कि उनकी बुद्धि 'रामकृष्ण-काव्य' की शैली से काफी प्रभावित हुई है।

चौबेजी ने सरल भाषा में गीता का अनुवाद किया है। दुर्भाग्य से यह अभी प्रकाशित नहीं हुआ। मेघदूत और अंग्रेज कवि शेली की अनेक रचनाओं का अनुवाद भी उन्होंने किया है। मेघदूत का पहला छन्द इस प्रकार है—

कोऊ सेवा बिसरि निदर्यो यच्छ है
स्वामिशाप,
नारी सों ह्वै बरस-भरि कों दूरि या
भाँति आप।
रामाद्री की कुटियन बस्यो, है जहाँ वृक्ष
भारी;
श्री सीता ने जहँ जल किए, न्हाइ के
पुन्यकारी।

और अनुवादों की बात तो नहीं कह सकता, लेकिन इधर पिछले दिनों आगरे के भी एकाध कवि ने मेघदूत का अनुवाद किया है, उन सब से यह अनुवाद बढ़ कर है।

चौबेजी ने 'श्री रामकृष्णायन' काव्य और लिखा है जिसे दाएँ-बाएँ पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। पढ़िए साधारण रीति से, लेकिन समझिए असाधारण रीति से। जैसे—"लखि सुघर मन्थरा चाल, मोहित राय भए।" राजा दशरथ मन्थरा की सुयोजित चाल देख कर मूर्च्छित हो गए, यह तो हुई रामायण और नन्दराय जी श्री कृष्ण की सुन्दर मंथर गति देख कर प्रेम-मग्न हुए, यह हुई कृष्णायन। इस तरह की चमत्कारी प्रतिभा इस युग में दुर्लभ है, इसलिए मैं उसे द्वापर की रियासत कहता हूँ।

आगे कलियुग का हाल सुनिए, जिसे तुलसीदास ने सब युगों में श्रेष्ठ कहा है। चौबेजी क्या मँजी हुई ब्रजभाषा लिखते हैं। पं० सत्यनारायण कविरत्न के प्रशंसक क्षमा करें, 'रत्नाकर' के बाद ऐसी सुन्दर ब्रजभाषा किसी ने नहीं लिखी।

गीत है—

मोहन नवल नेह रँग भीने।
नैनन जोरि दिव्य ब्रजगोरी
बरबस बस करि लीने।

इसे गाते सुन कर श्रोता रस-विभोर हो जाता है, लेकिन मैं इसे

कमाल नहीं कहता। कमाल यह सवैया है।

पहिरे पट-नील विराजि रहीं
जमुना तट पै वृषभानु लली।
लखि रूप अनूप अपूर्व लला
हुलसे अलि ज्यों लहि कंज कली।
यह नागरि कौन से देश बसै,
निरखी नहीं आजु-लौं ग्राम गली।
अति रूपवती रति-मूरति-सी
युवती मन भावती भोरी भली।

और इस तरह का एक सवैया नहीं, अनेक। ऐसी सरस ब्रजभाषा लिखना किसी भी युग में कमाल होता, लेकिन वर्तमान काल में उसे लिखना महान् चमत्कार ही है। चौबेजी से प्रार्थना है कि वह द्वापर की ओर चाहे ध्यान कम दें, इस कलियुग पर कृपा करें। अर्थात् रामायण-कृष्णायन-समन्वय चाहे कम करें, हम कलियुगी पाठकों के लिए दस पाँच सवैए और लिख डालें।

चौबेजी खड़ी बोली के भी सिद्धहस्त कवि है, खास कर जब वह खयालबाज़ों की लोक-परम्परा का अनुसरण करते हैं। दरअसल खड़ी बोली का सबसे स्वाभाविक रूप जैसा यहाँ निखरा है, वैसा और कहीं नहीं निखरा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भी सब से सरस रचना या तो कवित्त-सवैया (ब्रज) में हैं या लावनी-खयालों (खड़ी बोली) में। चौबेजी कहते हैं—

है रमानिवास रमा जग में
औ जग त्यों रमा-निवास में है।
माया से पृथक् हुआ भी वह
बसता माया-आवास में है।
क्या मीत के व्यर्थ प्रयास में है
क्या समय शक्ति के ह्रास में है।

सीधा सिद्धान्त कि सभी ब्रह्म है
आता बस विश्वास में है।

दूसरी बहर में इस खयाल के अन्दर प्रेम-मार्गियों के रंग में क्या खयाल बाँधा है !

ज्योतिरूपी की अँधेरी
गुफा में खोज है यों,
सर्वव्यापी के मिलन के
लिए गृहत्याग है ज्यों।
ब्रह्म साकार है, सम्मुख
है, नयन मूंदना क्यों ?
जाने घट-घट की जो, उसकी
है व्यर्थ प्रार्थना त्यों।

और इसके बाद उसी पहले के छंद में—

सत्कर्म करो निर्भय होकर,
कुछ सार न फल की आस में है।
+ + +
यह एक तत्व बस ज्ञान, भक्ति
औ, कर्म-योग अभ्यास में है।
अब ध्यान ब्रह्म का आवश्यक
प्रत्येक श्वास उच्छ्वास में है।

कहना न होगा, इस प्रेम-मार्गी परम्परा द्वारा लोक-कवियों ने ज्ञान की बातें ही साधारण जनता तक नहीं पहुँचाई, वरन् आखें बन्द कर के निराकार की प्रार्थना करने के बदले आँखें खोल कर साकार मानवता को पहचानना भी सिखाया है। इस महत्वपूर्ण परम्परा को निबाहने की पूर्ण प्रतिभा चौबेजी में है, लेकिन उन्होंने उसका अभी पूर्ण प्रयोग नहीं किया। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लावनीबाजों की संगत न की होती तो वह कभी आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता न बन

पाते। इस परम्परा का महत्व इस एक बात से ही प्रकट हो जाता है।

चौबेजी ने अपनी रचनाएँ छोटी-छोटी नोट-बुकों में एकत्र कर रखी हैं। इनमें हास्यरस की नोटबुक के मटमैले पन्ने दूर से यह घोषणा करते हैं कि श्रोताओं में इस की माँग सबसे ज्यादा होती है। लोग पचीसों बार सुन चुके हैं, लेकिन फिर माँग करेंगे—"लाला लीला होगी।" देखिए लाला जी के करतब—

लाला पढ़े 'ला-ला', 'अर्थ' से ही रखते हैं अर्थ,
जाने बिना 'अर्थ', व्यर्थ जग की जलपना।
रहते करोड़ जोड़ने के जोड़-तोड़ में ही
लाते कल्पना में भी न दीनों का कलपना।
चाँदी इन की है यहाँ आठ याम साठ घड़ी,
सोने में भी देखते हैं सोने का ही सपना।
पञ्चदश अक्षर का सीखे महामन्त्र एक,
'राम-राम जपना पराया माल अपना।'

ऐसे छन्द साहित्य-गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में कितने लोकप्रिय होते होंगे, आप इस की कल्पना कर सकते है। हास्यरस के सफल कवि पं० हृषीकेश चतुर्वेदी कहीं गवैया-कवियों का खाका खींचते हैं, कहीं बरातियों की डकैती पर व्यंग्य करते हैं, कहीं पत्रकारों और प्रेस के भूतों की लीला सुनाते हैं, तो कहीं भूत झाड़ने वाले स्यानों के गण्डों और मंत्रों की चर्चा करते हुए कहते हैं—

नेतागण 'स्यान' वक्तृताएं 'झाड़' हार गए,
'मंत्र' भी स्वतंत्रता का हो गया असार है।
जयहिन्द, बन्दे आदि 'गंण्डे' असफल हुए,
थोथा हुआ पास का तिरंगा हथियार है।
आप हैं अचेत सभी लोग अति चिन्तित हैं,
'जननी' दुखी है, दुखी 'दीन' परिवार है।

शोषरण का 'भूत' न उतारे से उतरता है,
'डंकिनी' विलासिता की सिर पै सवार है।

मानना होगा कि चौबेजी का हास्य शिष्ट और सोद्देश्य होता है। उन्होंने साधारणीकरण द्वारा पत्नी को हास्य रस का आलम्बन नहीं बनाया। उनकी हास्य-रस की रचनाओं में भरती के शब्दों का अभाव होता है और भाव-पक्ष में जिसे सुनाने पर आ जाते हैं, उसे बेभाव की सुनाते हैं। आचार्य द्विवेदी ने उनकी 'विजया-वाटिका' की जो प्रशंसा की थी, वह उनकी अन्य रस की कृतियों पर और भी चरितार्थ होती है।

सारांश यह है कि चौबेजी का व्यक्तित्व जैसा दर्शनीय है, वैसी ही श्रवरण-सुखद उनकी कविता है। वैसे तो 'संयुक्त वर्ण विज्ञान' आदि गद्य पुस्तकें भी उन्होंने लिखी हैं, किन्तु उनका प्रिय माध्यम पद्य ही है। उन्होंने पद्य-जगत् में यथेष्ट चमत्कार प्रदर्शन भी किया है, किन्तु सबसे बड़ा चमत्कार सरसता है जो उनके ब्रजभाषा के छन्दों में और लावनी-खयालों में विद्यमान है। हिन्दी में उनकी हास्य-रस की रचनाओं का विशिष्ट स्थान है। इस तरह उनका एक चरण द्वापर में है तो दूसरा कलियुग में। ऐसा व्यक्तित्व आगरे की महिमा है। इधर आएँ तो उनके दर्शन जरूर करें, लेकिन इस लेख का हवाला देना न भूलें।

१९५६

साहित्यिक सट्टेबाज़ी

कलकत्ता कामनवेल्थ का एक बहुत बड़ा शहर है। यहाँ एक तरफ बड़े-बड़े सट्टेबाज, देशी-विदेशी मुनाफेखोर और तरह-तरह के छोटे-बड़े लुटेरे इकट्ठे होते हैं तो दूसरी तरफ गाँवों के तबाह किसान, बंगाल ही नहीं, अवध, भोजपुरी इलाके आदि के निर्धन जन भी मेहनत-मजूरी से पेट भरने की चिन्ता से लाखों की तादाद में सिमटते हैं। इन दो मुख्य समूहों के बीच में कलकत्ते के पढ़े लिखे मध्यवर्ग के लोग हैं, जिनमें से बहुतों ने हिन्दी और बँगला साहित्य की प्रगति में शानदार हिस्सा लिया है। साथ ही इनमें ऐसे भी बहुत हैं जिनके लिये भाषा या साहित्य का काम पैसा बटोरने का साधन मात्र है। कलकत्ते में ऐसे हिन्दी-प्रेमी मिलेंगे जो संस्थाएं चला कर, ट्यूशन करके हजार दो हजार मासिक कमा लेते हैं, हिन्दी साहित्य के मुकाबले में वे सेठों के जीवन-चरित से ज्यादा परिचित हैं और पुराने नवाबों की बटेरों की तरह सेठों के इन मुसाहबों के भी दंगल होते हैं। हिन्दी के लेखकों में जहाँ बहुत से मेहनत करके साहित्य-सेवा कर रहे हैं, वहां ऐसे भी हैं जो एकदम भोंड़ा और अश्लील साहित्य लिख कर टके सीधे करते हैं। वातावरण में तरह-तरह के अवसरवाद का पैदा होना बहुत स्वाभाविक है। एक तरह का अवसरवाद वह भी है जो गरम लफ्फाज़ी से अपने असली पूँजीपरस्त रूप को ढँक लेता है।

कुछ साल पहले, जब 'हंस' जिन्दा था, मैंने इस तरह के इनकलाब-वाद की तरफ प्रगतिशील लेखकों का ध्यान खींचने की कोशिश की थी। इसकी ताज़ा मिसाल श्री चंद्रभाल ओझा की पुस्तक "हमारा एशिया" है। ओझा जी बहुत गर्म कविताएं लिखते हैं और उन्हें सुन कर मैंने पहले यह समझा था कि सरशाम की सी बकवास नौसिखि-

येपन की वजह से है। लेकिन ओझा जी से थोड़ा संपर्क और होने पर मुझे पता लग गया कि वह बहुत सिखे-पढ़े आदमी हैं और उनकी हर चाल सोची समझी हुई होती है। वह गरम कविताओं के सुनने सुनाने का आयोजन कर सकते हैं और यह प्रस्ताव भी कर सकते हैं कि किसी सेठ झुनझुनवाला को बुला पुरस्कार वितरण कराया जाय। मतलब यह कि भूदान पर कविता लिख कर पैसा कमाया जा सकता है, तो वामपंथी लफ्फाजी से भी यह काम नामुमकिन नहीं है। ओझा जी यह सब बहुत ही ठंडे दिमाग से एक चतुर व्यापारी की तरह करते हैं।

ओझा जी क्रान्ति के हामी हैं। वह खुदा को भी जनाबे मार्क्स की थ्योरी पढ़ा देने का दम भरते हैं। उन्हें हर तरफ लाल क्रान्ति दिखाई देती है—"लाल है आकाश सारा, भूमि सारी लाल है।" वह विश्व-शान्ति के लिये प्रत्यणुकरण में सामष्टिक उत्कर्ष भरना चाहते हैं। वास्तविक परिवर्तन के लिये वह "इन्कलाब में खूनों की नदियाँ" वहाने के लिये तैयार हैं। और १९५७ में "रेड इण्डिया" की कल्पना के जोश से वह आफताब को चैलेंज देते हैं। केवल हिन्दुस्तान नहीं, वह सारी दुनियाँ को लाल क्रान्ति की आग से फूंक देने को आतुर हैं।

"दुनियाँवालो ! पैगाम आखिरी लाये हैं।
जर्जर जग को हम आज फूंकने आये हैं॥"

अमरीकी साम्राज्यवादी कम्युनिस्टों पर यह आरोप लगाते हैं कि वे संसार का नाश करना चाहते हैं। ओझा जी की क्रान्ति भी सत्यानाश का दूसरा नाम है। युद्ध-प्रचारकों का कहना है—तीसरा युद्ध हो कर रहेगा। ओझा जी का भी विचार है, "शान्ति की आशा दुराशा-मात्र होती जा रही है।" और भी—"प्रलय की सर्वनाशी रागिनी अब रुक नहीं सकती।" ओझा जी ने शान्ति की रक्षा के लिये बार-बार विश्व-क्रान्ति का आह्वान किया है, ये इन्कलाबी सदाएं उनके पराजयवाद को ढँकने के लिये हैं। इसलिये शान्ति-रक्षा के लिये जो अमली कदम उठाये जा रहे हैं, उनसे ओझा जी को कोई सरोकार नहीं है। यू० एन०

ओ० को मजबूत करने की मांग के बदले वह यह कह कर छुट्टी पा लेते हैं ; "दुनिया के पागलों का है संयुक्त राष्ट्रसंघ ।" यू० एन० ओ० के मन्त्री का चीन जाना आपको पसंद नहीं—"खबरदार इससे रहना देखना ऐ चाइनावालो ।"

ओझा जी मसीहुल-खल्क का हौसला लेकर उठे है । वह ऐलान करते हैं—"जमीं के दुश्मनों को जान से हम मार डालेंगे ।" वह मार्क्स के बाद "द्वन्द्वात्मक भौतिक गुणात्मक परिवर्तन" के ज्ञाता हैं । वह दर्शनशास्त्र की गंभीर ग्रंथियाँ खोलते हुए कहते हैं—

"अस्थिरत्व के आवर्तन में चकित है परिवर्तन ।"

वह शवों की माला चाहते हैं, हाला की हाजत नहीं, क्योंकि हलाहल से काम चल जाता है। एक इन्कलाबी साथिन की जरूरत अभी पूरी होने को है लेकिन वह अभी पैदा नहीं हुई । इसलिये दुआ करते हैं—

"अब तो ऐसी प्रबलाएँ पैदा हों जिनके
आंचल में ऐटमबम हो, आँखों में ज्वाला ।"

ओझा जी की अजात प्रेयसी के आंचल में यदि ऐटम बम हैं तो स्वयं उनकी जबान हाइड्रोजन बम से कम शक्तिशाली नहीं है । कहीं-कहीं उनकी पंक्तियों में वैदिक ऋचाओं का आनन्द है :

"पहले जो प्रथम पृष्ठ थे परिशिष्ठ हो गए ।
परिशिष्ठ थे जो आजप्रथम पृष्ठ हो गए ।"

आश्चर्य की क्या बात है फिर इसमें चन्द्रभाल जितने थे कर्मनिष्ट कम्युनिस्ट हो गए ।"

आश्चर्य की बात है तो इतनी ही कि कम्युनिज्म की दुहाई देते हुए भी चन्द्रभाल जी नारा लगाते हैं पैन इस्लामिज़्म का । इस्लाम खतरे में है, इस्लाम के झंडे के नीचे एक हो—ये नारे किसके हैं, आपको मालूम होगा । चन्द्रभाल जी कहते हैं—

"चमक उट्ठेंगी फिर से गाजियों की तेगे इस्लामी ।"

और भी—

"अभी उतरा नहीं इस्लाम की तलवार का पानी।"

जाहिर है, इन नारों से शान्ति की रक्षा नहीं हो सकती।

ओझा जी का वाम मार्ग जहाँ क्रान्तिकारी शब्दजाल से राजनीतिक पराजयवाद को ढँकता है, वहाँ वह कलात्मक सौन्दर्य, शब्द-चयन, भावोत्कर्ष आदि का दिवालियापन भी साबित करता है। उनकी रचनाओं को हम कविता की पैरोडी कह सकते हैं, कविता नहीं। छायावादी कवियों के लिये उन्होंने उन्मादी और धूर्त शब्दों का प्रयोग किया है। लेकिन उनकी रचनाओं को कहीं से भी पढ़िये, पता लगते देर न होगी कि इन शब्दों का असली हकदार कौन है।

ओझा जी एक नौजवान कवि हैं। कलकत्ते में बहुत सी अच्छी बातें भी सीखी जा सकती हैं। इस शहर ने बालमुकुन्द गुप्त और निराला दिए हैं। मसीहुल खल्क बनने के बदले अगर गम्भीरता से साहित्य और सामाजिक स्थिति का अध्ययन करें तो ओझा जी भी अच्छे कवि बन सकते हैं। लेकिन अभी तो उनका इन्कलाबवाद कलकत्ते की साहित्यिक सट्टेबाजी का ही एक नमूना है।

१९५५

बलभद्र दीक्षित

श्री बलभद्र दीक्षित की उम्र इस समय ४२ साल की है। उनकी उम्र का ज़िक्र करना इसलिए ज़रूरी है कि वह नव-युग के १८ से २८ साल की लगभग उम्रवाले लेखकों में अपना विशेष स्थान रखते हैं। जिस युग के प्रतिनिधि पंत, निराला आदि हैं, उसमें उनकी प्रसिद्धि नहीं हुई, न उस युग की कृतियों से उनकी रचनाओं में विशेष सहानुभूति ही पाई जाती है। उन्होंने लिखना काफ़ी देर में शुरू किया है, सन् ३४ के लगभग फिर भी वह निरालाजी से केवल १-२ वर्ष छोटे हैं। मानो उचित वातावरण के अभाव में उनकी प्रवृत्तियों का विकास १०-१५ साल पहले असम्भव रहा हो। श्रीबलभद्र दीक्षित पुराने बीत रहे युग से भिन्न और किन्हीं बातों में नये युग के अधिकांश लेखकों से आगे बढ़े हुए हैं।

दीक्षितजी ठमके-से साधारण क़द के आदमी हैं। खद्दर का कुर्ता-धोती, कभी-कभी उस पर सदरी, सिर पर गांधी टोपी निराले फैशन में रक्खी हुई; देह मांसलता से हीन, गालों की हड्डियाँ चेहरे में अपना अलग महत्त्व रखती हुईं, मोटी भौंहें, आँखों के नीचे भी हल्के रोयें और बड़ी नुकीली झब्बरझैया मूछें—बड़े आदमी के बड़प्पन की पास में कोई बात न होने से लोगों का आत्मविश्वास उन्हें देखकर सहज जाग्रत हो जाता है। इसीलिए मैंने देखा है, जो लोग औरों के सामने कोई बात कहते झेंपते हैं, वे दीक्षितजी के आगे व्याख्यान देने में नहीं हिचकते। लोगों के साथ व्यवहार करने में दीक्षितजी की वही नीति है, जिसे वह बच्चों के साथ काम में लाते हैं। बच्चे की आत्मगौरव की भावना जगाये बिना वह अपने से बड़े पर विश्वास नहीं करता, और इसलिए वह खुल-कर हृदय की बात भी नहीं कर पाता। दीक्षितजी को देखकर बच्चों

और बूढ़ों का आत्मगौरव समान रूप से जाग्रत होता है।

घनी भौंहों के नीचे छोटी-छोटी आँखें एक अजीब धुँधलेपन में खोई-सी रहती हैं। किसी अनोखी-सी बात को सुनकर वे चमक उठती हैं, विस्मय से खुली रह जाती हैं, लेकिन वह धुँधलापन भेदकर नीचे के भाव को जानना फिर भी संभव नहीं होता। दीक्षितजी मित्रों-परिचितों में गऊ की तरह सीधे प्रसिद्ध हैं। उनकी धुँधली आँखों मे देखने को बिरलें ही चेष्टा करते हैं; अपने भावों को छिपाने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। वह लोगों को जान या अनजान में बच्चा ही समझते हैं और लोगों का व्यवहार भी ऐसा होता है कि दीक्षितजी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। धुँधलेंपन के पर्दे के नीचे जीवन का एक तुमुल संघर्ष, संघर्ष के ऊपर एक भावुक कवि की कल्पना की चादर और अलग, कोरों में एक मनोवैज्ञानिक की झलकती हुई चतुरता और चुहल, इनका पता लगाना उनकी कृतियों को पढ़कर कुछ सम्भव होता है।

'चकल्लस' में कविता, बच्चों पर माधुरी में प्रकाशित निबंधों में मनोविज्ञान और कहानी-संग्रह 'लामज़हब' में जीवन का कटु यथार्थवाद —कविता और मनोविज्ञान के साथ!

'चकल्लस' की भूमिका में, खड़ीबोली में न लिखने का कारण बतलाते हुए दीक्षितजी ने कहा था—"प्रारम्भ से अच्छी पढ़ाई-लिखाई न होने के कारण मैं खड़ीबोली को इतना सीख-समझ नहीं सका हूँ कि उसकी सेवा-योग्य उसमें कुछ लिख सकूँ। मेरे माता-पिता दीहाती हैं। मैं दीहाती सम्प्रदाय का आदमी हूँ। मेरे संस्कार ही कुछ ऐसे जान पड़ते हैं, जिससे मार्जित हिन्दी-भाषा लिखने-पढ़ने और बोलने में मुझे उतनी सुविधा नहीं होती, जितनी मुझे अपने बाप-दादों की बोली में होती है।" इसके साथ ही ध्येय उन्होंने यह रक्खा था कि अन्त में दीहाती और खड़ीबोली एक हो जायँगी। जिस प्रान्त में ८५ प्रतिशत किसान हों, वहाँ नागरिक भाषा उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती है? उल्टा सुबोध होने के लिए उसे अपना रूप बदलना होगा।

अपने विकास के लिए उसे गाँवों में जाना पड़ेगा, जहाँ जीवन का स्रोत है और प्रकृति के संसर्ग में जहाँ भाषा की जातीयता गढ़ी जाती है। किसी हद तक इस सिद्धान्त पर चलनेवाले हिन्दी में एक व्यक्ति थे—स्व० श्रीप्रेमचन्द ! लेकिन भाषा की समस्या सुलझाने के लिए हमने अपने गाँवों की भाषाओं में व्याप्त एक जातीयता और नैसर्गिक संस्कृति की ओर अभी तक उचित ध्यान नहीं दिया। दीक्षितजी ने राष्ट्रभाषा के लिए लिखा है, "अपने विशाल कक्ष में वह अपने किसानों की बोली को भी स्थान देकर दूध और पानी की भाँति घुल-मिल जावेगी। पचास अथवा सौ वर्ष आगे चलकर जो खड़ीबोली देश के कोने-कोने में गूँजेगी उसका आज की खड़ीबोली से कितना विभिन्न रूप होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।" दीक्षितजी के कथन की सचाई दिन-पर-दिन प्रमाणित होती जा रही है। लोग अनुभव कर रहे हैं कि हिन्दी-उर्दू का झगड़ा मिटाने के लिए हमें अपनी भाषा को देहाती उपभाषाओं की सहज विकसित जातीयता के अनुरूप गढ़ना होगा।

दीक्षितजी ने भूमिका में लिखा था कि पुस्तक पढ़ने के लिए पंडितों की भाषा जानने की आवश्यकता नहीं। वह हृदय की भाषा में लिखी गई है, हृदय की वह भाषा जो पशु-पक्षियों तक के मन का हाल जानी लेती है। बात अनोखी-सी लगती है, लेकिन मैंने उसकी सत्यता का अनुभव किया है। अवधी से अपरिचितों को ही नहीं, अहिन्दी-भाषी कुछ बंगाली लड़कों को भी मैंने अटक-अटक कर उसे प्रेम से पढ़ते देखा है। कारण यह कि उसकी भाषा में कुछ ऐसा स्वाभाविक चमत्कार है, जो लोगों को अपनी ओर खींचता है। यह चमत्कार इसलिए है कि यह भाषा एक पूरे वातावरण की उपज है—अवध की धूल, पेड़-पत्ते, फूल तालाब, नर-नारी, बाल, वृद्ध-पशु-पक्षी, सभी ने जैसे इसके निर्माण में योग दिया है। इसी लिए वह पुष्ट है। नगर के रहनेवाले धार्मिक साँस्कृतिक मत मतान्तरों के गुलाम अपनी भाषा एक अस्वाभाविक मानसिक वातावरण में गढ़ते हैं ; उसमें न 'घाम' लगता है, न 'बयार'—इसी लिए वह बढ़ नहीं पाती, धुएँ में जैसे दम घुटने से मुरझाकर रह

जाती है।

खड़ीबोली के अलंकृत सौंदर्य के सामने 'चकल्लस' के कविता-पद अपनी चौंधिया देनेवाली तीव्र सत्यता के साथ आते हैं—

"तीखि धार ते कटयि कगारा,
धरती धँसयि पताल।
लखि-लखि बिधिना की हम लीला
रोयी हाल-ब्यहाल।
मड़य्या के रखवार हमार राम !
फूलि-फरी खरबूजा बारी,
सयिति लिहिसि सइलाबु ;
का मुँहुँ लयि-कयि घर का जाबयि
किहिते का बतलाबु ;
मड़य्या के रखवार हमार राम !!"

कसमंडा रियासत से नौकरी छोड़ने पर दीक्षितजी ने खरबूजे बोये थे और उनके बहिया में डूब जाने पर यह कविता लिखी थी। जैसे धरती से फल-फूल निकलते हैं, उसी तरह दीक्षितजी की कविताएं जीवन के उर्वर अनुभव-क्षेत्र से निकली हैं। सभी में हम अवध के किसान का कंठ-स्वर सुनते हैं—कभी नगर-निवासियों की दास-मनोवृत्तियों पर हँसता हुआ, कभी गाँव के युवक-युवतियों के सरल जीवन के गीत गाता हुआ और कभी-कभी दैविक, भौतिक विपत्तियों की व्यथा से आहत और पीड़ित। लेकिन प्रधान स्वर हँसी का है, एक वीर की हँसी का जिसने दुःख और विपत्ति पर मुस्कराना सीखा है—तीव्र-से-तीव्र व्यंग्य ऐसे अनजाने चुपचाप सामने आ जाता है कि बहुधा हम उसकी पूरी व्यंजना पर ध्यान नहीं देते।

"काकनि जब रामु घरयि जायउ
अतनी फिरियादि जरूर किह्यउ—
'जो जलमु दिह्यउ हमका स्वामी
अँगरेजयि के बच्चा कीन्ह्येउ !'

अँगरेज न ह्वयि पायउ काका,
तउ जिमींदार के घर आयउ ;
वहिमा कुछु मीन-मेखु बूँकयि,
तउ तुम पटवारी ह्वयि जायउ ।
पटवारीगीरी जो न देयि,
तउ चउकीदारी छीनि लिह्यउ ;
बसि जलमु-जलमु आनन्द किह्यउ,
सुख ते सोयउ, हँसि कयि ज़ाग्यउ !"

कैसी आकाँक्षा है ! पैदा हों तो अँगरेज, नहीं तो ज़मींदार, फिर पटवारी, वरना चौकीदार ! इन सबके नीचे है, किसान ! वायु और प्रकाश में पलनेवाला भारतवर्ष का स्वतंत्र मनुष्य !

समाज की नसों में बिधी हुई दासता के प्रति दीक्षितजी ने 'माधुरी' में प्रकाशित अपने कुछ निबंधों में आवाज़ उठाई थी। इनका सम्बन्ध बच्चों से था । बच्चों के पालन और शिक्षण के बारे में उन्होंने नये सिद्धान्त रक्खे थे, जो कम-से-कम हिन्दी में नितांत क्रान्तिकारी थे। निबन्धों का सम्बन्ध माता-पिताओं से है, जो बच्चों में प्रारम्भ से कुशिक्षा और कुसंस्कार भर देते हैं। मनोवैज्ञानिक भूमि पर दीक्षितजी ने बच्चों को दंड देने का विरोध किया है। बल्कि यदि बच्चा चोरी करे तो उसकी आदत छुड़ाने के लिए पहले उसमें योग देना भी उचित है। दीक्षितजी का मूल सिद्धान्त है, बच्चा कुसंस्कार पाता है या तो माता-पिता से या अपने वातावरण से। इसलिए उसके सुधार के लिए वातावरण को बदलना जरूरी है; उसे दंड देना अपना और उसका दोनों का नुक़सान करना है। सभी निबन्धों में उन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रयोगों से उदाहरण दिये हैं, जिससे उनमें, पुस्तकों में पढ़ी हुई नहीं, अनुभव की, सत्यता सहज ही पाठक में विश्वास पैदा कर देती है। दीक्षितजी को बच्चों के सम्बन्ध में प्रयोग करने के लिए सुविधाएँ भी काफी रही हैं। आधे दर्जन तो उन्हीं के हैं। गाँव में रहते हैं तो डेढ दर्जन घर के और हो जाते हैं। इसके सिवा बच्चों से मैत्री करने

के कारण उनके प्रयोगों का क्षेत्र और भी यथेच्छ विस्तृत हो जाता है। और सचमुच वे अपने प्रयोगों में सफल हुए हैं। उनका बड़ा लड़का बुद्धिभद्र, जिसकी पहली पुस्तक दीक्षितजी की पहली गद्य-पुस्तक 'ला-मज़हब' के साथ ही छपी है, उनके सिद्धान्तों की सक्षमता का उचित प्रमाण है। दीक्षितजी को अपने बच्चे पर और कुछ अपने सिद्धान्तों पर उचित ही गर्व है।

निबंध और कविताओं के बाद उनकी कहानियाँ हैं, जो उनकी अब तक की रचनाओं में हिन्दी को श्रेष्ठ देन हैं। कविताओं में जो भावुकता थी, वह दब गई है; व्यंग्य और तीव्र हो उठा है और चित्रण में रोंगटे खड़े करनेवाली, थोड़े-से शब्दों में व्यक्त, इस युग की वीभत्स यथार्थता है। दीक्षितजी पहले आदमी हैं, जिन्होंने समाज की परिस्थितियों से पीड़ित विक्षिप्त, अर्द्धविक्षिप्त प्राणियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। ऐसी कहानियों में उनकी 'चमेलीजान', जो 'चकल्लस' साप्ताहिक में छपी थी, बड़ी ही प्रभावपूर्ण है। स्त्रैण पुरुष, जिसे सचमुच पुरुष बनाने के लिए उसके पिता उसका विवाह कर देते हैं, और जो इस आफ़त से भागकर शहर में किंपुरुष-सम्प्रदाय में मिल जाता है, बाद में किसी दूसरे से अपनी विवाहिता स्त्री की शादी कराने के लिए कन्या-दान करने को प्रस्तुत होता है। इसी तरह "चिन्तादास की गोली" में चिन्तादास को एक स्त्री की चाह रही और अतृप्त रहने पर अंत में वह एक कल्पित नारी के विचार में पागल हो गये।

उनकी कहानियाँ सभी अलग-अलग, अपने ढँग की निराली हैं। उनका पूरा परिचय देने के लिए हर एक पर अलग लिखना होगा; फिर भी उनकी अप्रकाशित कहानी 'झक्कड़' से कुछ उद्धरण देने पर उनकी सूझ-बूझ और प्रौढ़ भाषा-शैली का अंदाजा लग जायगा। 'झक्कड़' एक पढ़ा-लिखा आदमी है, जो पागल हो गया है। पहले 'झक्कड़' के निवास-स्थान का वर्णन देखिए—"नाले के बहुत गन्दे मुक़ाम पर अशोक के नीचे झक्कड़ का आसन लगा हुआ था—एक कटा-फटा टाट का टकडा, कंकड़ के चट्टे पर बिछा हुआ। मिट्टी के कूजे और टीन के

डिब्बे में शिवमंदिर के उतारे हुए मुरझे फूल, रंगीन कनकौए का मसला हुआ कागज, कनेर की टूटी टहनियों के साथ खोंसे थे। ये सामने की कल्पित चौकी के फूलदान 'झक्कड़' ने सजाये थे।" 'झक्कड़' के मन में आया कि आज आज़ाद-मैदान में व्याख्यान देना है तो वह अपना सिंगार करने चला। "पब्लिक लैवेटरी की आड़ में उनका प्राइवेट रूम था। हवा में, कुछ किसी भाषा में लिखकर, जिस तरह टीचर 'ब्लैक-बोर्ड पर लिखता है—वह एक अदा और झोंके में अपने फर्ज किये हुए कमरे को चले गए—गुम्मा-ईंट के रोड़ों पर एक फटा चीड़ का तख्ता कूड़ेखाने से चुनी हुई टूटी बोतल, उसी तरह का शीशा-कंघा और ट्वा-इलेट का सामान। 'झक्कड़' ने उचक-उचककर शेव किया, पतलून की टाँग और कोट की आस्तीन पहनी, फिर हैट के एक टुकड़े को बगल में दबाकर पहली जगह, टाट के टुकड़े की ओर लोगों को अपने स्वागत के लिए धन्यवाद देने की मुद्रा में मद-भरी चाल में चले।" अपनी सहृदयता के कारण दीक्षितजी छोटी-छोटी बातों पर दृष्टि गड़ा सकते हैं, जो विकृत मस्तिष्क की क्रियाओं को भी समझाने में सहायक होती हैं। घटनाओं के नीचे हास्य का बहता हुआ निर्मल सोता है। लेकिन इसी मानवीय गुण के कारण हास उपहास में नहीं बदलने पाता।

ऐसे ही 'ढाई अच्छर' कहानी में उन्होंने कँगलों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। 'ला-मज़हब' की 'पाँखी' कहानी में नटों के जीवन का सुन्दर चित्रण है। लेकिन आवारों के चित्रण के साथ-साथ दीक्षितजी का ध्यान देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की ओर विशेष गया है, जिनका मार्मिक चित्रण उनकी कहानियों में मिलता है। 'ला-मज़हब' में दो स्त्रियों का वर्णन है, जिनका कोई धर्म नहीं है। वहाँ विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की इन स्त्रियों के प्रति विचित्र प्रति-क्रियाएँ देखते ही बनती हैं। 'क ख ग ध' में उन्होंने ग़रीब किसानों के बीच अनिवार्य शिक्षा की समस्या पर प्रकाश डाला है। 'साथी' कहानी में उन्होंने गाँवों के असहयोग-आन्दोलन का चित्र खींचा है। आज की सामाजिक परिस्थितियों में कितने पतित व्यक्ति उपजते हैं, शारीरिक

और मानसिक विकास से हीन, इसका विस्तृत चित्रण उनकी 'क्या से क्या' नाम की अप्रकाशित कहानी में मिलता है।

'क्या से क्या' शायद दीक्षितजी की सबसे सुन्दर कृति है। और यह आश्चर्य की बात है कि वह उनकी प्राथमिक कहानियों में से है, कई वर्ष पहले की लिखी हुई। वह लापरवाही से घर के किसी कोने में डाल दी गई थी ; क्योंकि सम्पादक लोगों के लिए वह बहुत कड़वा घूँट थी। मैंने जब उसे पहले पहल देखा था, तब उसके अंत के पन्ने में मिटी लगी थी और शायद कुछ पन्ने गलकर निकल चुके थे। तभी से वह असमाप्त पड़ी हुई है। सन् ३४ के बाद से स्वयं दीक्षितजी की दशा उस कहानी से ज्यादा अच्छी नहीं रही, इसलिए असावधानी के लिए उन्हें दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता।

'क्या से क्या' में प्यारेलाल इस ज़माने के एक ज़मींदार हैं, जो ससुराल में जाते हैं तो अपनी नौजवान बीबी के प्रेमी से मार खाकर वापस आते हैं। जब घर में कदम रखते हैं तो अपने ड्राइंगरूम का दृश्य देखते हैं। "ससुराल जाने के पहले यहाँ एक दावत दी गई थी। तमाशबीन दो बजे रात तक यहीं डटे रहे थे। नाच हुआ था। भाँड भी आये थे। एक नौची की नथ प्यारेलाल ने उतारी थी। कमरा बिना साफ़ किये ही बन्द कर दिया गया था। बग़ल के खाने के कमरे और इसमें भभक और दुर्गन्ध भरी पड़ी थी। प्यारेलाल ने दरवाज़ा खोला। बड़ी बदबू आ रही थी। फिर भी अपना किया देखने के लिए अन्दर घुस पड़े। जहाँ रंडियाँ नाची थीं, चारों ओर के फ़र्श के क़ालीन पर गाव तकिये और किसी-किसी गिरदे पर शराब पी पीकर की हुई पित्त से भरी पीली-पीली कै पड़ी हुई थी। एक सफेद चाँदनी पर टोमैटो की चटनी का भरा हुआ शीशे का जार टूट गया था। उसका भी माल-मसाला, पील-पीला, क़ै के रङ्ग में रङ्ग मिला रहा था। नशे की तीसरी अवस के पहले खोली हुई शराब की बोतलें कुछ खाली, कुछ पूरी, तीन-च सोडा-वाटर की बोतलों के ऊपर लुढ़की पड़ी थीं। बीच कमरे की ग संगमरमर की मेज़ों पर एक नंगी वेनिस की औरत की स्टैच्यू थी। किसा

तमाशबीन ने अपनी दोपल्ली ज़रदोज़ी की टोपी उसे पहना दी थी। अब भी आधा मुँह ढँके खड़ी थी। बड़ा पीकदान जाज़िम के ऊपर औंध गया था, जैसे बकरा काट दिया गया हो। दो जनानी सलवारें तबदील की हुई पड़ी थीं। एक इज़ारबन्द में दो मसकाई हुई चोलियाँ बाँधकर प्रमाद की हालत में लैंप स्टेंड के ऊपर किसी ने कुछ तमाशा बनाया था।'' गोर्की के "डेकेडेन्स" में ही अमीरों के पतन के ऐसे चित्र मिलते हैं।

भुलाये से भी न भूले जाने वाले उनके दरिद्रता के वर्णन हैं, भावुकता से दूर और अनुभव की सयमित कटुता लिये हुए। 'क ख ग घ' में टिकनी है, जिसका लड़का चंटुआ उसे छोड़कर अनिवार्य शिक्षा के लिए स्कूल जाता है। "आर्थिक दरिद्रता टिकनी का जन्म-सिद्ध अधिकार था। चमार के मर जाने से मानसिक दरिद्रता ने भी उसमें अपना घर कर लिया। प्राकृतिक उपहास शायद अपनी जवानी में था। टिकनी की हुलिया से दरिद्रता अपने सर्वांग, संपूर्ण विकसित रूप पर नाज़ करने लगी थी। पूरे दिन का पेट, अन्दरूनी बुखार, अब उसे और दुबली न कर सकता था। गर्भ की दशा में सहज शिथिलता को भूख की मार अब और चेतना-शून्यता के कारण क्या बढ़ा पाती? गाल पिचके, होंठ काले, रूखे बाल, सूखी आंखों का वर्णन यदि कोई सहृदय करता, तो यही कह पाता कि वह एक मानव-शरीर की सम्पत्ति का उपहास कर रहा था। उसका लँहगा इतना फट चुका था कि उसमें और फटने की ताब न थी। आधी ओढ़नी की चंटुआ ने मदरसे जाने के पहले दिन लुंगी बना ली थी: आधी को जब वह सूखी, काली खुली छाती की ओर खींचती, तो तुंबाकार, नीली नसों से भरा हुआ, मटमैला-पीला पेट सभ्यता और हयादारों से कुछ प्रश्न करता-सा दिखने लगता।'' इसके साथ कुछ गाँवों के आँखों-देखे सजीव वर्णन और साथ साथ व्यंग्य चलता ही है। जैसे "साथी" कहानी में, जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन का वर्णन है, आत्मत्याग और आत्मोत्सर्ग की गाथा है, वहीं पश्चाद्भाग में एक छोटी-सी घटना देखिए, जैसे उस त्याग और उत्सर्ग

की आवश्यकता हमें भली भाँति समझाने के लिए वह रक्खी गई है। "उसी जगह (मेले में) सैलाब के मारे, जीविका विहीन कई किसान-कुटुम्ब, रोज़ी की तलाश में थके-माँदे, शहर आ रहे थे। एक भुक्खड़ चार साल की लड़की, बेबस, खोंचेवाले की ओर दौड़ी, लेकिन एक के डाँट देने से थोड़ी दूर ठिठककर राल घूँटने लगी। 'रुक जा मेरे बाप की पतोहू' कहकर एक और भोंड़ी गाली के साथ मलाई की बरफ़वाले ने उसकी ओर कंकड़ी फेंकी। नाली साफ़ करनेले मेहतर ने भी उस बच्ची को, लोगों का मुँह देख, गन्दा झाड़ू छुला दिया, जिसमें यजमानों का मनोविनोद हो।" इसी पतन और दरिद्रता के चित्रण ने उनकी कहानियों को महान् बनाया है।

अभी उनकी कहानियों का एक संग्रह 'ला-मज़हब' निकला है। एक और ख़ासे संग्रह के लिए उनकी कहानियाँ इधर-उधर छप चुकी हैं। कुछ अभी छपने को हैं। अपने अनुभव की सचाई और मनोविज्ञान की गहराई के कारण दीक्षितजी ने प्रेमचंदजी के बाद हिन्दी को सबसे क़ीमती देन दी है। कसमंडा रियासत में रहने और नौकरी छोड़ने के बाद शहर और दीहात में कटु संघर्ष के दिन बिताने के कारण उनके अनुभव का क्षेत्र सुविस्तृत है। वह कहानियाँ धीरे-धीरे लिखते हैं, क़लम चलाने का ढँग ही उनका सुस्त है। लेकिन इसीलिए उनकी बहुत कम कहानियाँ हैं, जो अपनी एक अलग व्यक्तिगत महत्ता लिये हुए नहीं हैं। उनकी शैली संयमित, कठोर, वाग्जाल से हीन, हृदय और मस्तिष्क को चंचल करनेवाली है। उन्होंने जितना लिखा है, उतने से भी हिन्दी का मस्तक ऊँचा हुआ है और उनकी ख्याति के लिए पर्याप्त है। आगे, वे कहानियाँ और उपन्यास, जिनके मित्रों में मंसूबे बँधा करते हैं, लेकिन जिन्हें जीवन की ऐहिक समस्याओं से उलझ कर वह लिख नहीं पाते, यदि कभी साकार होकर प्रकाश में आये तो निश्चय हिन्दी की प्रगति और द्रुत हो उठेगी और हमारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहेगा।

१९३९